वीर सेवा मन्दिरका त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४५ : कि० १ जनवरी-मार्च १९९२

इस अंक में—

क्रम	विषय	पृ०
१.	परम दिगम्बर गुरु	१
२.	कर्नाटक मे जैनधर्म—श्री राजमल जैन, दिल्ली	२
३.	अपभ्रंश भाषा के प्रमुख जैन साहित्यकार—श्री जिनमती जैन एम.ए., वैशाली	८
४.	जैनधर्म एवं संस्कृति के संरक्षण तथा विकास मे तत्कालीन राजघरानो का योगदान—श्री डा० कमलेश जैन, वाराणसी	१५
५.	साहु जीवराज पापडीवाल—श्री कुन्दनलाल जैन, दिल्ली	२०
६.	कवि बुलाकी दास : एक परिचय—श्री उषा जैन एम. ए., कसराबद	२३
७.	भट्टारक हर्षकीर्ति के पद—डा० गंगाराम गर्ग	२५
८.	पुष्पदन्तकृत—जसहरचरिउ में दार्शनिक समीक्षा—श्री जिनेन्द्र जैन, लाडनूं	२८
९.	आ० श्री विद्यासागर का रस-विषयक मन्तव्य—डा० रमेशचन्द जैन	३०
१०.	पूज्य बड़े वर्णीजी का एक प्रवचन	कवर पृ० २
११.	ग्राह्य ज्ञान-कण	,, ३

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

पूज्य बड़े वर्णीजी का एक प्रवचन

संसार भर की दशा बड़ी विचित्र है। कल का करोड़पति आज भीख मांगता फिरता है। संसारी जीव मोह के कारण अन्धा होकर निरन्तर ऐसे काम करता है जिससे उसका दुःख ही बढ़ता है। यह जीव अपने हाथों अपने कन्धे पर कुल्हाड़ी मार रहा है। यह जितने भी काम करता है प्रतिकूल ही करता है। संसार की जो दशा है, यदि चतुर्थकाल होता तो उसे देखकर हजारों आदमी दीक्षा ले लेते। पर यहाँ कुछ परवाह नहीं है। चिकना घड़ा है जिस पर पानी की बूंद ठहरती ही नहीं। भय्या! मोह को छोड़ो, रागादि भावों को छोड़ो, यही तुम्हारे शत्रु है, इनसे बचो। वस्तुतत्त्व की यथार्थता को समझो। श्रद्धा को दृढ़ राखो। धनंजय सेठ के लड़के को सांप ने काट लिया, बेसुध हो गया। लोगों ने कहा—वैद्य आदि को बुलाओ, उन्होंने कहा वैद्यों से क्या होगा? दवाओं से होगा? मंत्र-तंत्रों से क्या होगा? एक जिनेन्द्र का शरण ही ग्रहण करना चाहिए। मन्दिर में लड़के को ले जाकर सेठ स्तुति करता है :—

"विषापहारं मणिमौषधानि मन्त्रं समुद्दिश्य रसायनं च।
भ्राम्यन्त्यहो न त्वमिति स्मरन्ति पर्यायनामानि तवैव तानि॥"

इस श्लोक के पढ़ते ही लड़का अच्छा हो गया। लोग यह न समझने लगें कि—धनंजय ने किसी वस्तु की आकांक्षा से स्तोत्र बनाया था, इसलिए वह स्तोत्र के अन्त में कहते हैं :—

"इति स्तुतिं देव! विधाय दैन्याद्वरं न याचे त्वमुपेक्षकोऽसि।
छाया तरुं संश्रयतः स्वतः स्यात्कश्छायया याचितयात्मलाभः॥"

हे देव! आपका स्तवन कर बदले में मैं कुछ चाहता नहीं हूँ और चाहूँ भी तो आप दे क्या सकते है? क्योंकि आप उपेक्षक है—आपके मन में यह विकल्प ही नहीं कि यह मेरा भक्त है इसलिए इसे कुछ देना चाहिए। फिर भी यदि मेरा भाग्य होगा तो मेरी प्रार्थना और आपकी इच्छा के बिना ही मुझे प्राप्त हो जायगा। छायादार वृक्ष के नीचे पहुंचकर छाया स्वयं प्राप्त हो जाती है। आपके आश्रय में जो आयेगा उसका कल्याण अवश्य होगा। आपके आश्रय से अभिप्राय शुद्ध होता है अभिप्राय की शुद्धता से पापास्रव रुककर शुभास्रव होने लगते है। वह शुभास्रव ही कल्याण का कारण है।

देखो! छाया किसकी है? आप कहोगे वृक्ष की, पर वृक्ष तो अपने ठिकाने पर है। वृक्ष के निमित्त से सूर्य की किरणें रुक गयीं, अतः पृथिवी में वैसा परिणमन हो गया, इसी प्रकार कारणकूट मिलने पर आत्मा में रागादि भावरूप परिणमन हो जाता है। जिस प्रकार छायारूप होना आत्मा का निजस्वभाव नहीं है। यही श्रद्धान होना तो शुद्धात्मश्रद्धान है—सम्यग्दर्शन है।

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०
वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

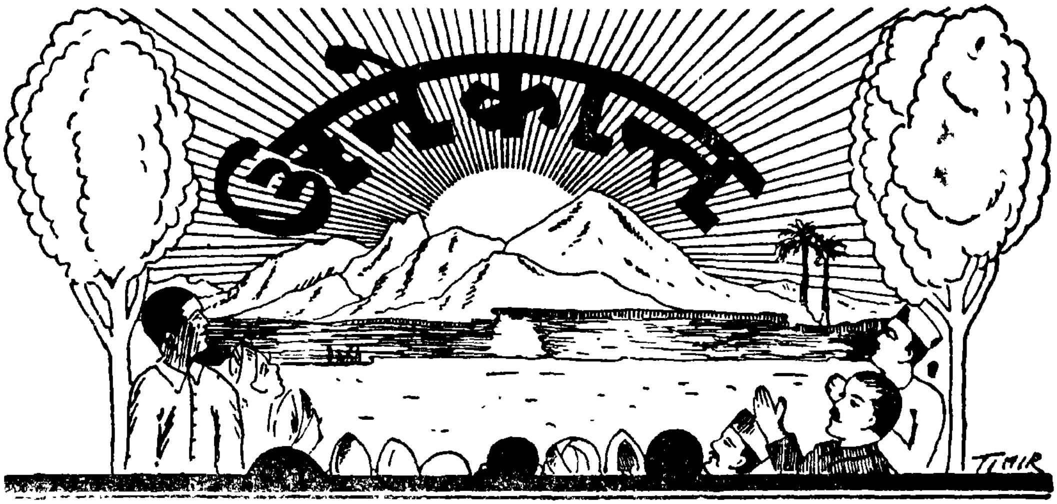

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ४५
किरण १

वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
वीर-निर्वाण सवत् २५१६, वि० सं० २०४६

जनवरी-मार्च
१६६२

परम दिगम्बर-गुरु

बसत उर गुरु निरग्रंथ हमारे।
प्रजलो ध्यान अगिनि जिनके घट विकट मदन वन जारे।
तजि चौबीस प्रकार परिग्रह पंच महाव्रत धारे।
पंच समिति गुपति तीन नयायुत त्रस थावर रखवारे।
शुद्धोपयोग योग परिपूरन अधरम चूरन हारे।
रत्नत्रय मण्डित तप संजम सहित दिगम्बर धारे।
भूख तृषादिक सहत परीषह तीन भवन उजियारे।
मन वच काय निरोध सोधि तिन भवभ्रम सब तजि डारे।
स्व पर दया सुख सिंधु गुनाकर सील धुरंधर धारे।
'देवियदास' गह्यौ तिनकौ पथ तिन्हि तिन्हि तें सब तारे॥

गतांक से आगे :

कर्नाटक में जैन धर्म

□ श्री राजमल जैन, जनकपुरी, दिल्ली

आजकल की हम्पा में लगभग २६ कि. मी. के घेरे में बिखरे पड़े जैन-अजैन स्मारकों, महलों और साथ ही बहने वाली तुंगभद्रा का परिचय इसी पुस्तक में दिया गया है। वहीं इस स्थान का रामायण काल से इतिहास प्रारंभ कर विजयनगर साम्राज्य का इतिहास और जैनधर्म के प्रति विजयनगर शासकों का दृष्टिकोण, उनके सेनापतियो आदि द्वारा विजयनगर मे ही कुन्थुनाथ चैत्यालय (आधुनिक नाम गणगित्ति बसदि) आदि मन्दिरो के निर्माण का उल्लेख किया गया है। इस वंश के द्वितीय नरेश बुक्काराय प्रथम (१३६५-७७ ई.) ने जैनों (भव्यों) और वैष्णवो (भक्तो) के बीच जिस ढंग से विवाद निपटाया उसका सूचक शिलालेख कर्नाटक के धार्मिक एवं राजनीतिक इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है। उसमे श्रवणबेलगोल की रक्षा और जीर्णोद्धार आदि की भी व्यवस्था की गई थी। आगे चलकर शासक देवराय की पत्नी ने श्रवणबेलगोल मे 'मंगायीवसदि' का निर्माण कराया था। संगम राजा देवराय द्वितीय (१४१९-४६ ई.) तो कारकल मे गोमटेश्वर की ४१ फुट ५ इंच ऊंची प्रतिमा के प्रतिष्ठा-महोत्सव मे सम्मिलित हुआ था। विजयनगर में इस वंश से पहले भी जैन मन्दिर थे, खुदाई मे दो मन्दिर और भी निकले बताए जाते हैं। स्वय इस कुल के राम मन्दिर मे तीर्थंकर प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं। यह ठीक है कि यह वंश जैन नही था किन्तु इसके परिवार के कुछ सदस्य जिनधर्मावलम्बी, उसके प्रति उदार, सहिष्णु और पोषक थे इसमे सन्देह नही। मन्त्री, सेनापति मे से कुछ जैन थे और उन्होंने जैन मन्दिरों का निर्माण या जीर्णोद्धार कराया था। राजा देवराज द्वितीय (१४१९-४६ ई.) के सम्बन्ध मे यह उल्लेख मिलता है कि उसने विजयनगर के 'पान-सुपारी' बाजार मे एक चैत्यालय बनवाकर उसमे पार्श्वनाथ की प्रतिमा विराजमान की थी।

उपर्युक्त वंश का सबसे प्रसिद्ध नरेश कृष्ण देवराय (१५०९-३९ ई.) हुआ है जो कि रणबीर होने के साथ ही साथ धर्मवीर भी था। उसने बल्लारी जिले के एक जिनालय को दान दिया था और मूडबिद्री की गुरु बसदि के लिए भी स्थायी वृत्ति भी दी थी। एक शिलालेख में उसने स्याद्वादमत और जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार करने के साथ ही वराह को भी नमस्कार किया है।

कालान्तर मे इस वंश का राज्य भी मुसलमानों के सम्मिलित आक्रमण का शिकार हुआ। राजधानी विजयनगर पांच माह तक लूटी और जलाई गई। अनेक मन्दिर मूर्तियां नष्ट हो गए। विजयनगर के विध्वंस के बाद भी इसके वंशज चन्द्रगिरि से १४६५ ई. से १६८४ ई. तक राज्य करते रहे। उनके समय मे भी हेग्गरे की वसदि, मूत्तूर की अनन्तजिन बसदि और मलेयूर की पार्श्वनाथ बसदि का निर्माण या जीर्णोद्धार इन राजाओं के उपशासको या महालेखाकार आदि ने करवाया था।

विजयनगर के (हम्पी) के जैन स्मारकों, जैनधर्म के इस क्षेत्र का प्राचीन इतिहास और विजयनगर शासकों, उनके सेनापतियों आदि का जैनधर्म से सम्बन्ध आदि विवरण के लिए इसी पुस्तक मे 'हम्पी' देखिए।

मैसूर का ओडेयर राजवंश :

कर्नाटक पर शासन करने वाले राजवंशो में अन्तिम एवं सुविदित नाम ओडेयर राजवंश का है। आधुनिक मैसूर (प्राचीन महिशूर, मैसूरपट्टन) इस वंश की राजधानी रही। इतिहासकारो का मत है कि यह वंश भी उस गगवंश की ही एक शाखा है जो जैनधर्म के अनुयायी के रूप मे कर्नाटक के इतिहास में प्रसिद्ध है। कालान्तर में इस वंश ने अन्य धर्म स्वीकार कर लिया किन्तु इसके शासको ने श्रवणबेलगोल को हमेशा आदर की दृष्टि से देखा और उसका संरक्षक बना रहा। स्वतन्त्रता-पूर्व तक

वे महामस्तकाभिषेक में सम्मिलित होते रहे।

ओडेयर वंश से सम्बन्धित सबसे प्राचीन शिलालेख १६३४ ई. का है। उसमे उल्लेख है कि जिन महाजनों ने श्रवणबेलगोल की जमीन-सम्पत्ति गिरवी रख ली थी, उसे तत्कालीन मैसूरनरेश चामराज ओडेयर ने स्वयं कर्ज चुका कर छुड़ाने की घोषणा की। इस पर महाजनो ने भूमि आदि कर्ज से स्वय मुक्त कर दी। इस पर नरेश ने शिलालेख लिखवाया कि जो कोई भी इस क्षेत्र की जमीन गिरवी आदि रखने का कार्य करेगा वह महापाप का भागी होगा और समाज से बहिष्कृत माना जायगा।

'मुनिवंशाभ्युदय' नामक एक कन्नड़ काव्य मे वर्णन है कि मैसूरनरेश चामराज श्रवणबेलगोल पधारे और उन्होने गोम्मटेश्वर के दर्शन किए। उन्होने चामुण्डराय से सम्बन्धित लेख पढवाए, वे सिद्धर बसदि गए और उन्होंने कर्नाटक के जैनाचार्यों की परम्परागत वंशावली सुनी और पूछा कि आधुनिक कहां हैं। जब उन्होने यह जाना कि चन्नरायपट्टन के सामन्त के अत्याचारो के कारण गोम्मटेश्वर की पूजा बन्द कर गुरु भल्लातकीपुर (आजकल के गेरुसोप्पे) चले गए है तो उन्होंने सम्मानपूर्वक गुरु (भट्टारक जी) को श्रवणबेलगोल बुलवाने का प्रबन्ध किया और दान देने का वचन दिया। उन्होंने किया भी वैसा ही और चन्नरायपट्टन के सामन्त को हराकर पदच्युत कर दिया।

शिलालेख है कि चिक्कदेवराज ओडेयर ने कल्याणी सरोवर का निर्माण या जीर्णोद्धार करवाया था तथा उसका परकोटा बनवाया था। उन्होने १६७४ ई. मे जैन साधुओं के आहार के लिए भट्टारक जी को मदने नामक गांव भी दान मे दिया था।

उपर्युक्त नरेश के उत्तराधिकारी कृष्णराज ओडेयर ने श्रवणबेलगोल के भट्टारक जी को अनेक सनदे दी थी जो उनके वंशजो द्वारा मान्य की गयी। उनमें ३३ मंदिरों के व्यय एवं जीर्णोद्धार के लिए तीन गांव दान में दिए जाने का उल्लेख है।

मैसूरनरेश कृष्णराज ओडेयर चतुर्थ भी श्रवणबेलगोल आए थे और उन्होने नवम्बर १९०० ई. मे अपने आगमन के उपलक्ष्य मे अपना नाम चन्द्रगिरि पर खुदवा दिया था जो अभी भी अंकित है।

मैसूर नरेशों की गोम्मटेश्वर-भक्ति का विशेष परिचय अनेक पुस्तकों में उपलब्ध है।

टीपू सुलतान :

हैदर अली और टीपू सुल्तान ने भी अपनी राजधानी श्रीरंगपट्टन से राज किया। उन्होंने श्रवणबेलगोल के मन्दिरों और गोम्मटेश्वर की मूर्ति को हानि नही पहुंचाई। टीपू सुल्तान ने तो गोम्मटेश्वर को नमन भी किया था।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद :

मैसूर के ओडेयर वंश की सत्ता समाप्त होकर प्रजातान्त्रिक कर्नाटक सरकार बनी। उसके मुख्यमन्त्रियों सर्वश्री निजलिंगप्पा, देवराज अर्स और श्री गुण्डुराव ने गोम्मटेश्वर के महामस्तकाभिषेक आदि मे जो सहर्ष सहयोग दिया वह स्मरणीय है। एक हजार वर्ष पूर्व होने पर तो भारत की प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाधी ने भी महामस्तकाभिषेक के अवसर पर गोमटेश के प्रति अपने श्रद्धा-सुमन अर्पित किए थे।

वर्तमान मे भारत सरकार का पुरातत्त्व विभाग और कर्नाटक सरकार का पुरातत्त्व विभाग, धारवाड़ विश्वविद्यालय कर्नाटक के जैन स्मारकों मे वैज्ञानिक ढग से सहर्ष सक्रिय सहयोग प्रदान कर रहे है। कुछ स्मारक, प्राचीन मूर्तियां, शिलालेख आदि तो इन्ही के कारण सुरक्षित रह गए हैं। ये सभी संस्थान जैन समाज की विपुलप्रशंसा के पात्र है।

कर्नाटक के छोटे राजवंश :

कर्नाटक में पृथक् राजा या सामन्त आदि के रूप मे और भी अनेक धर्मानुयायी वंश रहे हैं जो थे तो छोटे किन्तु धार्मिक प्रभाव के उनके कार्य बहुत बड़े थे (जैसे कारकल का राजवश, हुमचा का सान्तर राजकुल आदि)। इनका भी सक्षिप्त परिचय यहां दिया जा रहा है।

सेन्द्रक वंश :

नागरखण्ड या वनवासि के एक भाग पर शासन करने वाले इस वश का बहुत कम परिचय शिलालेखों से मिलता है। ये पहले कदम्ब शासको के और बाद मे चालुक्यों के सामन्त हो गए। जैन धर्मपालक इस वश के सामन्त भानुशक्ति राजा ने कदम्बराज हरिवर्मा से जिनमन्दिर की

पूजा के लिए दान दिलवाया था। इसी प्रकार इस वंश के द्वारा एक जैन मन्दिर के निर्माण और पुलिगेरे (लक्ष्मेश्वर) के शंख जिनालय के लिए भूमिदान का भी उल्लेख मिलता है।

सान्तर वंश :

जैनधर्म के परमपालक इस वश का मूलपुरुष उत्तर भारत से आया था। वह भगवान पार्श्वनाथ के उरगवंश में उत्पन्न हुआ था। उसकी कुलदेवी पद्मावती देवी थी जो कि पार्श्व प्रभु की यक्षिणी है। इस देवी की अतिशय मान्यता आज भी हुमचा मे एक लोक-विश्वास और पूजनीयता में अग्रणी है। इस वंश की राजधानी पोम्बुर्च्चपुर (शिलालेखो में नाम) थी जो घिसते-घिसते हुमचा (हुचा) हो गई है। वहां पद्मावती का मन्दिर दर्शनीय है। राजमहल के अवशेष भी हैं। यह स्थान उत्तर भारत के महावीरजी या राजस्थान के तिजारा जैसा लोकप्रिय है।

सान्तरवंश का प्रथम राजा जिनदत्तराय था। उसी ने कनकपुर या पोम्बुर्च्चपुर (हुमचा) मे इस वश की नीव पद्मावती देवी की कृपा से डाली थी। इस वश द्वारा बनवाए गए जैन मन्दिरो, दान आदि का विस्तृत परिचय 'हुमचा' के प्रसग मे दिया गया है। पाठक कृपया उसे अवश्य पढ़े। इस वश की स्थापना की उपन्यास जैसी कहानी भी वहाँ दी गई है।

सान्तर वंश की एक शाखा ने कारकल में भी राज्य किया। इसी जिनदत्तराय के वशज भैरव पुत्र वीर पाड्य ने कारकल में बाहुबली की लगभग ४२ फुट ऊँची (४० फुट ५ इच ऊंची) प्रतिमा कुछ किलोमीटर दूर से किस प्रकार लाकर सन् १४३२ ई. मे स्थापित की थी, इसका रोमांचक विवरण इस राजवश के शासकों सहित कारकल के प्रसंग मे इसी पुस्तक मे दिया गया है। इस प्रतिमा के दर्शनों के लिए आज भी यात्री वहा जाते है और इस प्रतिमा को तथा वहां की चतुर्मुख बसदि को देखकर पुलकित हो उठते है। दोनो ही छोटी वृक्षहीन सरल पहाड़ियों पर हैं। यह स्थान मूडबिद्री से बहुत पास है।

कर्नाटक मे सान्तर राजवंश ने जैनधर्म की जो ठोस नीव डाली वह भुलाई नही जा सकती। श्रवणबेलगोल की गोम्मटेश्वर प्रतिमा के बाद दूसरे नम्बर की बाहुबली प्रतिमा इसी सान्तर वंश की देन है। जिनदत्तराय ने अपना राज्य राज्य लगभग ८०० ई. मे स्थापित किया था। कारकल मे इस वंश ने लगभग १६०० ई. तक राज्य किया।

रट्ट राजवंश :

शिलालेखों से ही ज्ञात होता है कि इस वश का प्रथम पुरुष पृथ्वीराम था जो कि मैलपतीर्थ के कारेयगण के गुणकीर्ति मुनि के शिष्य इन्द्रकीर्ति स्वामी का शिष्य था। उनकी राजधानी आधुनिक सौन्दत्ति (प्राचीन नाम सुगन्धवर्ति) था। इस वश ने राष्ट्रकूट वश की अधीनता मे लगभग ९७८ ई. से १२२९ ई. तक शासन किया। उसने तथा उसके वशजो ने सौन्दत्ति में जिन मन्दिरो का निर्माण कराया। मुनियो के आहार आदि के लिए दान तथा मन्दिरो की आय के लिए कुछ गांव समर्पित कर दिए थे।

इस वंश के एक शासक लक्ष्मीदेव ने १२२९ ई. में अपने गुरु मुनि चन्द्रदेव की आज्ञा मे मल्लिनाथ मन्दिर का निर्माण कराके विविध दान दिए थे। डा० ज्योतिप्रसाद के अनुसार, 'मुनि चन्द्रदेव राजा के धर्मगुरु ही नही, शिक्षक और राजनीतिक पथ-प्रदर्शक भी थे। उन्ही की देख-रेख मे शासन-कार्य चलता था। स्वय राजा लक्ष्मीदेव ने उन्हें रट्ट राज्य संस्थापक-आचार्य उपाधि दी थी। कहा जाता है कि सकटकाल में उन्होने प्रधानमन्त्री का पद ग्रहण कर लिया था और राज्य के शत्रुओं का दमन करने के लिए शस्त्र भी धारण किए थे। सकट निवृत्ति के उपरान्त वह फिर से साधु हो गए थे। वह काणूरगण के आचार्य थे।"

गंगधारा के चालुक्य :

सुप्रसिद्ध चालुक्य वश की एक शाखा ने गंगधारा (सम्भवत: प्राचीन पुलिगेरे या आधुनिक लक्ष्मेश्वर नगरी या इसका उपनगर) राजधानी मे राष्ट्रकूटों के सामन्त के रूप मे ८०० ई. से शासन किया। दसवीं सदी मे गंगधारा की प्रसिद्धि एक राजधानी के रूप मे थी। इस वश के अरिकेशरी राजा ने कन्नड़ भाषा के महान जैन कवि पम्प को भी आश्रय दिया था। उसके उत्तराधिकारी बट्टिग द्वितीय के शासनकाल में ही प्रसिद्ध जैनाचार्य सोमदेव सूरि ने गगधारा मे अपने निवास के समय सुप्रसिद्ध काव्य

'यशस्तिलक चम्पू' तथा प्राचीन भारतीय राजनीति-सिद्धान्त ग्रन्थ के रूप में प्रसिद्ध 'नीतिवाक्यामृत' की रचना कौटिल्य के अर्थशास्त्र की सूत्र-शैली में की थी। प्राचीन भारतीय राजनीतिक सिद्धान्तों के अध्ययन के सिलसिले मे आज भी यह ग्रन्थ विश्वविद्यालयों मे पठित-संदर्भित किया जाता है। उपर्युक्त राजा ने ही लक्ष्मेश्वर मे 'गंग-कन्दर्प' जिनालय का निर्माण कराया था। इस वश के राजा जैन-धर्म के अनुयायी रहे।

कोंगाल्व वंश :

इस राजवश ने कर्नाटक के वर्तमान कुर्ग और हासन जिलो के बीच के क्षेत्र पर, जो कि कावेरी और हेमवती नदियों के बीच था, शासन किया। उस समय यह प्रदेश कोंगलनाड कहलाता था। इस वश का सम्बन्ध प्रसिद्ध चोलवश से जान पडता है। सम्राट् राजेन्द्र चोल ने इसके पूर्वपुरुष को अपना सामन्त नियुक्त किया था। यह वश ग्यारहवी सदी मे अवश्य विद्यमान था (शिलालेख बहुत कम मिले है) और जैनधर्म का अनुयायी था। सोमवार ग्राम मे पुरानी बसदि एक पाषाण पर लगभग १०८० ई. के शिलालेख से विदित होता है कि राजेन्द्र पृथ्वी कोंगाल्व नामक इस वश के राजा ने 'अदटरादित्य' नामक चैत्यालय का निर्माण अपने गुरु मूलसघ, कानूरगण, तगरिगळ गच्छ के गण्डविमुक्तिदेव के लिए कराया था और पूजा-अर्चना के लिए दान दिया था। आचार्य प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव का वह बडा आदर करता था और उसने अपने शिलालेख के प्रारम्भ में उनकी बड़ी प्रशसा की है। लेख मे यह भी उल्लेख है कि उसके शिलालेख की रचना चार भाषाओ के ज्ञाता सन्धिविग्रहक नकुलार्य ने की थी। इस राजा ने अपने को 'ओरेयुपुरवराधीश्वर' तथा 'सूर्यवंशी-महामण्ड-लेश्वर' कहा है।

कुछ इतिहासकारों का मत है कि यह वंश चौदहवीं शताब्दी या उसके बाद तक शासन करता रहा और अन्त तक जैनधर्म का अनुयायी बना रहा। जो भी हो, इस वश के सम्बन्ध मे अधिक जानकारी प्राप्त नहीं है।

चंगाल्व वंश :

इस वंश का शासन कर्नाटक के चगनाडु (आधुनिक हुणसूर तालुक) में था, जो कि आगे चलकर पश्चिम-मैसूर और कुर्ग जिलों तक फैल गया। इस वंश से सम्बन्धित अधिकांश शिलालेख ग्यारहवी-बारहवी सदी के हैं। किन्तु पन्द्रहवीं शताब्दी में भी यह वश अस्तित्व मे था। ये चोल एव होयसल नरेशो के सामन्त प्रतीत होते हैं। इस वंश के अधिकांश राजा शैव मत को मानते थे किन्तु ११-१२वी सदी में ये जिनभक्त थे।

उपर्युक्त वश का सबसे प्रसिद्ध राजा वीरराजेन्द्र चोल नन्नि चगाल्व ने चिक्क हनसोगे नामक स्थान पर देशीगण पुस्तकगच्छ के लिए जिनमन्दिर का निर्माण लगभग १०६० ई मे कराया था। उसी स्थान की एक बसदि का उसने जीर्णोद्धार कराया था जिसके सम्बन्ध में यह प्रसिद्धि थी कि उसका निर्माण श्री रामचन्द्र ने करवाया था। सन् १०८० ई. के एक शिलालेख से, जो कि हनसोगे की बसदि मे नवरग-मडप के द्वार पर उत्कीर्ण है, यह प्रतीत होता है कि इस चगाल्व तीर्थ मे आदीश्वर, नेमीश्वर आदि जिनमन्दिर थे जो भट्टारक या मुनियो के सरक्षण में थे एव चंगाल्व नरेश ने उनका जीर्णोद्धार कराया था।

चगाल्व नरेश मरियपेर्गडे पिल्दुवय्य ने 'पिल्दुवि-ईश्वरदेव' नामक एक बसदि का निर्माण १०६१ ई. के लगभग कराया था। मुनियों को भी आहार दान दिया था।

श्रवणबेलगोल के १५१० ई. के एक शिलालेख से यह भी ज्ञात होता है कि इस वश के एक नरेश के मन्त्री-पुत्र ने गोम्मटेश्वर की ऊपरी मंजिल का निर्माण कराया था।

निडुगल वंश :

उत्तर मैसूर के कुछ भाग पर राज्य करने वाले इस वश के शासन सम्बन्धी उल्लेख तेरहवीं शताब्दी के प्राप्त होते है। अमरापुर तथा निडुगल्लु बेट्ट (जैन बसदि) के शिलालेखो से ज्ञात होता है कि ये राजा स्वय को चोल-वश के तथा ओरेयुरपुरवराधीश कहते थे।

उपर्युक्त वश के इरुगोल के शासनकाल मे मल्लिसेट्टि ने तैलगेरे बसदि के प्रसन्न पार्श्वनाथ के लिए सुपारी के दो हजारो पेडो के हिस्से दान मे दिए थे। इसी राजा के पहाड़ी किले का नाम कालाञ्जन था। उसकी चोटियां ऊंची होने के कारण वह 'निडुगल' कहलाया। उसी के

दक्षिण में गंगेयनमार ने एक पार्श्व जिनालय बनवाया था। अपने इस धर्मप्रेमी गंगेयन की प्रार्थना पर राजा इरुंगोल ने पार्श्वनाथ की दैनिक पूजा, आहारदान आदि के लिए भूमि का दान किया था। वहां के किसानों ने भी अखरोट और पान का दान किया था तथा किसानों ने अपने कोल्हुओं से तेल ला-लाकर दान में दिया था।

ऐसा उल्लेख मिलता है कि इस राजा को विष्णुवर्धन ने हराया था।

अलुप वंश :

इसका शासन-क्षेत्र तुलुनाडु (मूडबिद्री के आस पास का क्षेत्र) था। दसवीं सदी मे तौलव देश के प्रमुख जैन-केन्द्र थे मूडबिद्री, गेरुसोप्पा, भटकल, कारकल, सोदे, हाडुहल्लि और होन्नावर। इनमें से कुछ तो अब भी प्रमुख जैन केन्द्र हैं। इस वंश के शासकों ने जैनधर्म को राज्याश्रय भी प्रदान किया था और अनेक जैन बसदियों के लिए दान दिया था। ये राजा ११९४ ई. से लगभग १३८४ ई. तक राज्य करते रहे। इस वंश का राजा कुलशेखर-अलुपेन्द्र तृतीय मूडबिद्री के पार्श्वनाथ का परमभक्त था। देखिए 'मूडबिद्री' प्रकरण।

बंगवाडि वंश का वंश :

अलुपवंश के बाद तुलुनाड में इस वंश ने राज्य किया (देखिए 'मूडबिद्री')।

संगीतपुर के सालुव मण्डलेश्वर :

संगीतपुर या हाडुहल्लि (उत्तरी कनारा या कारवाड जिला के समृद्ध नगर में इस वंश ने पन्द्रहवीं शताब्दी मे राज्य किया। महामण्डलेश्वर सालुवेन्द्र भगवान चन्द्रप्रभ का बड़ा भक्त था। उसके मन्त्री ने भी पार्श्वनाथ का एक चैत्यालय पद्माकरपुर में बनवाया था।

चोटर राजवंश :

मूडबिद्री को अपनी राजधानी बनाने वाले इस वंश के राजा १६८० ई. मे स्वतन्त्र हो गए थे। इस वंश ने लगभग ७०० वर्षो तक मूडबिद्री मे राज्य किया। इनके वंशज और इनका महल आज भी मूडबिद्री में विद्यमान हैं। वे जैनधर्म का पालन करते है और शासन से पेंशन पाते हैं। (देखिए 'मूडबिद्री')

भैररस वंश :

कारकल का यह राजवंश हुमचा के परम जिनभक्त राजाओं की एक शाखा ही था। यह वंश जैनधर्म का अनुयायी रहा। इसी वंश के राजा वीरपाण्ड्य ने सन् १४३२ ई. में कारकल मे बाहुबली की ४१ फुट ५ इंच ऊंची प्रतिमा निर्माण कराकर वहां की पहाड़ी पर स्थापित की थी जिसकी आज भी वन्दना की जाती है। इस वंश के विवरण के लिए देखिए 'कारकल' प्रकरण।

अंजिल वंश :

अपने आपको चामुण्डराय का वंशज बताने वाला यह वंश बारहवीं सदी मे उदित हुआ। इसका शासन-क्षेत्र वेणूर था। वेणूर ही इसकी राजधानी रही और इसका प्रदेश तुलुनाडु के अन्तर्गत सम्भवत. पुंजलिके कहलाता था। यह वंश प्रारम्भ से अन्त तक जैनधर्म का अनुयायी रहा। इसी वंश के शासक तिम्मराज ने १६०४ ई. मे वेणूर में बाहुबली की ३५ फुट ऊंची प्रतिमा स्थापित की थी जो आज भी पूजित है। इस वंश के वंशज आज भी विद्यमान हैं और सरकार से पेंशन पाते हैं। (देखिए 'वेणूर' प्रकरण)।

कर्नाटक के उपर्युक्त संक्षिप्त इतिहास पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस राज्य मे जैनधर्म की विद्यमानता एवं मान्यता अत्यन्त प्राचीन है। कम-से-कम महावीर स्वामी के समय मे तो वहां जैनधर्म का प्रचार था जो कि पार्श्वनाथ-परम्परा की ही प्रवहमान धारा मानी जाए तो कोई बहुत बड़ी ऐतिहासिक आपत्ति नही उठ सकती है, क्योंकि पार्श्वनाथ यहां तक कि भगवान नेमिनाथ ऐतिहासिक पुरुष मान लिए गए हैं। इसी प्रकार कर्नाटक के लगभग हर छोटे या बड़े राजवंश ने या तो स्वयं जैनधर्म का पालन किया या उसके प्रति अत्यन्त उदार दृष्टिकोण अपनाया। मध्ययुग की ऐतिहासिक या राजनीतिक परिस्थितियों को देखते हुए भी यह निष्कर्ष अनुचित नही होगा कि कर्नाटक मे प्रचुर राज्याश्रय प्राप्त होने के कारण बहुसंख्य प्रजा का धर्म भी जैनधर्म रहा होगा।

कर्नाटक
अहिंसा के स्मारकों की भूमि

अत्यन्त प्राचीनकाल से ही कर्नाटक जैनधर्म का प्रमुख केन्द्र रहा है। इस प्रदेश का जो इतिहास श्रुतकेवली भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त मौर्य के आलेखों, विभिन्न मन्दिरों, शिलालेखों आदि से प्राप्त हुआ है उससे इस कथन की पुष्टि होती है। यहां इतने मन्दिर और तीर्थ कालान्तर मे बने या विकसित हुए कि इस भूमि को अहिंसा के स्मारको की भूमि कहना अनुचित नही होगा।

कर्नाटक विभिन्न शैली के मन्दिरो की निर्माणशाला या विकासशाला रहा है। ईसा की प्रारम्भिक सदी मे यहां काष्ठ के जैनमन्दिर निर्मित होते थे। एक कदम्बनरेश ने हलासी (पलाशिका) मे ईसा की पाचवी सदी मे लकड़ी का एक जैनमन्दिर बनवाया था। हुमचा के शिलालेखों में उल्लेख है कि वहां पाषाण मन्दिर बनवाया गया। यह तथ्य यह भी सूचित करता है कि पहले कुछ मन्दिर पाषाण के नही भी होते थे। काष्ठमन्दिरो के अतिरिक्त कर्नाटक म गुफा-मन्दिर भी हैं जो पहाड़ी की चट्टान को काट-काटकर बनाए गए। इस प्रकार के मन्दिर ऐहोल और बादामी मे है। कालान्तर मे पाषाण की काफी चौड़ी मोटी शिलाओ से मन्दिर बनाए जाने लगे। ऐसा एक मन्दिर ऐहोल मे ६३४ ई. मे बना जो इसलिए भी प्रसिद्ध है कि प्राचीन मन्दिरो मे वही एक ऐसा मन्दिर है जिसकी तिथि हमे ज्ञात है। हम्पी (विजयनगर) का गानिगित्ति मन्दिर विशाल शिलाखण्डो से निर्मित मन्दिरो का एक सुन्दर उदाहरण है। तीन मोटी और ऊँची शिलाओ से उसकी दीवार छत तक पहुंच गई है। शायद उसमे जोड़ने के लिए मसाले का भी प्रयोग नहीं किया गया है। मंदिरो के शिखरों का जहा तक प्रश्न है, कर्नाटक मे उत्तर भारतीय और दक्षिण भारतीय दोनों ही प्रकार के शिखरो के मन्दिर विद्यमान हैं। मूडबिद्री के मन्दिर तो नेपाल और तिब्बत की निर्माण शैली से सयोगवश या सम्पर्कवश साम्यता रखते हैं। सुन्दर नक्कासीयुक्त एक हजार स्तम्भो तक के मन्दिर (मूडबिद्री) कर्नाटक मे हैं। और उनमे से कुछ की पालिश अभी भी अच्छी हालत में है। कुछ मंदिरों में संगीत की ध्वनि देने वाले स्तम्भ भी हैं। नक्कासी में भी यहां के मन्दिर आगे हैं। बेलगांव की कमल बसदि का कमल आबू के मन्दिरों के कमल से होड़ करना चाहता है तो जिननाथपुरम् के मन्दिर काम उत्कीर्णन मन मोह लेता है। मानस्तम्भों की भी यहां विशेष छवि है। कारकल मे एक ही शिला से निर्मित ६० फुट ऊँचा मानस्तम्भ है तो मूडबिद्री मे मात्र ४० इच ऊंचा मानस्तम्भ देखा जा सकता है।

मूर्तिकला का तो कर्नाटक मानो संग्रहालय ही है। यहा मूडबिद्री मे पकी मिट्टी (clay) की मूर्तियां है तो पाषाण से निर्मित विशालकाय गोम्मट (बाहुबली) मूर्तियां है। श्रवणबेलगोल की ५७ फुट ऊँची मूर्ति तो अब विश्वविख्यात हो चुकी है। कारकल की ४२ फुट ऊँची बाहुबली मूर्ति खड़ी करने का विवरण ही रोमाचक है। वेणूर और धर्मस्थल तथा गोम्मटगिरि की मूर्तियों का अपना ही आकर्षण है। बादामी का गुफा मन्दिर की बाहुबली मूर्ति तो जटाओ से युक्त है और श्रवणबेलगोल की मूर्ति से भी प्राचीन है। पार्श्वनाथ की मूर्ति के विभिन्न अकन देखने के लायक हैं। हुमचा मे कमठ के उपसर्ग सहित, तो कही-कहीं सहस्रफण वाली ये मूर्तियां मोहक हैं। चतुर्मुखी पाषाण-मूर्तियो का एक अलग ही आकर्षण है। यक्ष यक्षिणी की भी सुन्दर मूर्तिया है।

पचधातु, अष्टधातु, सोने-चांदी और रत्नो की मूर्तियां भी अनेक स्थानों मे है।

ताडपत्रो पर लिखे गए हजारो ग्रन्थ इस प्रदेश में हैं। प्राचीन धवल, जयधवल और महाधवल ग्रन्थ भी इसी प्रदेश से हमे प्राप्त हुए।

जैन और अजैन राजाओ की धार्मिक सहिष्णुता के लेख भी यहाँ प्राप्त होते है। जैसे हम्पी के शासक की राजाज्ञा। विजय नगर साम्राज्य के अवशेष यही हैं। हनुमान की किष्किधा भी यही है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने जिस पर्वत से विदेह-गमन किया था वह कुन्दाद्रि भी यही है।

कर्नाटक मे कई हजार शिलालेख बताए जाते हैं। केवल श्रवणबेलगोल मे ही ६०० के लगभग शिलालेख है।

(शेष पृ० ८ पर)

अपभ्रंश भाषा के प्रमुख जैन साहित्यकार : एक सर्वेक्षण

लेखक — जिनमती जैन एम. ए., प्राकृत शोध संस्थान वैशाली (बिहार)

जैनधर्म के मनीषियों ने विभिन्न भाषाओं में अपनी कृतियां लिखकर भारतीय वाङ्मय को सम्बर्धित किया है। मध्यकाल में विभिन्न आचार्यों ने तत्कालीन अपभ्रंश भाषा को अपनी कृतियों की भाषा को अपनाया है। छठी शताब्दी से लेकर ई. सन १०वी शताब्दी तक जो जैन साहित्य सृजित हुआ है उसकी भाषा अपभ्रंश ही है।

अपभ्रंश का स्वरूप अपभ्रंश भाषा मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा के तृतीय स्तर की प्राकृत भाषा मानी जाती है। इस भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि जब प्रथम और द्वितीय स्तर की प्राकृतों ने साहित्य का रूप ले लिया और वैयाकरणो ने उन्हें

(पृ० ७ का शेषांश)

इनसे जैन राजाओं और जैन आचार्यों की परम्परा स्थापित करने में बड़ी सहायता मिली है।

काजू, काफी, नारियल, कालीमिर्च, सुपारी, इलायची आदि के सुन्दर वृक्षो से हरी-भरी मोहक पहाड़ियां और जोग झरने (६०० फुट ऊँचे से गिरने वाले) पर्यटक को सहज ही आकर्षित करते हैं।

कर्नाटक मे लगभग २०० स्थानों पर जैन तीर्थ मंदिर या ध्वस्त स्थान हैं।

यद्यपि इस पुस्तक मे प्रचुर मात्रा मे जैन धार्मिक स्थानों और पुरातात्विक स्मारको का परिचय कराया गया है, किन्तु उसका मुख्य उद्देश्य तीर्थयात्रियों के लिए एक उपयोगी निर्देशिका प्रस्तुत करना है। कर्नाटक की पुरासंपदा के ऐतिहासिक महत्त्व का भी कुछ दिग्दर्शन है।

सन्तोष की बात यह है कि कर्नाटक के विश्वविद्यालयो और शोध-संस्थानोमे अध्ययन और खोज प्रयत्न जारी हैं। बावजूद इसके कोई भी पुस्तक ऐतिहासिक साक्ष्य की की परिपूर्णता का दावा नही कर सकती। •

व्याकरणो के नियमों से बांध दिया तो उस समय जन-साधारण जो भाषा बोलते थे वही अपभ्रंश के नाम से विख्यात हुई। अपभ्रंश का साधारण अर्थ भ्रष्ट च्युत और अशुद्ध होता है[1]। भर्तृहरि ने मस्कारहीन शब्दों को अपभ्रंश कहा है[2]। कुछ लोगों ने इसे ग्रामीण या देशी भाषा भी कहा है। अन्य कुछ विद्वानो ने इसे आभीरों की बोली माना है। डॉ० ग्रियर्सन ने स्थानीय प्राकृत को अपभ्रंश भाषा कहा है। डॉ० हीरालाल जैन का मत है कि इस भाषा का सर्व प्रथम उल्लेख पातञ्जल महाभाष्य मे मिलता है[3] लेकिन यहां पर पातञ्जलि ने संस्कृत से अपभ्रष्ट शब्दों को अपभ्रंश कहा है। दण्डी ने संस्कृत के अतिरिक्त अन्य सभी शब्दों को अपभ्रंश माना है[4]। भरत मुनि ने अपभ्रंश भाषा को उकार बहुला कहा है[5]। जो हो यह तो निश्चय ही है कि अपभ्रंश भाषा जनसाधारण की भाषा थी। आज वह प्राकृत और आधुनिक हिन्दी आदि भाषाओ की सेतु मानी जाती है।

प्रमुख अपभ्रंश भाषा के साहित्यकार—अपभ्रंश भाषा मे जिन आचार्यों ने जैनधर्म के सिद्धान्तानुसार रचनाए की है उनमे चउमुख, द्रोण, स्वयम्भू, त्रिभुवन, पुष्पदन्त, धवल, धनपाल, वीर, मुनि नयनन्दि, कनकामर, योगेन्दु, रामसिंह, विबुध श्रीधर, रइधू और हरिदेव प्रमुख साहित्यकार है। इनका संक्षिप्त परिचय निम्नांकित है—

चउमुख—चउमुख या चतुर्मुख अपभ्रंश भाषा के प्राचीनतम कवि हैं। इनका उल्लेख धवल, धनपाल वीर आदि कवियों ने किया है[6]। डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री ने "अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध प्रवृत्तियां" नामक कृति में लिखा है कि चतुर्मुख से पहिले गोविन्द नामक कवि हुए थे, जिन्होंने अपभ्रंश भाषा मे कृष्ण विषयक प्रबन्ध काव्य लिखा था[7]। इस उल्लेख से ऐसा पता चलता है कि चतुर्मुख गोविन्द के उत्तरवर्ती महाकवि हैं। चतुर्मुख

के विषय में विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं होती है। स्वयम्भू और उनके पुत्र त्रिभुवन के उल्लेख से ज्ञात होता है कि महाकवि चतुर्मुख ने दुवई एवं ध्रुवकों से युक्त पद्धडिया छन्द का आविष्कार किया था। इसके अतिरिक्त ऐसा प्रतीत होता है कि चतुर्मुख ने व्यास शैली में महाभारत एवं पञ्चमी चरिउ नामक ग्रंथ की रचना की थी[8]। लेकिन किसी कारण से आज वे ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। चूंकि स्वयम्भू ने चतुर्मुख का उल्लेख किया है, इसलिए यह कहा जा सकता है कि चतुर्मुख स्वयम्भू के पहिले के है। स्वयम्भू का समय ई. सन् ६७६-६७७ के आसपास का माना जाता है। इसलिए चतुर्मुख को ईस्वी सन् ६०० का कवि माना जा सकता है।

२. **द्रोण**— द्रोण कवि का भी उल्लेख त्रिभुवन स्वयम्भू ने अपने रिट्ठनेमि चरिउ में किया गया है। इसके अलावा पुष्पदन्त, धवल, धनपाल, आदि ने भी सम्मानपूर्वक स्मरण करते हुए उनकी लोकप्रियता को सूचित किया है[9]। इससे सिद्ध होता है कि द्रोण नामक कवि अवश्य ही हुए है। द्रोण ने भी अपभ्रंश भाषा मे महाभारत की कथा लिखी थी। उनकी यह कृति अनुपलब्ध है। ये भी स्वयम्भू के पूर्ववर्ती एवं चतुर्मुख के उत्तरवर्ती थे।

३. **स्वयम्भू**—अपभ्रंश भाषा के सर्वप्रथम महाकवि हैं। मारुतदेव और पद्मनी के पुत्र स्वयम्भू[10] को इनके उत्तरवर्ती कवियों ने महाकवि कविराज चक्रवर्ती जैसी उपाधियों से विभूषित किया है[11]। इनके परिवार में इनकी दो पत्नियां—आदित्याम्बा और सामिअब्बा एवं त्रिभुवन नामक पुत्र था। धनञ्जय के आश्रय मे रहने वाले और कालीदास के समकक्ष अपभ्रंश के महाकवि स्वयंभू का पारिवारिक जीवन सुखी एवं सम्पन्न था[12]। पउम चरिउ, रिट्ठनेमि चरिउ, स्वयम्भू छन्द, शोद्धचरिउ, पञ्चमी चरिउ और स्वयम्भू व्याकरण के रचयिता महाकवि स्वयम्भू के जन्म-काल एवं उनके जन्म-स्थान के विषय में विद्वानों मे मतभेद है। उनकी कृतियों में जिन पूर्ववर्ती कवियों का उल्लेख हुआ है और उनके उत्तरवर्ती कवियों में स्वयम्भू का उल्लेख किया है उसके आधार पर कहा जा सकता है कि स्वयम्भू ईसवी सन् ८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के महाकवि थे। इनके जन्म-स्थान पर डा० हीरालाल जैन, पं० नाथूराम प्रेमी, डा० भोलाशंकर व्यास एवं डा० भायाणी ने गवेषणात्मक विचार व्यक्त किये हैं। इससे पता चलता है कि वे दाक्षिणात्य थे[13]।

४. **त्रिभुवन स्वयम्भू**— स्वयम्भू के पुत्र एवं आगम व्याकरण के ज्ञाता त्रिभुवन स्वयम्भू ने भी अपभ्रंश भाषा में अपने पिता के अधूरे कार्य को पूरा किया है। पउमचरिउ की प्रशस्ति गाथा से ज्ञात होता है कि उन्होंने पउम चरिउ को पूरा किया था[14]। डा० हीरालाल जैन का मत है कि त्रिभुवन स्वयम्भू ने स्वयम्भू के रिट्ठनेमि चरिउ के अपूर्ण अंश को पूरा किया है[15]। लेकिन पउमचरिउ की प्रशस्ति गाथा के आधार पर डा० भायाणी ने माना है कि त्रिभुवन स्वयम्भू ने पउमचरिउ रिट्ठनेमि चरिउ और श्री पञ्चमी चरिउ को पूरा किया है[16]। पं० नाथूराम प्रेमी का भी यही मत है कि त्रिभुवन स्वयंभु ने अपने पिता की उक्त अपूर्ण कृतियों को पूर्ण किया है। इसका समय ईसवी सन् ९वी शताब्दी माना है।

५. **पुष्पदन्त**—पुष्पदन्त अपभ्रंश भाषा के दूसरे ऐसे महाकवि हैं, जिन्होंने अपभ्रंश भाषा मे महापुराण, जसहर चरिउ णायकुमार चरिउ लिखकर अपभ्रंश साहित्य को समृद्ध किया है। णायकुमार चरिउ की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि उनके पिता का नाम केशव और माता का नाम मुग्धा देवी था। ये शिवभक्त थे और बाद में जैन गुरु से उपदेश पाकर जैन हो गये थे। बाद मे उनके माता पिता ने जैन सन्यास विधि से मरण किया था। पुष्पदन्त काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न हुए थे[17]। इससे पता चलता है कि पुष्पदन्त को जैनधर्म की शिक्षा अपने माता-पिता से मिली होगी। जसहर चरिउ में वे कहते हैं कि "पापहारिणी मुग्धा नामक ब्राह्मणी के उदर से उत्पन्न श्यामल वर्ण, काश्यप गोत्री केशव के पुत्र, जिनेन्द्र-चरणो के भक्त, धर्म मे आसक्त, व्रतों से संयुक्त, उत्तम सात्विक स्वभावी अथवा श्रेष्ठ काव्य शक्तिधारी, शंका-रहित, अभिमान चिह्न, प्रफुल्लमुख, खण्ड कवि ने यह यशोधर कथा की रचना की और उसके द्वारा विद्वानों की सभा का मनोरंजन किया[18]।

उपर्युक्त कथन से सिद्ध होता है कि खण्ड या खण्डू[19]

नाम वाले पुष्पदन्त दुर्बल श्यामल शरीर वाले, कमल के समान प्रफुल्लित मुख वाले, स्वाभिमानी और महान् आत्मविश्वासी, श्रेष्ठ काव्य शक्तिधारी जैनधर्म दर्शन के मर्मज्ञ स्पष्टवादी और उग्र स्वभाव के व्यक्तित्व वाले थे। महाकवि पुष्पदन्त ने अपने आश्रयदाता का नाम मान्यखेट नगरी के राजा कृष्णराज के महामंत्री नन्न थे।

महाकवि पुष्पदन्त के जन्मस्थान के बारे मे विद्वानों में मतभेद है। पं० नाथूराम प्रेमी[20] का मत है कि अपभ्रंश साहित्य की रचना उत्तरी भारत मे हुई है। पुष्पदन्त की रचनाए अपभ्रश भाषा मे रची गयी हैं, इससे सिद्ध है कि पुष्पदन्त उत्तर से दक्षिण आए होंगे। अतः इनका जन्म उत्तरी भारत मे किसी स्थान पर हुआ होगा। डा० हीरालाल जैन का मत है कि पुष्पदन्त दुष्टो के कारण भ्रमण करते हुए मान्यखेट पहुंचे थे और वही पर उन्होने अपनी रचनाएँ लिखीं। इससे सिद्ध होता है कि वे मान्यखेटा निवासी नहीं थे[11]। दूसरी बात यह है कि इनके बचपन के नाम 'खण्ड' से प्रतीत होता है कि वे महाराष्ट्र के निवासी थे, क्योंकि यह नाम आजकल महाराष्ट्र मे बहुत प्रचलित है। डा० पी. एल. वैद्य ने पुष्पदन्त की रचनाओं में आई हुई लोकोक्तियो और शब्दो के आधार पर उन्हें उत्तरी भारत के किसी स्थान का माना है। उपर्युक्त विचारों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पुष्पदन्त का जन्म उत्तरी भारत मे ही हुआ था।

महाकवि पुष्पदन्त के समय के विषय में भी विद्वानो में मतभेद है। क्योंकि उन्होने अपने जन्मकाल के विषय मे कुछ भी उल्लेख नही किया है। इसलिए डा० हीरालाल जैन, पं० नाथूराम प्रेमी, डा० पी. एल. वैद्य आदि विद्वानों ने महाकवि की कृतियों मे उल्लिखित घटनाओ, ग्रंथ और ग्रथकारो एवं उनके उत्तरवर्ती कवियों की कृति मे उल्लिखित पुष्पदन्त के नाम के आधार पर उनका समय निर्धारण किया है। महापुराण में ईसवी सन् ८१६ मे रचे गये (वीरसेन के) धवला और ८३७ मे रचे गये जयधवला के उल्लेख से सिद्ध होता है कि पुष्पदन्त इनके बाद हुए होंगे[11]। इसी प्रकार ईसवी सन् ९८७ में लिखी गयी धर्म परिक्खामे इनका उल्लेख हुआ है[13]। इससे सिद्ध है कि पुष्पदन्त बुध हरिसेन के पूर्व महाकवि के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे। डा० हीरालाल ने लिखा है कि महापुराण की रचना ईसवी सन् ९६५ में समाप्त हो चुकी थी[14]। इससे स्पष्ट है कि पुष्पदन्त का समय ई. सन् ८१६—९७२ के मध्य निर्धारित किया जा सकता है। डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने इनका समय ईसवी सन् की १०वी शताब्दी माना है[15]।

धनपाल—अपभ्रश भाषा मे महाकाव्यों की रचन करने वालो मे महाकवि धनपाल का नाम आदर के साथ उल्लिखित हुआ है। "भविसयत्तकहा" नामक महाकाव्य लिखकर ये अमर हो गए। महाकवि धनपाल का विस्तृत परिचय उपलब्ध नही है। इनके महाकाव्य के आधार पर कहा जा सकता है कि धनपाल का जन्म धक्कड़ वैश्य कुल मे हुआ था। इनके पिता का नाम माएसर (माहेश्वर) और माता का नाम धनश्री था[11]। ये दिगम्बर जैन मत के अनुयायी थे। धनपाल ने अपने को सरस्वती पुत्र कहा है।

महाकवि धनपाल के समय का निर्धारण करते हुए डा० हरमन जैकोबी, श्री पी. वी. गुणे, डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री आदि ने अपने विचार व्यक्त किए है[17]। डा० हीरालाल जैन ने ईसवी सन् १०वी सदी का महाकवि माना है[18]। राहुल सांकृत्यायन का भी यही मत है[11]। फिर भी इनके समय के सम्बन्ध में गम्भीर अन्वेषण एवं अनुसधान की आवश्यकता है।

धवल—अपभ्रश भाषा में हरिवश पुराण नामक महाकाव्य के रचयिता महाकवि धवल के पिता का नाम सूर माता का नाम केसुल्ल था। इनके महाकाव्य से ज्ञात होता है कि इनके गुरु का नाम अम्बसेन था। ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न हुए महाकवि धवल जैन मुनि के कारण जैन मतानुयायी हो गये थे[30]।

महाकवि ने अपने हरिवंश पुराण की उत्थानिका में जिन आचार्यों का उल्लेख किया है उससे ज्ञात होता है कि वे ईसवी सन् १०-११वी के महाकवि थे[11]।

वीरकवि—अपभ्रंश भाषा में जबूसामिचरिउ के रचयिता, काव्य व्याकरण, तर्क कोश, छन्द शास्त्र द्रव्यानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग आदि विषयो के ज्ञाता

महाकवि वीर ने अपना परिचय स्वय दिया है। उससे ज्ञात होता है कि महाकवि वीर का जन्म मालव देश के गुलखेड नामक ग्राम में हुआ था। लाडवर्ग गोत्र में उत्पन्न महाकवि देवदत्त इनके पिता थे। इनकी माता का नाम श्रीसन्तुआ था[३२]। इनके तीन भाई थे—सीहल्ल, लक्षणांक एवं जसई। महाकवि वीर की जिनमति, पद्मावती, लीलावती और जयादेवी नाम की चार पत्नियाँ थी[३३]। 'जंबूसामिचरिउ' की प्रशस्ति से यह भी ज्ञात होता है कि इनकी प्रथम पत्नी से नेमिचन्द्र नाम का पुत्र हुआ था जो विनय गुण से युक्त था[३४]। संस्कृत भाषा के पडित, राजनीति में दक्ष, स्वभाव से विनम्र उदार, मिलनसार, भक्त व्रती एवं धर्म में आस्था रखने वाले[३५] 'वीर महाकवि' ने अपने पिता की प्रेरणा से 'जंबूसामिचरिउ' की रचना की थी। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि अपने पिता के मित्रों के अनुरोध पर अपभ्रंश भाषा में इस महाकाव्य को लिखा था। अपने पिता की स्मृति में मेघवन पट्टण में महावीर भगवान का मन्दिर भी बनवाया था[३६]। महाकवि वीर के विषय में यह भी ज्ञात होता है कि उन्होंने जैन ग्रंथों के अलावा शिव पुराण' वाल्मीकि रामायण, महाभारत, भरत नाट्य शास्त्र आदि का भी अध्ययन किया था[३७]।

महाकवि वीर का जन्म कब हुआ यह तो बतलाना सम्भव नही है। लेकिन 'जंबूसामिचरिउ' की समाप्ति वि. सं. १०७६ में माघ शुक्ल १०वीं के दिन हुई थी। इससे सिद्ध है कि वीर निश्चित ही ११वीं शती से पहिले हुए थे। दूसरी बात यह है कि वि० की आठवी शदी मे हुए स्वयंभू एव ६-१० वि० की शदी में हुए पुष्पदन्त का इन्होंने उल्लेख किया है। इससे यह भी स्पष्ट है कि वि० सं० १०२९ और १०७६ के मध्य महाकवि वीर का जन्म हुआ होगा[३८]।

कनकामर—अपभ्रंश भाषा के महाकवि मुनि कनकामर का जन्म ब्राह्मण वंश के चण्ड ऋषि गोत्र में हुआ था। 'करकंडुचरिउ' की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि इनके बचपन का नाम विमल था। वैराग्य होने पर इन्होंने दिगम्बर दीक्षा ली थी। इनके गुरु का नाम उक्त प्रशस्ति में बुधमंगलदेव बतलाया गया है। मुनि दीक्षा लेने के बाद इनका नाम मुनि कनकामर हुआ। इनका शरीर कनक अर्थात् सोने के समान अत्यन्त मनोहर था[३९]। महाकवि कनकामर ने मात्र अपभ्रंश भाषा मे 'करकंडुचरिउ' नामक महाकाव्य की रचना की और इसी एक मात्र कृति से वे अमर हो गए। डा० हीरालाल जैन ने 'करकंडुचरिउ' की प्रस्तावना मे ऊहापोह के साथ मुनि कनकामर के समय का विश्लेषण करते हुए उन्हें १०४०-१०५१ ईसवी सन् का बतलाया है[४०]। डा० नेमिचन्द्र शास्त्री का भी यही मत है[४१]। इनका व्यक्तित्व साधुमय था और ये उदार हृदय के मनस्वी थे। इनके आश्रयदाता का नाम विजय पाल नरेश, भूपाल और कर्ण राजा थे ऐसा प्रशस्ति से ज्ञात होता है। 'करकंडुचरिउ' की प्रशस्ति से यह भी ज्ञात होता है कि उनके चरण कमलों से भ्रमर स्वरूप तीन पुत्र थे—आहुल, रल्हु और राहुल[४२]। इनके माता-पिता एवं जन्म स्थान के बारे में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है, लेकिन 'आसाइय' नगरी में रह करके 'करकंडुचरिउ' की रचना की थी। डा० हीरालाल ने अपनी गवेषणात्मक 'करकंडुचरिउ' की प्रस्तावना में इस नगरी को मध्यप्रदेश मे माना है।

मुनि नयनन्दी—अपभ्रंश भाषा मे 'सुदंसणचरिउ' 'सैलविहिविहाण काव्य' की रचना करने वाले मुनि नयनन्दि माणिक्यनन्दि त्रैविद्य के शिष्य थे। ये आचार्य कुन्दकुन्द की परम्परा में हुए थे, उनके ग्रंथ से ज्ञात होता है[४३]। 'सुदर्शनचरित्र' की अन्तिम सन्धि में उन्होंने अपनी गुरु परम्परा का उल्लेख किया है। उससे ज्ञात होता है कि सुनक्षत्र, पद्मनन्दि, विष्णुनन्दि, नन्दिनन्दि, त्रिभुवनन्दि, विशाखनन्दि, रामनन्दि, माणिक्यनन्दि और इनके प्रथम शिष्य जगविख्यात एवं अनिद्य मुनि नयनन्दि हुए। उन्होंने अवन्ती देश की धारानगरी में राजा भोजदेव के शासनकाल में विशाल जिन मन्दिर मे वि० स० ११०० में सुदर्शन चरित्र की रचना की थी[४४]।

योगीन्दु—अपभ्रंश भाषा मे आध्यात्म तत्त्व की रचना करने करने वाले जोइन्दु, योगीन्दु, योगीन्द्रदेव, जोगीचन्द, जोगचन्द के नाम से जाने जाते हैं। ऐसा लगता है कि अपभ्रंश शब्द जोइन्दु के ही शेष शब्द हिन्दी भाषा में पर्यायवाची बन गये हैं। योगीन्दु ने अपने विषय

में कुछ भी नहीं लिखा है। उनके 'परमात्म प्रकाश' से केवल इतना ही ज्ञात होता है कि अपने मुमुक्षु शिष्य भट्ट प्रभाकर को सम्बोधित करने के लिए परमात्म प्रकाश की रचना की थी[५]।

डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने योगीन्दु को ईसा की छठी शताब्दी का आचार्य माना है। जबकि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इन्हे ८वीं-९वीं शताब्दी का कवि माना है। डा० हरिवंश कोछड़ ने भी इनका समर्थन किया है[४१]। डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने चण्ड और पूज्यपाद के साथ तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत कर योगीन्दु को छठी शताब्दी के उत्तरार्ध का आचार्य माना है[४७]। योगीन्दु की कृतियो के अध्ययन से भी यही सिद्ध होता है। आचार्य योगीन्दु ने संस्कृत और अपभ्रंश भाषा मे रचनाए की है। परमात्म प्रकाश, नौकार श्रावकाचार, योगसार, सावयधम्मदोहा' ये अपभ्रंश भाषा मे लिखे हैं। 'अध्यात्मसन्दोह', सुभाषित तन्त्र, अमृतासीती, तत्त्वार्थटीका की भाषा सस्कृत है। इस प्रकार हम देखते है कि आचार्य जोइन्दु ने दोहा शैली में आध्यात्मिक ग्रथों की रचना की वैदुष्यपूर्ण रचना की है।

रामसिंह—मुनि रामसिंह एक आध्यात्मिक अपभ्रंश भाषा के कवि थे। इनका समय वि. स. १००० माना जाता है। इन्होने पाहुड दोहा, सावयधम्म दोहा की रचना की थी।

विबुध श्रीधर—अपभ्रंश भाषा के कवि विबुध श्रीधर के पिता का नाम बुधगोल्ह और माता का नाम वील्हा देवी था। ये अग्रवाल कुल में उत्पन्न हुए थे[४८]। विबुध श्रीधर ने 'वड्ढमाणचरिउ' की प्रशस्ति में कहा है कि नेमिचन्द्र की प्रेरणा से उन्होने 'वड्ढमाणचरिउ' की रचना की है। इससे सिद्ध है कि नेमिचन्द्र साहू उनके आश्रयदाता थे। 'पासणाहचरिउ' की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि 'पासणाहचरिउ' के रचने की प्रेरणा उन्हे नट्टल साहू से प्राप्त हुई थी[४९]।

विबुध श्रीधर ने 'पासणाहचरिउ' का रचनाकाल वि० सं० ११९० बतलाया है। इससे सिद्ध होता है कि ये वि० सं० १२वीं शती के कवि हैं। डा० राजाराम जैन ने इनका समय वि० सं० ११८९-१२३० माना है[५०]।

विबुध श्रीधर ने 'वड्ढमाणचरिउ' और 'पासणाहचरिउ' महाकाव्यो की रचना की थी। 'पासणाहचरिउ' के उल्लेख से ज्ञात होता है कि इन्होंने 'चंदप्पहचरिउ' की भी रचना की थी जो अनुपलब्ध है। डा० राजाराम जैन ने इनके अलावा 'सुकुमालचरिउ' एवं 'भविसयत्तकहा' तथा 'सन्तिजिणेसरचरिउ' को भी विबुध श्रीधर की कृतियां मानी हैं। लेकिन डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने श्रीधर द्वितीय (वि. सं. १२००) को 'भविसयत्तचरिउ' का और श्रीधर तृतीय (वि. स. १३७२) को 'सुकुमालचरिउ' का कवि माना है। इसलिए सिद्ध है कि विबुध श्रीधर ने केवल 'पासणाहचरिउ' और 'वड्ढमाणचरिउ' की रचना की थी[५१]।

रइधू—रइधू के विषय मे डा० राजाराम जैन ने विस्तार से विवेचन किया है। ये अपभ्रंश भाषा के महाकवि हैं। इनका अपर नाम सिंहसेन था। इनके पिता का नाम हरिसिंह साहू था और माता का नाम विजय श्री था। ये सघपति देवराज के पौत्र थे। इनकी पत्नी सावित्री से उदयराज नामक पुत्र उत्पन्न हुआ था। बहोल और मानसिंह नामक इनके दो बड़े भाई थे। इनका जन्म वि. सं. १४५७-१५३६ में ग्वालियर में हुआ था। ये पद्मावती पुरवाल वंश के थे। डा० राजाराम जैन ने इनकी निम्नांकित रचनाएं मानी हैं—(१) मेहेसरचरिउ, (२) णेमिणाहचरिउ, (३) पासणाहचरिउ, (४) सम्मइ जिणचरिउ, (५) तिसट्ठिमहापुरिसचरिउ, (६) महापुराण, (७) बलहद्दचरिउ, (८) हरिवंश पुराण, (९) श्रीपाल चरित (१०) प्रद्युम्न चरित, (११) वृत्तसार, (१२) कारणगुणषोडशी, (१३) दशलक्षण जयमाला, (१४) रत्नत्रयी, (१५) षट्धर्मोपदेशमाला, (१६) भविष्यदत्त चरित, (१७) करकंडु चरित, (१८) आत्मसम्बोधन काव्य, (१९) उपदेशरत्नमाला, (२०) सिमधर चरित, (२१) पुण्याश्रव कथा, (२२) सम्यक्त्वगुणनिधान काव्य, (२३) सम्यग्गुणारोहण काव्य, (२४) षोडशकारण जयमाला, (२५) बारहभावना, (२६) सम्बोधपंचासिका, (२७) धन्यकुमार चरित, (२८) सिद्धान्तार्थसार, (२९) बृहत्सिद्धचक्र पूजा, (३०) सम्यक्त्व-भावना, (३१) जसहरचरिउ, (३२) जीणंधरचरित, (३३) कौमुइ कहापबंधु, (३४) सुक्कोसलचरिउ, (३५) सुदंसणचरिउ, (३६) सिद्धचक्रमाहप्प, (३७) अणथमिउकहा[५२]।

हरिदेव—अपभ्रंश भाषा में 'मयणपराजयचरिउ' की रचना करने वाले हरिदेव ने इस खण्ड काव्य मे जैन सिद्धान्तानुसार आचार विषयक तत्वो का उल्लेख किया है। इनका उल्लेख करते हुए बतलाया है कि कौन से तत्व मोक्षमार्ग एव मोक्ष की प्राप्ति मे बाधक हैं और कौन से तत्व मोक्ष-प्राप्ति मे साधक है। 'मयणपराजयचरिउ' के प्रारम्भ मे हरिदेव ने जो अपना परिचय दिया है उससे ज्ञात होता है कि इनके पिता का नाम चगदेव और माता का नाम चित्रा था। किंकर कृष्ण राघव और द्विजवर इनके भाई थे। इनकी छठी पीढी मे नागदेव द्वितीय हुए थे जिन्होंने संस्कृत मे मदन पराजय की रचना की थी। इनका जन्म सोमकुल में वि. सं. १२-१५वी शती के बीच में हुआ था।" 'मयणपराजयचरिउ' मे जिस प्रकार जैन-धर्म विषयक तत्वों का उल्लेख हुआ है, उससे सिद्ध होता है कि वे जैनधर्म मे दीक्षित अवश्य हुए होंगे।

उपर्युक्त उल्लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि अपभ्रंश भाषा में जैनधर्म दर्शन एव सस्कृत प्रचुरमात्रा मे सम्बधित करने के लिए अपभ्रंश के महाकवियो ने महाकाव्य और खण्डकाव्य लिखकर भारतीय वाङ्मय के सम्वर्धन मे बहुत बड़ा योगदान दिया।

सन्दर्भ-सूची

१. डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री : अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध प्रवृत्तिया पृ ८। २. वही। ३. द्रष्टव्य—डा हीरालाल जैन : भारतीय सस्कृति मे जैनधर्म का योगदान। ४. डा. राजाराम जैन : रइधू साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन पृ. ९-१०।

५. वही पृ. ८।

६. (क) चउमुह सयम्भुएवाण ...। स्वयम्भू : पउमचरिउ प्रशस्ति गा. ७।

(ख) डा. हीरालाल जैन : भारतीय सस्कृति मे जैन-धर्म का योगदान पृ १५५। ७. पृ २५।

८. डा. राजाराम जैन : रइधू साहित्य का आलोच-नात्मक परिशीलन पृ. ११-१४।

९. (क) महाकवि पुष्पदन्त : महापुराण भाग १, प्रथम सन्धि ९-५।

(ख) रइधू साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन पृ. १५।

१०. माउर-सुअ-सिरिकइराए··· । पउमचरिउ, प्रशस्ति गाथा १६।

११. "कइरायस्स······।" पउमचरिउ, प्रशस्ति गाथा ४ एवं १६। और भी देखें—जैन विद्या (स्वयम्भू विशेषांक) १, पृ. ९।

१२. (क) णामेण साऽमिअव्वा। सयम्भु घरिणी महासत्ता। पउमचरिउ सन्धि २० की पुष्पिका ॥ (ख) आइच्चु-एवि-पडिएवि-पडिमोवमाए आइच्चम्बिमाए। बी-अमउज्झा-कण्ड सयम्भु-घारणाए लहविय ॥ वही, सन्धि ४२ की पुष्पिका।

१३. (क) डा. विद्याधर जोहरापुरकर : स्वयम्भू का प्रवेश, जैनविद्या अक १, पृ. १७-१८।

(ख) विस्तृत परिचय के लिए देखे—डा. नेमिचन्द्र शास्त्री : तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, खड ४, पृ ९८-९८।

१४. पउमचरिउ, प्रशस्ति गाथा ३-४।

१५. डा. हीरालाल जैन भारतीय सस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ १५४।

१६. प्रशस्ति गाथा १०-१६।

१७ णायकुमारचरिउ की कवि प्रशस्ति की पक्ति ११-१५।

१८. पुष्पदन्त . जसहरचरिउ सन्धि ४ कडवक ३१ पृ १५६

१९. पुष्पदन्त : महापुराण, भाग १, सधि १, काव्य ६।

२०. डा. नेमिचन्द्र शास्त्री : तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा खण्ड ४, पृ. १०५।

२१. डा. हीरालाल जैन णायकुमार चरिउ की प्रस्तावना पृ. १९।

२२. डा नेमिचन्द्र शास्त्री : ती. म. और उनकी आचार्य परम्परा खण्ड ४, पृ. १०६ १०७।

२३. वही।

२४. णायकुमार चरिउ, प्रस्तावना, पृ. १६-१८।

२५. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा पृ. १०८।

२६. धक्कडवणिवंसे माएसरहो समुब्भविण। धणसिरिहो वि सुएण विरइउ सरसइसमविएण ॥ भविसयत्तकहा २२/९ १०

२७. देखें तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, खंड ४, पृ. ११३-११४।
२८. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ. १६१।
२९. जैनविद्या, अंक ४, अप्रैल १९८६, पृ. ६।
३०. (क) डा. हीरालाल जैन : भारतीय संस्कृति मे जैन-धर्म का योगदान।
(ख) डा. राजाराम जैन : र. सा. आ. प. पृ. २१-२२
३१. डा. नेमिचन्द्र शास्त्री : ती. म. आ. प. खंड ४, पृ. ११८-११९।
३२. प्रशस्ति गाथा ६।
३३. प्रशस्ति गाथा ८।
३४. पढमकलत्तंगरुहो संताणकतत्तविडवि पारोहो।
विणयगुणमणिनिहाणो तणलो तह नेमिचंदोत्ति।। वही ९
३५. (क) देखें—ती. म. आ. प. खंड ४, पृ. १२५।
(ख) जंबूसामिचरिउ की प्रस्तावना पृ. १९।
३६. सो जयउ कई वीरो जिणंदस्स कारियं जेण।
पाहाणमयं भवणं पियरुद्देसेण मेहवणे।। प्र. गा. १०
३७. देखें—जंबूसामिचरिउ की प्रस्तावना १९।
३८. (क) वही पृ. १३।
(ख) ती. म. आ प. खंड ४, पृ. १२६-२७।
३९. देखें—'करकंडुचरिउ' १०/२८।
४०. वही पृष्ठ ११-१२।
४१. देखें—ती. म. आ. प. भाग ४, पृ. १६०-१६१।
४२. 'करकंडुचरिउ' १०-२९।
४३. जिणिंदस्स वीरस्स तित्थे महंते।
महाकुंदकुंदण्णए धतसंते।।
... ... ।। 'सुदंसणचरिउ', १२-९-२
४४. वही १२-१०।
४५. 'परमात्म प्रकाश' २/२११।
४६. जैन विद्या अंक ९ (दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र महावीर जी राजस्थान) १९८८, पृ. २।
४७. ती. म. आ. प. खंड २, पृ २४७-२४८।
४८. (क) पासणाह चरिउ, प्रशस्ति।
(ख) वड्माणचरिउ, प्रशस्ति १०/४१।
४९. डा. नेमिचन्द्र शास्त्री : ती. म. आ. प. खंड ४, पृ. १३८-३९।
५०. 'वड्ढमाणचरिउ' की प्रस्तावना पृ. ७।
५१. वही पृ. ९।
५२. ती. म आ. प., खंड ४, पृ. १४५-१४९।
५३. डा. राजाराम जैन : रइधू साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, पृ. ४६-५ ।
५४. डा. हीरालाल जैन : 'मयणपराजय चरिउ' की प्रस्तावना पृ. ६१।

—प्राकृत शोध संस्थान, वैशाली

'अनेकान्त' के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के निमित्त श्री बाबूलाल जैन, २ अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-२
राष्ट्रीयता—भारतीय।
प्रकाशन अवधि—त्रैमासिक।
सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२
राष्ट्रीयता—भारतीय।
मुद्रक—गीता प्रिंटिंग एजेंसी, न्यू सीलमपुर, दिल्ली-५३
स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२
मैं बाबूलाल जैन, एतद् द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी पूर्ण जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

बाबूलाल जैन
प्रकाशक

जैनधर्म एवं संस्कृति के संरक्षण तथा विकास में तत्कालीन राजघरानों का योगदान

□ डॉ० कमलेश जैन, रिसर्च एशोसिएट
—सं. स. वि. वि., वाराणसी

वर्तमान बिहार प्रांत का धार्मिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक दृष्टि से अद्वितीय स्थान है। प्राचीनकाल में यह क्षेत्र 'मगध' और 'विदेह' के नाम से प्रसिद्ध होता है। 'मगध' जैनपुराणों में वर्णित ७३ देशों, महाभारत मे उल्लिखित १८ महाराज्यों, प्राकृत भगवती सूत्र के १६ जनपदों तथा वर्द्धमान महावीर एवं बुद्ध कालीन ६६ महाजनपदों में परिगणित किया गया है। प्राग्-ऐतिहासिक काल से मगध और विदेह श्रमणधर्म/जैनधर्म और संस्कृति के प्रधान केन्द्र रहे हैं। वर्तमान मे उपलब्ध जैनधर्म, साहित्य और संस्कृति का, प्राचीन काल में इसी क्षेत्र में सर्वाधिक संरक्षण, पोषण एव संवर्द्धन हुआ। जैन परम्परा के २४ तीर्थंकरों में से २२ तीर्थंकरो ने इसी क्षेत्र में निर्वाण प्राप्त किया। छह तीर्थंकरो के गर्भ, जन्म, ज्ञान और निर्वाण कल्याणक भी यहीं हुए।

यह वही पवित्र भूमि है, जहां पर वर्द्धमान महावीर एवं तथागत बुद्ध जैसे महान् पुरुषों का जन्म हुआ। इसी को उन्होने अपनी साधना तथा कर्मभूमि बनाया। और उत्कृष्ट, नैतिक, परमोपयोगी, सर्वजनग्राह्य, लोककल्याणकारी, सर्वजनहितकारी विचारों एवं क्रियाओं से शताब्दियों तक प्रभावित किया तथा आज भी हम उनके इस अवदान से आप्लावित तथा अनुप्राणित हैं। यह बिहार प्रांत उन्हीं ऐतिहासिक महान् आत्माओं की कर्मस्थली है, जिनके पावन उपदेशों ने न केवल भारतवर्ष को, अपितु समस्त संसार को अहिंसात्मक आचरण का प्रशस्त मार्ग दिखाया।

इस क्षेत्र के ऐतिहासिक राजाओं, महाराजाओं एवं सम्राटो ने भी शताब्दियों तक देश-विदेश की राजनीति को प्रभावित किया है। प्राचीन भारतीय इतिहास मे शिशुनागवश लेकर गुप्तवश तक के सभी प्रभावशाली सम्राट यही हुए। जिन्होंने इस क्षेत्र में रहकर सम्पूर्ण भारत पर शासन किया। उपलब्ध जैन-जैनेतर सन्दर्भों, पुरातात्विक अवशेषों के अनुसार, यहां के कई नरेश जैनधर्म के अनुयायी, अनुरागी एवं भक्त रहे हैं। उन्होने इस धर्म को न केवल राष्ट्रीय-धर्म के समान प्रतिष्ठा दी, वरन् उसके सरक्षण, उद्धार एव प्रचार-प्रसार मे श्री महनीय योगदान दिया है। इसकी प्रभावना के लिए उन्होने महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं। अत आधुनिक बिहार प्रांत का धार्मिक, राज-राजनैतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण से विशेष योगदान है।

प्रस्तुत निबन्ध में आधुनिक बिहार प्रान्तीय तत्कालीन प्रमुख जैन राजाओ, राज्य से सम्बद्ध प्रमुख व्यक्तियों एवं उनके द्वारा जैनधर्म, साहित्य एव सस्कृति के संरक्षण तथा प्रचार-प्रसार हेतु किए गये उपायो का सक्षिप्त आकलन किया गया है।

प्रायः ढाई हजार वर्ष पूर्व जिनधर्म या श्रमणधर्म की सर्वाधिक प्रभावना वर्द्धमान महावीर द्वारा हुई। जैनधर्म, जैन साहित्य एव जैन-संस्कृति का जो स्वरूप आज उपलब्ध है, उसका सबसे अधिक श्रेय वर्द्धमान महावीर को ही जाता है। वर्द्धमान का जन्म वैशाली के ज्ञातृकुल में हुआ था। उनके पिता सिद्धार्थ इस कुल के मुखिया थे। उनकी माता त्रिशला वैदेही वैशाली गणतत्र के शासक चेटक की बेटी थी (एक अन्य अनुश्रुति के अनुसार त्रिशला चेटक की बहिन थी)। महावीर ने अनेक वर्षों तक इसी बिहार प्रान्त के (दक्षिण बिहार) पर्वतीय तथा जांगलिक प्रदेशों में कठोर आत्म साधना की। उनका प्रथम उपदेश राजगृह या पञ्चशैलपुर के विपुलाचल पर हुआ। मगध सम्राट श्रेणिक बिम्बसार उनका प्रमुख श्रोता था। इन्द्र-

भूति आदि ग्यारह प्रधान शिष्य थे। महावीर का अनेक स्थानों पर विहार हुआ, इसमें यह स्वाभाविक ही था कि यह क्षेत्र उनके उपदेशों से प्रभावित हो। अतएव तत्कालीन प्रसिद्ध राजा-महाराजाओं में से अधिकतर उनके उपदेश से प्रभावित हुए। उनके उपदेश का सार गौतम आदि गणधरों (शिष्यों) ने द्वादशांग श्रुत के रूप में गूंथा। और वही द्वादशांगश्रुत विपुल जैन साहित्य का मूल आधार बना। अन्त में इसी क्षेत्र के एक विशिष्ट स्थान पावा में महावीर ने निर्वाण लाभ किया। महावीर के जीवन काल में ही उनके भक्त अनुयायियों की संख्या लाखों में पहुंच गयी थी, जिसका निरन्तर विकास होता रहा और धीरे-धीरे समस्त भारत तथा विदेश में भी उनके अनुयायी भक्त बने। इनके अतिरिक्त अनेक व्यक्ति पार्श्व आदि पूर्व तीर्थंकरों के ही उपासक बने रहे।

यद्यपि भगवान महावीर को आर्हत श्रमण या जिनधर्म की ऋषभादि पार्श्वनाथ पर्यन्त एक लम्बी परम्परा विरासत में मिली थी। उनके माता-पिता आदि भी पार्श्व के अनुयायी बताए गये है। महावीर परम्परा से प्राप्त उस धर्म को युगानुरूपता प्रदान की उसका पुनः उद्धार किया, और उसमें यथोचित परिवर्तन-परिवर्द्धन कर लोककल्याण के लिए उनका उपदेश किया। महावीर के उपदेशों से प्रभावित होकर राजा लोग उनके भक्त हुए। अनेक विशिष्ट व्यक्ति उनके सम्पर्क में आए और उनके अनुयायी होते गये। इस प्रकार तद्-तद् राजा का श्रद्धास्पद धर्म ही प्रायः राष्ट्रधर्म या राज्य धर्म के रूप में प्रतिष्ठित होता गया और जैनधर्म राजकुल का धर्म बना रहा। इस तरह ई. पू. की अनेक शताब्दियों में जैनधर्म को राष्ट्रधर्म-राज्य धर्म जैसा स्थान प्राप्त रहा, अर्थात् राज्याश्रय प्राप्त रहा।

ई. पू. सातवीं शती की मगध राज्यक्रान्ति के पश्चात् शिशुनागवंशीय प्रारम्भिक राजाओं में सर्वप्रसिद्ध राजा बिम्बिसार श्रेणिक था। इसके पूर्वजों ने काशी से आकर मगध की गद्दी पर अधिकार किया था। डा० काशीप्रसाद जायसवाल के अनुसार "काशी से आने वाला मगध का प्रथम नरेश शिशुनाग था और इसी कारण मगध का यह ऐतिहासिक राजवंश शिशुनागवंश कहलाता है। यह राजा उसी वंश में पैदा हुआ था, जिसमें ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती एवं तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जन्म हुआ था। अतः मगध के इस व्रात्य क्षत्रिय नागवंश का कुलधर्म प्रारम्भ में ही जैनधर्म रहा प्रतीत होता है। श्रेणिक के कुमारकाल में ही उसके पिता ने किसी कारण कुपित होकर उसे राज्य से निर्वासित कर दिया था। और अपने दूसरे पुत्र चिलातिपुत्र को अपने राज्य का उत्तराधिकार सौंप दिया था। अपने निर्वासन काल में श्रेणिक ने देश-देशान्तरों का भ्रमण किया और अनेक अनुभव प्राप्त किये। इसी निर्वासन काल में वह कुछ जैनेतर श्रमण साधुओं के सम्पर्क में आया और उनसे प्रभावित होकर उनका भक्त हो गया। साथ ही जैनधर्म से विद्वेष भी करने लगा। कुछ अन्य अनुश्रुतियों के अनुसार वह बौद्ध हो गया था। परन्तु जैन साहित्य के परिप्रेक्ष्य में यह निश्चय किया जा सकता है कि वर्द्धमान महावीर को केवल ज्ञान प्राप्त होने से पहले वह जैनधर्म का अनुयायी हो गया था। साथ ही प्राचीन जैन साहित्य के आलोक में यह अवश्य प्रतीत होता है कि श्रेणिक अपने पूर्वार्द्ध जीवन काल में किसी जैनेतर परंपरा (महावीर की मान्यताओं से पृथक् विचार वाले अन्य श्रमण) का भक्त हुआ होगा। संभवतः इसी लिए जैन परम्परा में उसकी अवनति (नरकादि गमन) की बात कही गयी है। और चूंकि वह महावीर की प्रथम ग्राम-सभा (समवशरण) होने तक पुनः जैनधर्म का पक्का श्रद्धालु (अनुयायी) हो चुका था। पश्चात् उसने जैनधर्म का प्रचार-प्रसार एवं उसकी प्रभावना भी की, सम्भवतः इसीलिए उसके जन्मान्तर में उत्कर्ष (भावी तीर्थंकर होने) की बात कही गयी है।

श्रेणिक के भाई के राज्य कार्य से विरक्त होने के फलस्वरूप लगभग ई. पू. छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में श्रेणिक मगध की राज्य गद्दी पर बैठा। उसने राजधानी राजगृह का पुनर्निर्माण किया। राज्य के संगठन एवं शासन को सुव्यवस्थित किया। एक कुशल एवं योग्य राजनीतिज्ञ के समान उसने पड़ौसी राजाओं से यथोचित सन्धियां की। अपने से शक्तिशाली राजाओं को अपना मित्र तथा सम्बन्धी बनाया। इस प्रकार श्रेणिक ने अत्यंत सूझ-बूझ एवं राजनीतिक निपुणता से ५२ वर्षों तक मगध पर शासन किया। ई. पू. ५३३ में उसकी मृत्यु हुई। जैन

साहित्य से यह भी पता चलता है कि बिम्बसार श्रेणिक मात्र एक विजयी, प्रतापवान् राजा ही नहीं था, अपितु वह एक कुशल शासक एवं निपुण राजनीतिज्ञ भी था। उसने एक नीतिपरायण आचारसंहिता के आधार पर शासन किया था, अतएव उसके राज्य में न तो किसी प्रकार की अनीति थी और न किसी प्रकार का भय था। प्रजा भली भांति सुख का अनुभव करती थी। वह दयावान् एवं मर्यादाशील था। साथ ही दानवीर एवं निर्माता भी था। उसने जैनधर्म और संस्कृति का बहुविधि प्रचार-प्रसार तथा विकास किया। उसने सम्मेदशिखर पर्वत पर जैन निषिद्यकाएँ बनवायी। अन्यत्र जैन मन्दिर बनवाये। अनेक स्तूपों का निर्माण कराया एवं अनेक चैत्य आदि भी उसके द्वारा बनवाये बताये गये हैं। राजगृह के प्राचीन भग्नावशेषों में श्रेणिक के समय की मूर्तियां आदि भी मिली बताई जाती हैं।

जैन अनुश्रुतियों के अनुसार श्रेणिक अपनी प्रिय पत्नी चेलना के प्रभाव से जैनधर्म का भक्त बना था। चेलना महावीर की मौसी या ममेरी बहिन थी। महावीर का प्रथम उपदेश विपुलाचल पर हुआ था। राजा श्रेणिक परिवार एवं परिकर सहित महावीर की धर्मसभा मे उपस्थित हुआ एवं श्रावकसघ का नेता बना था। रानी चेलना श्राविका संघ की मुखिया बनी। यह भी कहा जाता है कि श्रेणिक ने वर्द्धमान महावीर के समक्ष एक-एक करके साठ हजार प्रश्न उपस्थित किये और महावीर ने उनका सविस्तार समाधान किया था। इन्हीं प्रश्न-उत्तरो के आधार पर जैनवाङ्मय की रचना की गई।

श्रेणिक के अभयकुमार, मेघकुमार, वारिषेण; कुणिक आदि कई पुत्र थे। अभयकुमार आदि पुत्रों के विरक्त हो जाने के फलस्वरूप श्रेणिक ने चेलना से उत्पन्न पुत्र कुणिक अपरनाम अजातशत्रु को राज्यपाट सौंप दिया। और स्वय धर्मध्यानपूर्वक शेष जीवन व्यतीत करने का निश्चय किया। राज्यसत्ता प्राप्त होने पर कुणिक ने किसी (देवदत्त) के बहकाने पर अपने पिता को बन्दीगृह मे डाल दिया। कालान्तर मे वहीं उसकी मृत्यु हुई। इस तरह धर्मपरायण प्रतापी वंश एवं मगध के प्रथम ऐतिहासिक सम्राट श्रेणिक बिम्बसार का दुःखान्त हो गया।

जैन साहित्य के अनुसार अजातशत्रु कुणिक अत्यधिक महत्वकांक्षी एवं क्रूर स्वभाव का राजा था। कुणिक महावीर का भक्त था और अपने कुलधर्म जैनधर्म का ही अनुयायी था। केम्ब्रिज हिस्ट्री के अनुसार उसने जैन श्रावक के व्रत धारणकिये थे। कुणिक गौतम बुद्ध का भी आदर करता था, परन्तु वह उनका भक्त या अनुयायी नहीं था। बौद्ध साहित्य में उसकी बहुत निन्दा की गई है और उसे पितृहन्ता कहा गया है। परन्तु, जैन परम्परा में अजातशत्रु की प्रशसा मिलती है। उसने मूर्तिनिर्माण कला को प्रोत्साहन दिया और उसके द्वारा महावीर आदि तीर्थंकरो की मूर्तियां बनवाई गयी। इसके अतिरिक्त उसके द्वारा स्वय अपनी मूर्तियां भी बनवाई गयी प्रतीत होती हैं। परखम नामक स्थान से एक राजा की मूर्ति मिली है, जिसे डा० जायसवाल ने स्वय अजातशत्रु कुणिक की मूर्ति के रूप मे पहचाना है। उनके मतानुसार यह मूर्ति उसी के शासनकाल मे निर्मित हुई प्रतीत होती है।

कुणिक एक प्रतापी राजा था। वह शासनकार्य में भी अत्यन्त निपुण था। उसने अनेक विषयो मे अपने पिता की नीतियों का अपनाया। उसने साम-दाम-दण्ड-भेद की नीति अपनाकर अपने राज्य का अत्यधिक विस्तार किया तथा साम्राज्य शक्ति को भी सुदृढ़ किया। पिता-पुत्र दोनो के शासनकाल में भारत की श्रमण विचारधारायें मध्यएशिया होकर ईरान तक पहुंची थी।

अजातशत्रु के बाद उसका पुत्र उदयी या उदयिन मगध की राजगद्दी पर आसीन हुआ। जैन साहित्य में उसके बहुत उल्लेख मिलते हैं और उसका विवेचन एक महान् जैननरेश के रूप मे किया गया है। उसने पाटलिपुत्र को बसाया, और अपनी राजधानी को राजगृह से पाटलिपुत्र ले आया। इस नरेश की भी एक प्रस्तर मूर्ति मिली बताई जाती है। उदयी के पश्चात् शिशुनाग वंशीय कुछ और उत्तराधिकारियो ने मगध पर शासन किया। और वे भी जैनधर्म के भक्त तथा अनुयायी रहे, ऐसा माना जाता है।

कालान्तर मे मगध में नंदवश की स्थापना हुई। इस वंश का प्रसिद्ध उत्तराधिकारी काकवर्ण कालाशोक था। वह नंदवश का सर्वाधिक प्रतापी राजा था। खारवेल के

हाथीगुफा शिलालेख से यह तथ्य प्रकट है कि मगध के प्रतापी राजा नन्द (महापद्मनन्द) ने कलिंग पर विजय प्राप्त की और उस राष्ट्र के इष्टदेवता कलिंगजिन-आदि-जिन (तीर्थंकर ऋषभदेव की प्रतिमा को उठाकर पाटलिपुत्र (मगध) ले आया था। राजा खारवेल पुन. इस मूर्ति को मगध से कलिंग ले गया और अपने राज्य में उसे फिर प्रतिस्थापित किया। इस उल्लेख से राजानन्द एवं खारबेल की जिनधर्म में श्रद्धा एवं भक्ति का महान् परिचय मिलता है। विन्सेन्ट स्मिथ तथा कैम्ब्रिज हिस्ट्री के अनुसार, नन्दराजा जैनधर्म के अनुयायी थे। इस वश के अन्य उत्तराधिकारी भी जैनधर्मानुयायी रहे है। इन्ही नन्द-वंशीय राजाओ के समय में श्रुतकेवली भद्रबाहु की मृत्यु हुई। सम्भवतः इसी समय वह परम्पराप्रसिद्ध भयकर दुर्भिक्ष पड़ा, जिसकी सूचना पाकर भद्रबाहु दक्षिण की ओर विहार किए थे।

तत्पश्चात् चन्द्रगुप्त मौर्य ने आचार्य चाणक्य की सहायता से मौर्य साम्राज्य की स्थापना की। प्राचीन जैन अनुश्रुतियों के अनुसार चाणक्य के माता-पिता जन्म से ब्राह्मण और धर्म से श्रावक (जैन) बनाये गये हैं। चन्द्र-गुप्त ने चाणक्य के सहयोग से साम्राज्य का संगठन एवं शासन की सुचारु व्यवस्था की। उसने पड़ोसी राजाओं को जीतकर उज्जैनी को अधिकृत किया। और फिर दक्षिणदेश की विजय करने के लिए यात्रा की। सुराष्ट्र में गिरिनगर (गिरनार) के नेमिनाथ की उसने वन्दना की। और गिरिनगर पर्वत की तलहटी मे सुदर्शन झील नामक विशाल सरोवर का निर्माण करवाया। इसी झील के तट पर निर्ग्रन्थ मुनियो के निवास के लिए उसने अनेक गुफाएँ बनवायीं, जो आज चन्द्रगुफा आदि के रूप मे प्रसिद्ध है।

चन्द्रगुप्त मौर्य जैनधर्मानुरागी था। वह साधुओं का विशेष रूप से आदर करता था। जैनपरम्परा मे उसे शुद्ध क्षत्रिय कुल मे उत्पन्न कहा गया है, ब्राह्मण साहित्य की भांति वृषल या शूद्र नही। उसने अनेक अतिथिशालाएँ, धर्मशालाओं का निर्माण कराया। स्वय सम्राट श्रमणो और ब्राह्मणों को निमन्त्रित करता था। उनका आदर करता था। इस सम्राट के त्रिरत्न, चैत्य एव दीक्षावृक्ष आदि जैनधर्म के प्रतीकों से युक्त सिक्के भी प्राप्त हुए हैं।

२५ वर्ष राज्य करने के बाद अपने पुत्र बिन्दुसार को राज्य देकर चन्द्रगुप्त मुनि होकर दक्षिण की ओर चला गया। और श्रवणबेलगोल पहुंचा। वहां पर्वत पर तपस्या कर देहत्याग किया। उसी समय से वह पर्वत चन्द्रगिरि के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उनके समाधिमरण स्थान पर चरण-चिह्न भी बने हुए हैं। प्राचीन प्राकृत ग्रन्थ "तिलोय-पण्णत्ति" में चन्द्रगुप्त मौर्य को उन मुकुटबद्ध मांडलिक सम्राटों में अन्तिम कहा गया है, जिन्होंने दीक्षा लेकर अपना अन्तिम जीवन जैनमुनि के रूप में व्यतीत किया। उसके पुत्र बिन्दुसार को भी उसका अनुकरण करने वाला बताया गया है। उसने भी अनेक मन्दिरों आदि का निर्माण कराया था।

बिन्दुसार के पश्चात् उसका पुत्र अशोक मौर्यसाम्राज्य का अधिपति बना। आधुनिक इतिहासकारों ने उसकी गणना संसार के महान् सम्राटों मे की है। अशोक के अपने श्रद्धास्पद धर्म के विषय में कोई स्पष्ट जानकारी नही मिलती है। उसके सम्बन्ध मे सबसे बड़े आधार वे ऐति-हासिक शिलालेख हैं जो उसके द्वारा लिखाये माने जाते है। इन शिलालेखो के आधार पर कुछ विद्वानों की मान्यता बनी है कि वह बौद्धधर्म का अनुयायी था और बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार के उद्देश्य से उसने ये लेख लिख-वाये। कुछ अन्य विद्वानो के अनुसार, इन शिलालेखों के भाव और विचार बौद्धधर्म की अपेक्षा जैनधर्म के अधिक निकट हैं। उसका कुलधर्म भी जैन था इसलिए वह अपने सम्पूर्ण जीवन भर नही तो कम से कम अपने जीवनकाल के पूर्वार्द्ध मे वह अवश्य जैन रहा है। अनेक विद्वान् ऐसे भी हैं, जिनका मत है कि वह न मुख्यत. बौद्ध था और न ही जैन, अपितु एक नीतिपरायण सम्राट था, जिसने प्रजा के नैतिक उत्कर्ष के लिए एक ऐसा व्यवहारिक राष्ट्रधर्म लोक के सम्मुख प्रस्तुत किया था जो सर्वजनग्राह्य था। उसके जीवन के प्रमुख एवं भीषण कलिंग युद्ध ने उसकी मानसिक कायाकल्प कर दी, और उसने युद्धों से विरत रहने की प्रतिज्ञा की। फिर उसने अनेक लोकोपयोगी कार्य कराये। अशोक श्रमण और ब्राह्मण दोनों वर्गों का आदर करता था। उसने पशुवध का निवारण करने और

मांसाहार का निषेध करने के लिए कड़े नियम बनाये थे। वर्ष के ५६ दिनों मे उसने सभी स्थानो पर सब प्रकार की जीवहिंसा बन्द रखने के लिए राजाज्ञा जारी की थी। ये दिन कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे वर्णित पवित्र दिनों एवं जैन परम्पराओं में मान्य पर्व-दिनो से प्राय: पूरी तरह मेल खाते हैं। शिलालेखों में अशोक के द्वारा निर्ग्रन्थों(नग्नमुनियों)का विशेष आदर करने के उल्लेख है। राजतरंगिणी एवं आइने-अकबरी के अनुसार अशोक ने कश्मीर मे जैनधर्म का प्रवेश कराया था और इस कार्य मे उसने अपने पिता बिन्दुसार तथा पितामह चन्द्रगुप्त का अनुकरण किया था।

सम्राट अशोक के बाद उसका पुत्र कुणाल, जिसका दूसरा नाम सुयश भी है, मौर्य साम्राज्य का उत्तराधिकारी बना। किन्तु वह अपनी विमाता के छल से अन्धा हो गया था। प्रारम्भ मे उसके पुत्र सम्प्रति ने पिता के नाम से राज्य किया। कालान्तर मे सम्प्रति स्वतंत्र राज्य करने लगा। सम्प्रति ने उज्जैनी को अपनी प्रधान राजधानी बनाया। अपने पितामह अशोक की तरह वह भी एक महान्, शान्तिप्रिय एवं प्रतापी सम्राट था। जैनाचार्य सुहस्ति उसके धर्मगुरु थे। उनके उपदेश से सम्प्रति ने एक आदर्श राजा की तरह जीवन बिताया। उसने जैनधर्म की प्रभावना एवं प्रचार-प्रसार के लिए अथक प्रयत्न किये। बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार मे जो स्थान सम्राट अशोक को दिया जाता है, जैनधर्म प्रचार-प्रसार मे उससे कही अधिक महत्त्व सम्राट सम्प्रति को दिया जा सकता है। जैनसाहित्य विशेषतया, श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों मे सम्प्रति के जीवन परिचय आदि के सम्बन्ध विषद वर्णन प्राप्त होते हैं। सम्प्रति ने जैन तीर्थों की वन्दना की और जीर्णोद्धार कराये। अनगिनत जिनालयो एवं मूर्तियो को विभिन्न स्थानों में निर्माण तथा प्रतिष्ठापित कराया। विदेशों मे जैनधर्म के प्रचार हेतु प्रचारक भिजवाये। साम्राज्य भर मे अहिंसा प्रधान जैन आचार का प्रसार करवाया। कर्णाटक के श्रवणबेलगोल मे भी उसके द्वारा जैन मन्दिरों का निर्माण कराया बताया जाता है।

प्रो० जयचन्द्र विद्यालकार के अनुसार "चाहे चन्द्रगुप्त के चाहे सम्प्रति के समय मे जैनधर्म की बुनियाद तामिल भारत के नये राज्यों में भी जा जमी, इसमे सन्देह नहीं। उत्तर पश्चिम के अनार्य देशों में भी सम्प्रति के समय में जैन प्रचारक भेजे गये और वहां जैन साधुओं के लिए अनेक विहार स्थापित किये गये। इस प्रकार अशोक और सम्प्रति दोनों के कार्यों से आर्यसंस्कृति एक विश्व-संस्कृति बन गयी और आर्यावर्त का प्रभाव भारत की सीमाओं के बाहर तक पहुंच गया। अशोक की तरह उसके इस पोते ने भी अनेक इमारते बनवाई। राजपूताने की जैनकला कृतियाँ उसके समय की मानी जाती हैं। जैन लेखकों के अनुसार सम्प्रति समूचे भारत का स्वामी था।"

'विन्सेण्ट स्मिथ के अनुसार" सम्प्रति प्राचीन भारत में बड़ा प्रभावक शासक हुआ है। उसने, अशोक ने जिस प्रकार बौद्धधर्म का प्रचार किया था उसी प्रकार जैनधर्म का प्रचार किया। धर्म प्रचार के कार्यों की दृष्टि से चन्द्रगुप्त से भी बढ़कर इसका स्थान है।" कुछ विद्वानो का यह भी मत है कि अशोक के नाम से प्रचलित शिलालेखों मे से कई शिलालेख सम्प्रति द्वारा खुदवाये गये हो सकते हैं। उनका कथन है कि सम्राट अशोक की उपाधि "देवाना प्रिय" थी और सम्प्रति को वह "प्रियदर्शिन" कहता था। अत: जिन लेखों मे "देवाना प्रियस्य प्रियदर्शिन राजा" द्वारा उनके लिखाये जाने का उल्लेख है। वे अभिलेख जिनमें जीवहिंसा निषेध एव धर्मोत्सवों आदि का वर्णन है।

सम्प्रति के पश्चात् उसके अनेक उत्तराधिकारी भी अपने पूर्वजों की भाति जैनधर्म के भक्त रहे। उन सबके द्वारा भी दूर-दूर तक जैनधर्म का प्रचार होना बताया जाता है। कालान्तर मे मौर्यवंश के साथ-साथ मगध साम्राज्य का भी अन्त हो गया। इसके बाद ई. पू. २-१ शती मे शुंगवंश की शासन स्थापना होने पर मगध एवं मध्यप्रदेश से जैनधर्म का राज्याश्रय समाप्त हो गया। इस प्रकार अपने मूल केन्द्र मे ही जैनधर्म शक्तिहीन, प्रभावहीन एव अवनत सा हो गया। और जिस अहिंसामयी जैनधर्म ने अनेक शताब्दियों तक न केवल भारतवर्ष की विचारधारा को प्रभावित किया, वरन् विदेशी चिन्तन को भी प्रभावित किया, वही जैनधर्म अशक्त सा हो गया।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट है कि आधुनिक बिहार प्रान्त प्रागैतिहासिक काल से जैनधर्म एव संस्कृति का प्रधान केन्द्र रहा है और इस धर्म एवं सस्कृतिके संरक्षण, पोषण एव विकास में तत्कालीन राजाओं-राजघरानों का अप्रतिम योगदान है। ☐

लक्षाधिक जिनविम्बों के प्रतिष्ठापक :—

साहु श्री जीवराज पापड़ीवाल

☐ ले० श्री कुन्दनलाल जैन, दिल्ली

श्री जीवराज पापडीवाल मुंडासा नगर के निवासी थे जो तत्कालीन राजस्थान का एक प्रसिद्ध नगर था और इस समय यहां श्री राजा स्योंसिंह रावल का राज्य था जैसा कि फतेहपुर स्थित भगवान पार्श्वनाथ की मूर्ति के लेख से ज्ञात होता है :—

"सं० १५४८ बैसाख सुदि ३ श्रीमूलसंघे भ० जिनचन्द्रदेवा: साहु जीवराज पापड़ीवाल नित्य प्रणमति सौख्य शहर मुडासा श्री राजा स्योंसिंह रावल ।"

श्री पापड़ीवाल खण्डेलवाल जाति के जैन थे। पापड़ीवाल आपका गोत्र था। शाह वखतराम ने अपने "बुद्ध बिलास" नामक ग्रन्थ मे इस गोत्र का उल्लेख निम्न शब्दों में किया है "जनवाणी भूलना पापड़ीवाल बनाये।"

श्री पापड़ीवाल दि० जैन संस्कृति के प्रबल पोषक एवं संरक्षक थे। जब उन्होने यवनो द्वारा मूर्तिभंजन का दुरभियान देखा तो उनकी आत्मा तड़फ उठी और उन्होंने मन ही मन प्रतिज्ञा की कि यवन लोग जितनी भी मूर्तियां तोड़ेंगे मैं उतनी ही नवीन प्रतिमाओ का निर्माण कर उन्हें जगह-जगह प्रतिष्ठित कराऊंगा। यद्यपि धृष्ट यवनो ने पुरानी कलापूर्ण अनेको मूर्तियों का भंजन कर कला एवं पुरातत्व का अपमान तो किया ही साथ ही भारतीय संस्कृति की बहुमूल्य धरोहर को सदा के लिए नष्ट कर दिया खण्डित कर दिया। इस पीड़ा से पीड़ित श्री पापड़ीवाल ने लक्षाधिक जिनविम्बों का निर्माण करवाया और अक्षय तृतीया (बैशाख शुक्ल तृतीया) सं० १५४८ तदनुसार ई. सन् १४९२ मे एक विशाल गजरथ प्रतिष्ठा महोत्सव कराया, इस महायज्ञ के होता श्री भ० जिनचन्द्र थे जो जयपुर शाखा के दिल्ली पट्ट पर आसीन थे। इसी प्रतिष्ठा समारोह में श्री पापड़ीवाल ने जो लक्षाधिक जिनविम्बो का निर्माण कराया था, उन्हें प्रतिष्ठित कराया और फिर उन्हें भिन्न भिन्न स्थानों पर विराजमान कराया।

इस शुभ कार्य के लिए श्री पापडीवाल ने यात्रासंघ का आयोजन किया जिसमें हजारों यात्री सम्मिलित थे। इस यात्रा के लिए सहस्राधिक विशिष्ट वाहनों का तथा पालकियों का निर्माण कराया गया था जिनमे सभी जिनविम्ब विधिवत् रूप से विराजमान कर शिखर जी आदि क्षेत्रो की यात्रा के लिए प्रस्थान किया। जिनविम्बो की प्रतिष्ठा और आदर को ध्यान में रखते हुए लोग जिनविम्बों की पालकियो को स्वयं कंधों पर रख कर ले जाते थे। मार्ग मे जहां विश्राम होता वही मन्दिर में एक मूर्ति विराजमान कर देते। जहां मन्दिर या चैत्यालय नही होता वही चैत्यालय का निर्माण करा कर मूर्ति विराजमान करा देते। इस तरह बैशाख शुक्ला तृतीया (अक्षय तृतीया) सं० १५४८ की प्रतिष्ठित मूर्तिया श्री पापड़ीवाल ने जहां जहां की तीर्थ यात्रा की वही वही विराजमान करते हुए आगे बढते गये।

इस तरह श्री पापड़ीवाल द्वारा प्रतिष्ठित सं० १५४८ की मूर्तियां गुजरात, पंजाब, हरियाणा, बंगाल उ० प्र०, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, बिहार, बुन्देलखड आदि प्रदेशों मे प्रचुरता से मिलती हैं। ये मूर्तियां इस बात की प्रतीक हैं कि यवनो द्वारा मूर्तिभंजन को चुनौती को श्री पापड़ीवाल ने मिशन के रूप मे सभाला था और वे अपने मिशन में पूर्णतया कामयाब भी हुए थे। दि० जैन संस्कृति के प्रबल पोषक श्री पापड़ीवाल की उस महान् गजरथ प्रतिष्ठा को इस अक्षय तृतीया को पांच सौ वर्ष हो जावेंगे, दि० जैन समाज को इस दिशा में कुछ समारोह कर श्री पापड़ीवाल का पुण्य स्मरण करना चाहिए। यहां हम कुछ मूर्ति लेख प्रस्तुत कर रहे हैं जिनमें श्री पापड़ीवाल एवं भ० श्री

जिनचन्द्र का नामोल्लेख है, ये मूर्तियां छतरपुर के जैन मन्दिरों में विद्यमान हैं ये मूर्तियां मूलरूप से छतरपुर की कम हैं पर आसपास के गांवों से जो उजड़ गये हैं लाकर यहा के मन्दिरों में विराजमान कर दी गई हों। कुछ मूर्तियों मे स १५४८ के पहले का संवत् उत्कीर्ण है इससे ऐसा लगता है कि जब ये मूर्तियां बनीं उसी वर्ष का संवत् उत्कीर्ण कर दिया गया हो क्योंकि लक्षाधिक जिनविम्बों का निर्माण एक दो नहीं अपितु दशों वर्षों में हो पाया होगा पर सामूहिक प्रतिष्ठा और गजरथ महोत्सव निश्चय ही अक्षय तृतीया सं. १५४८ में हुआ था। कुछ मूर्ति लेख —

(१) भ० पार्श्वनाथ श्वेत पाषाण पद्मासन १३' ऊँची ८.५" चौड़ी सं. १५४३ वर्षे बैशाख सुदी ३ मूल संघे भ० श्री जिनचन्द्र शाह जीवराज पापडीवाल नित्यं प्रणमते। सह सुग सा श्री।

(२) भ० पार्श्वनाथ श्वेत पाषाण पद्मासन १६" उ. १०.५" चौड़ी स० १५४३ बैशाख सुदी ३ श्री मूल सघे भ० श्री जिनचन्द्र जीवराज पापड़ीवाल वस प्रणमत सुरम सरमने श्री रजा जिए संघ ····।

(३) श्री भ० चन्द्रप्रभु श्वेत पाषाण पद्मासन ३.१३" उ. ६.५" चौड़ी सं. १५४६ बैशाख सुदी ३ मूलसंघे भ० जिनचन्द्रदेव शाह जीवराज पापडीवाल।

(४) भ० पार्श्वनाथ श्वेत पाषाण पद्मासन १३" उ. १०" चौड़ी सं. १५४५ वर्षे बैशाख सुदी ३ शुभ जिनराज मानन्द वा जिनचन्द्र जीवराज।

(५) भ० पार्श्वनाथ श्वेत पाषाण ४०" उ. २८" चौड़ी स. १५४८ बैशाख सुदी ३ भ० श्री जिनचन्द्र देव शाह जीवराज पापड़ीवाल मुरासा सोसिंघ राजा जी।

(६) भ० चन्द्रप्रभु श्वेत पाषाण पद्मासन १७" उ. १३" चौड़ी सं. १५४८ बैशाख सुदी ३ श्री मूल सघे भ० श्री जिनचन्द्र देव शाह जीवराज पापड़ीवाल नित्य प्रणमते शर्म श्री रासी जाससघ।

(७) भ० अजितनाथ श्वेत पाषाण पद्मासन १५" उ. १२" चौड़ी सं. १५४८ वर्षे बैशाख सुदी ३ भ० श्री जिन-चन्द्र देव··· त्रुटित अश मे पापड़ीवाल का नाम है।

(८) भ० पार्श्वनाथ श्वेत पाषाण पद्मासन ३.२५" उ. १०" चौड़ी सं. १५४८ बैशाख सुदी ३ श्री मूलसघे भ० जिनचन्द्र देव शाह जीवराज पापड़ीवाल वीतरागाय ······प्रणमत।

(९) भ० पार्श्वनाथ श्वेत पाषाण पद्मासन १६" उ. १०" चौड़ी सं. १५४८ वर्षे बैशाख सुदी ३ मूलसंघे भ० श्री जिनचन्द्र देव जीवराज पापड़ोवाल।

(१०) भ० चन्द्रप्रभ श्वेत पाषाण पद्मासन १५.५" उ. ११.५" चौडी सं. १५४८ वर्षे बैशाख सुदी ३ श्री मूलसघे भ० जिनचन्द्र देव तस्य जीवराज शिष्य दीवी जनत प्रणमत शुभं भवतु नित्यं प्रणमत।

(११) भ० पार्श्वनाथ श्वेत पाषाण पद्मासन १३.५" उ. ८.५" चौडी सं. १५४६ वर्षे बैशाख सुदी ५ मूलसंघे भ० श्री जिनचन्द्र देव शाह जीवराज पापड़ीवाल नयसु रामासुर मम श्रीरस्तु। तिममद्ये

(१२) भ० पार्श्वनाथ श्वेत पाषाण पद्मासन १५" उ. १०" चौड़ी सं. १४८० वर्षे बैशाख सुदी ३ श्री मूलसंघे भ० श्री चन्द्रदेव शाह जीवराज पापडीवाल नित्यं प्रणमत सरमम श्री राजा जी स्योसिंह रावल लसहार मुद्दाम।

नोट :—इसमें स. १४८० गलत है यह सं. १५४८ होना चाहिए। 'लिपिकार प्रथम अक' के आगे ५ लिखना भूल गया जिससे अन्तिम अंक शून्य जोड़ दिया।

(१३) भ० अजितनाथ श्वेत पाषाण पद्मासन १०" उ. ८" चौडी स. १५४८ वर्षे मूलसघे······भ० जिनचन्द्र और जीवराज पापड़ीवाल त्रुटित अश में होना चाहिए।

(१४) भ० पार्श्वनाथ श्याम पाषाण पद्मासन ७" उ. ५" चौड़ी स. १५४८ वर्षे ···त्रुटित अश वही भ० जिनचन्द और जीवराज का उल्लेख होगा।

(१५) भ० चन्द्रप्रभु श्वेत पाषाण पद्मासन १०" उ. ८" चौड़ी स. १५४८ वर्षे······ त्रुटित अश में उपरोक्त नाम होंगे।

(१६) भ० अरहनाथ श्वेत पाषाण पद्मासन ११" उ. ६" चौड़ी स. १५४८ वर्षे बैशाख सुदी जीवराज··· "

(१७) भ० मुनि सुव्रतनाथ श्वेत पाषाण पद्मासन ८" उ. ६" चौड़ी स. १५४८ वर्षे बैशाख सुदी ३ ·····त्रुटित अश में वही नाम होंगे।

(१८) भ० पार्श्वनाथ श्वेत पाषाण पद्मासन १०.५"

उ. ७" चौड़ी सं. १५४८ वर्षे······त्रुटित अंश में वही नाम होंगे।

(१९) भ० पार्श्वनाथ श्वेत पाषाण पद्मासन ३.७" उ. ४" चौडी स. १५४८ वर्षे वैशाख······त्रुटित अश मे वही नाम होंगे।

(२०) भ० अजितनाथ श्वेत पाषाण पद्मासन १०" उ. ८" चौड़ी सं. १५४८ वर्षे वैशाख सुदी ३ श्री जिनचन्द्र देव जय श्री भट्टारक राजे सा सघे।

(२१) भ० पार्श्वनाथ श्वेत पाषाण पद्मासन १५" उ. १०" चौड़ी सं. १५४८ वर्षे वैशाख सुदी ३ मूलसघे भ० जिनचन्द्र देव·········

(२२) तीर्थंकर प्रतिमा चिन्ह उकेरना भूल गये श्वेत पाषाण पद्मासन १७" उ. १३.५" सं. १५४८ वैशाख सुदी ३ श्री मूलसंघे भ० जिनचन्द्र देव शाह जीवराज पापड़ीवाल······

(२३) भ० चन्द्रप्रभु श्वेत पाषाण पद्मासन ९" उ. ७" चौड़ी मूर्तिलेख क्रमांक २२ के समान।

(२४) भ० अजितनाथ श्वेत पाषाण १४' उ. १०.२५" चौड़ी मूर्ति लेख क्रमांक २२ के समान।

(२५) भ० महावीर श्वेत पाषाण पद्मासन १२" उ. ९.५" चोड़ी सं. १५४८ वर्षे वैशाख सुदी ३ श्री मूलसंघे भ० श्री जिनचन्द्रदेव शाह जीवराज पापडीवाल नित्यं प्रणमति सदामस्तु।

(२६) भ० अजितनाथश्वेत पाषाण पद्मासन १४" उ. १०" चौड़ी मूर्ति लेख क्रमांक २५ के समान।

(२७) भ० चन्द्रप्रभु श्वेत पाषाण पद्मासन १२" उ. ९.५" चौड़ी मूर्ति लेख क्रमांक २५ के समान।

(२८) भ० चन्द्रप्रभु श्वेत पाषाण पद्मासन १२" उ. ९" चौड़ी मूर्ति लेख क्रमांक २५ के समान।

(२९) भ० सुपार्श्वनाथ श्वेत पाषाण पद्मासन ११" उ. ९" चौड़ी मूर्ति लेख क्रमांक २५ के समान।

(३०) भ० पार्श्वनाथ श्वेत पाषाण पद्मासन १३' उ. ८" चौड़ी मूर्ति लेख क्रमांक २५ के समान।

(३१) भ० पार्श्वनाथ श्वेत पाषाण पद्मासन १३" उ. ९.२५" चौड़ी सं. १५४८ वरष वैशाख सुदी ३ श्री मूलसघे भ० श्री जिनचन्द देवा: शाह जीवराज पापड़ीवाल नम्र प्रणमति सर मम श्री राजा जी सिवसिंह उका सहर मुडासा।

(३२) भ० पार्श्वनाथ श्वेत पाषाण पद्मासन १३.५" उ. ८.२५ चोड़ी सं. १५४८ वरष वैशाख सुदी ३ श्री मूल सघे सरस्वती गच्छे भट्टारक जी श्रीजिन चन्द्रदेव······ ···

(३३) भ० ऋषभनाथ श्वेत पाषाण पद्मासन १९" उ. १३" चाड़ी श्री सं. १५५ वैशाख सुदी १ श्री मूलसघे भट्टारक श्रीजिन चन्द्रदेव शाह जीवराज पापड़ीवाल नित्य प्रणमति सोहाराम रा सागये संघा रावल।

उपर्युक्त मूर्तिलेख श्रीकमलकुमार द्वारा सकलित- "*जिनमूर्ति-प्रशस्ति लेख से साभार*"।

उपर्युक्त मूर्तिलेखों से प्रतीत होता है कि श्री पापड़ीवाल ने मुख्यतया श्वेत पाषाण की और पद्मासन प्रतिमाएँ ही निर्मित कराई थी। उन्हें अक्षय तृतीया बहुत अभीष्ट थी। अक्षय तृतीया का जैन सस्कृति में अपना ही विशेष महत्व है, आज के शुभ दिन भ० आदिनाथ को हस्तिनापुर के राजा श्रेयांस ने षड्मासोपवास के बाद इक्षु रस का आहार दान दिया था तब से अक्षय तृतीया का जैन इतिहास मे प्रतिष्ठित पर्व के रूप में प्रचलन है, यह शुभ दिन हर मांगलिक कार्य के लिए श्रेयस्कर समझा जाता है इसीलिए श्री पापडीवाल ने इस दिन को गजरथ प्रतिष्ठा कराई थी। श्री पापडीवाल राजश्रेष्ठि थे इसीलिए इतना विशाल आयोजन करा सके पर इतने विशाल कार्य मे भूले होना भी सम्भव है इसीलिए किसी मूर्ति में चिन्ह का उकेरना रह गया, तो किसी मे सवत् गलत अंकित हो गया तो किसी में नामोल्लेख करना भी रह गया पर ये सब भूले क्षम्य हैं।

श्री पापड़ीवाल भ० जिनचन्द्र के शिष्य थे जिन्होने इनके जिनबिम्बों को प्रतिष्ठा की थी, वे अपने समय के प्रतिष्ठित विद्वान् और प्रभावक आचार्य थे। वे मूल संघ सरस्वती गच्छ बलात्कार गण के दिल्ली पट्टाधीश आचार्य पद्मनन्दी के प्रशिष्य तथा शुभचन्द्र के शिष्य थे। आचार्य जिनचन्द्र तर्क व्याकरणादि ग्रन्थ कुशली, मार्ग प्रभावक, चारित्रचूडामणि आदि विरुदो (उपाधि या विशेषण) से सुशोभित थे। उन्होने "चतुर्विंशत जिन स्तोत्र" नामक रचना का भी निर्माण किया था। (शेष पृ० २४ पर)

१७वीं शताब्दी के महान् कवि कविवर बुलाकीदास एक परिचय

उषा जैन, एम. ए., रिसर्च स्कालर

जैन कवियों द्वारा निबद्ध हिन्दी साहित्य इतना अधिक विशाल एवं विस्तृत है कि उसकी जानकारी प्राप्त करना भी कठिन लगता है। यद्यपि विगत ४०-५० वर्षों मे जैन हिन्दी साहित्य को प्रकाश मे लाने के बहुत प्रयास हुए हैं और डा० कामताप्रसाद जैन, पं० नाथूराम प्रेमी, डा० नेमीचन्द्र शास्त्री, प० परमानन्द शास्त्री देहली एव डा० कस्तूरचन्द जी कासलीवाल, जयपुर ने हिन्दी जैन कवियों द्वारा निबद्ध हिन्दी साहित्य को प्रकाश मे लाने को महत्वपूर्ण कार्य किया। डा० कासलीवाल साहब तो जैन कवियो द्वारा निबद्ध हिन्दी साहित्य को २० भागो मे प्रकाश मे प्रकाश लाने का एक भागीरथ प्रयत्न कर रहे है जिसके १० भाग प्रकाशित हो चुके हैं। इसी कार्य के लिए उन्होंने श्री महावीर ग्रन्थ अकादमी नामक सस्था को स्थापना की और अब तक १०० से अधिक हिन्दी जैन कवियों पर १० भागो मे विस्तृत समीक्षा की है। इस प्रकार का यह पहला प्रयास है फिर भी अभी तक जैन कवियो की इतनी अधिक रचनाएँ प्रकाशित एव अचर्चित हैं जिनका प्रकाशन बहुत ही आवश्यक है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि श्री महावीर ग्रन्थ अकादमी के माध्यम से हिन्दी मे शोध करने वाले मुझ जैसी शोधार्थियो को विशेष लाभ हो सकेगा।

मैं विगत दो वर्षों से १ वीं-१७वी शताब्दी के हिन्दी जैन कवियो पर शोध कार्य कर रही हू मुझे शोध के क्षेत्र में इन दो शताब्दियो में होने वाले प्रयासो, कवियो का परिचय प्राप्त हुआ और उनकी महत्वपूर्ण कृतियो को पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। प्रस्तुत लेख मे मैं एक ऐसे कवि का परिचय देने का प्रयास कर रही हू जिसकी कृतियों ने मुझे अतीव प्रभावित किया तथा उसने हिन्दी साहित्य को अत्यधिक महत्वपूर्ण सामग्री भेंट की। ऐसे कवि का नाम है कविवर बुलाकीदास जिसको काव्य रचना करने की प्रेरणा स्वय उनकी माता श्री जैनुलदे ने दी थी। इस प्रकार की एक भी महिला का नाम नही मिलता जिसने अपने पुत्र को काव्य रचना करने की ओर प्रेरित किया हो। इनके पूर्वज बयाना रहते थे। लेकिन रोजी-रोटी के लिए आगरा आकर रहने लगे थे। बुलाकीदास के पिता का नाम नन्दलाल था और उनकी मां थी जैनुलदे। बुलाकीदास का जन्म कब हुआ इसका उनकी रचनाओं में कोई उल्लेख नही मिलता लेकिन वे महाकवि बनारसीदास की मृत्यु के पश्चात् आगरा मे उत्पन्न हुए। उनके समय में आगरा जैन विद्वानो का केन्द्र था। और उसी साहित्यिक वातावरणमें कविका लालन-पालन हुआ। उनकी माता जैनुलदे स्वाध्यायशीला महिला थी इसलिए उनका अवश्य ही किसी न किसी विद्वान से सम्पर्क रहा होगा।

बुलाकीदास का बचपन का नाम बुलचन्द था। कुछ बड़े होने के पश्चात् अपनी माता के साथ आगरा छोड़ दिल्ली आकर रहने लगे। यहीं पर कवि ने गोपाचल के (ग्वालियर) निवासी पं० अरुणरत्न के पास जैन ग्रन्थों का विशेष अध्ययन किया। बुलचन्द देहली मे आकर बुलाकीदास कहलाने लगे और उनका यह नया नाम ही सर्वत्र प्रसिद्ध हो गया। हिन्दी मे काव्य रचना करने की उनकी रुचि जागृत हुई जिसकी प्रेरणा उन्हें अपनी मां से प्राप्त हुई। कवि ने सर्व प्रथम संवत् १७४७ में अपनी प्रथम कृति 'प्रश्नोत्तर श्रावकाचार" लिखने का श्रेय प्राप्त किया। यह कृति भट्टारक सकलकीर्ति के "प्रश्नोत्तर श्रावकाचार" का हिन्दी पद्यानुवाद के रूप में है। जैन कवियों ने सस्कृत व प्राकृत की सभी मौलिक कृतियों का हिन्दी में पद्यानुवाद करने का जो मार्ग अपनाया वह बहुत ही महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ और हिन्दी के प्रचार प्रसार में उनका सर्वाधिक योगदान रहा। प्रश्नोत्तर श्रावकाचार की रचना जब समाप्त हुई तो उनकी मां जैनुलदे ने उसे आदि से अन्त तक सुना और अपने लाडले पुत्र को आशीर्वाद दिया और उसे मानव जीवन को सार्थक करने वाला कार्य बतलाया। प्रश्नोत्तर श्रावकाचार का सं० १७४७ बैशाख सुदी द्वितीया बुधवार को जहाँनाबाद (दिल्ली) एव पानीपत (हरियाणा) में पूर्ण किया जिसका

कवि ने निम्न प्रकार वर्णन किया—

सत्रहसे सैताल में दूज सुदी बैशाख।
बुधवार मेरोहिनी भयो, समापत भाष ॥१०४॥
तीनि हिसे या ग्रन्थ के, भये जहानाबाद।
चौथाई जल पथ विषै, वीतराग परमाद ॥१०५॥

कवि की इस प्रथम रचना का सर्वत्र स्वागत हुआ और मन्दिरों में उसका स्वाध्याय होने लगा।

पानीपत में कुछ समय रहने के पश्चात् बुलाकीदास अपनी माता के साथ वापस देहली लौट आये लेकिन माता और पुत्र दोनों ही स्वाध्याय प्रेमी थे। बुलाकीदास स्वय भी प्रवचन करते और अपने ज्ञान से सबको लाभान्वित करते। कुछ समय पश्चात् माता ने अपने पुत्र के समक्ष पाण्डवपुराण को दिन्दी मे निबद्ध करने का आग्रह किया क्योंकि संस्कृत व अपभ्रंश दोनो ही उसके लिए सहज समझ मे नही आती थी। माता ने कहा यद्यपि शुभचन्द्र का पाण्डवपुराण संस्कृत मे उपलब्ध है लेकिन उसको कठिन है। बुलाकीदास को माता की बात अच्छी लगी और उन्होने पाण्डवपुराण को हिन्दी मे निबद्ध करने का कार्य अपने हाथ मे ले लिया। वे प्रतिदिन जितने छन्द निबद्ध करते अपनी माता को समझाते थे। काव्य निबद्ध करने का और माता को उसे सुनाने का कार्य कितन ही महीनों अथवा वर्षों तक चलता रहा लेकिन स० १७५४ असाढ़ सुदी द्वितीया का वह पुण्य दिन था जब कवि ने पूरे पाण्डवपुराण को हिन्दी मे निबद्ध करने का सौभाग्य प्राप्त किया। कवि को अपनी माँ का आशीर्वाद प्राप्त करना कितना महत्वपूर्ण और प्रिय होता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण कवि द्वारा निबद्ध पुराण में अपनी माता के नामोल्लेख को पढ़ करके जाना जा सकता है।

पाण्डवपुराण का हिन्दी साहित्य में महत्वपूर्ण उल्लेख है। जैन समाज मे इन काव्यो का विगत ३०० वर्षों से पठन-पाठन हो रहा है। राजस्थान के जैन ग्रन्थ भंडारों में पाण्डवपुराण की पचासों पाण्डुलिपियां संग्रहीत हैं। जिनका उल्लेख डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, जयपुर ने राजस्थान के जैन ग्रन्थ सूची के पाचो भागों मे किया है। यहीं नहीं कवि बुलाकीदास एव उनकी रचनाओं का विस्तृत अध्ययन श्री महावीर ग्रन्थ अकादमी द्वारा प्रकाशित कवि बुलाखीचन्द बुलाकीदास एव हेमराज नामक भाग-६ मे किया है। जिसमे शोधार्थियों को कवि के जीवन एव उनकी कृतियों के अध्ययन मे पूरी-पूरी सुविधा मिली है।

अन्त मे मैं यही कहना चाहूंगी कि बुलाकीदास का पाण्डवपुराण हिन्दी की महत्वपूर्ण कृति है जो वस्तु वर्णन, भाषागत, विशेषताओं, छन्द, अलकार एवं रस की दृष्टि से १७०० शताब्दी की एक महत्वपूर्ण काव्यकृति है। कथा प्रधान होने पर भी जिसमें काव्य कला के स्थान-स्थान पर दर्शन होते हैं। इसलिए ऐसी हिन्दी की बेजोड़ कृति का जितना अधिक समीक्षात्मक अध्ययन होगा उतना ही काव्य का गौरव बढ़ेगा।

—कसरावद
प. निमाड़—म. प्र.

पृ० २२ का शेषांश)

इस अक्षय तृतीया ५ मई १९९२ को श्री पापडीवाल के इस शुभ प्रतिष्ठित कार्य को ५०० वर्ष हो जावेगे जैन समाज को उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन हेतु विभिन्न स्थानो पर उच्च स्तरीय समारोह एवं कार्यक्रम आयोजित किये जावें और उस महान् धर्मप्रभावक का पुण्य स्मरण किया जावे तथा जैन संस्कृति के इस मूक सेवक के प्रति विनयांजलि एवं श्रद्धांजलि प्रस्तुत की जावे।

यहां हमने केवल छतरपुर के ही मूर्तिलेख प्रस्तुत किए हैं यदि खोज की जावे तो उत्तर प्रदेश, पंजाब, हरियाणा, बंगाल, बिहार, बुन्देलखण्ड, मध्यप्रदेश, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, एवं कर्नाटक आदि प्रदेशों के छोटे-छोटे गांवों और नगरों में पापड़ीवाल द्वारा निर्मित तथा भ० जिनचन्द्र द्वारा प्रतिष्ठित लाखो मूर्तियां प्राप्त हो सकेंगी। आज से ५०० वर्ष पूर्व इतिहास की यह एक ऐसी अनूठी घटना है जिसमे इतने अधिक जिनबिम्बों का निर्माण और प्रतिष्ठा किसी और ने कराई थी और भविष्य में भी कोई आशा नही कि इतने विशाल स्तर पर जिनबिम्बों का निर्माण हो सके। ऐसे स्वनामधन्य श्री जीवराज पापड़ीवाल को हम शतशः विनम्र विनयांजलि प्रस्तुत करते हैं और आशा करते हैं कि जैन समाज भी सामूहिक स्तर पर उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करे।

श्रुति कुटीर
६८ विश्वास मार्ग, विश्वास नगर,
शाहदरा दिल्ली-११००३२

भट्टारक हर्षकीर्ति के 'पद'

☐ डॉ० गंगाराम गर्ग, भरतपुर

भट्टारक सकलकीर्ति, ब्रह्म जिनदास, ब्रह्म यशोधर भीमसेन तथा ब्रह्म बूचराज के इने-गिने पदों के रूप मे जैन पद साहित्य का बिखरा-बिखरा अस्तित्व प्राप्त हो जाने पर भी सत्रहवीं शताब्दी के भक्त कवि गंगादास के ५०-६० पदों में ही इस विशिष्ट काव्यरूप का धारा-रूप निर्मित हुआ है। गंगादास के बाद आविर्भूत भट्टारक रत्नकीर्ति और भट्टारक कुमुदचन्द्र के पदों में दास्यभावना की अपेक्षा राजुल-विरह की अभिव्यक्ति अधिक हैं। जैन पद काव्यधारा को गतिमान बनाने में महाकवि बनारसीदास और उनके गुरु पाण्डे रूपचन्द के समकालीन कवि हर्षकीर्ति का विशिष्ट योगदान है। अभी तक प्राप्त २५-३० पदों के अतिरिक्त हर्षकीर्ति की ज्ञात रचनाएँ इस प्रकार है :—

(१) चतुर्गति बेलि (सं० १६८३, (२) नेमि राजुल गीत, (३) नेमीश्वर गीत, (४) मोरडा, (५) नेमिनाथ का बारहमासा, (६) कर्म हिंडोलना, (७) बीस तीर्थंकर की जखडी, (८) पार्श्व छन्द, (९) श्रीमंधर को समोसरन, (१०) जिनराज की जयमाल, (११) जिन जी को बधावो, (१२) पर नारी निवारण गीत, त्रेपन क्रिया जयमाल (सं. १६८४) तथा सासु बहू को संवादो।

एक विशिष्ट पद के आधार पर डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल ने इनका सम्बन्ध प्रसिद्ध तीर्थ श्री महावीर जी से जोडते हुए इन्हें राजस्थानी माना है। हर्षकीर्ति का इससे अधिक परिचय अभी तक ज्ञात नहीं हो सका।

हर्षकीर्ति के प्राप्त कतिपय पदों का प्रतिपाद्य भक्ति, राजुल विरह एवं नीति-प्रतिपादन 'आत्म-निरूपण' रहा है। जिनेन्द्र के नाम स्मरण में हर्षकीर्ति की अधिक आस्था है :—

नहिं छांडो हो जिनराज नाम।
दोष अठारह रहत देव, जाकी सुर नर करत सेव।
जिन देह जोति जीती सहस भांन।
प्रभु सो सरण सोभाभिराम।
मणि छांडि कांच खंड को गहत।
दूध छांडि कजिका को पिबति।
धारि सुभ दया सार,
कौन आन धर्म सेवै असार।
मिथ्यात पाप उपजै अनंत।
काहूं मथे काहू धोवंत।
कहै 'हरषकीर्ति' प्रभु गहो पाय।
मिथ्यात करत थैं मोहि छुडाय॥

भक्ति के प्रेरक तत्वो में जन्म-जन्मांतरों के कष्टों और काल की भयावहता का आभास सभी संत और वैष्णव भक्तों ने बहुलता से कराया है। जन भक्त कवियों को भी इन दोनों स्थितियों ने भयाक्रान्त किया है। नरक तिर्यंच गति और नर गति के कष्टो के प्रसंग मे हर्षकीर्ति का कथन है :—

हूं तो कांई बोलू रै, भव दुख बोलणी न आवै।
नरक निगोदिहि काल अनादि ही, कर्म लिखा भटकावै रे।
नर गति लीन्हो तीरजंच छीनुं, गर्भयबास डरावै रे।
जौनि अधमुख मास रह्यो नो, गिरै अर बिललावै।
जोबनरातो आरंभखातो, धरि चिंता मन तावै रे।
पर कै कारण परधन वांछित आपण नैम ललावै रे।
संपति हीणुं आप दुखीनुं, जण गण पै रीरावै रे।
देस विदेस फिरतन कीनै, सही मूल गवावा रे।
लख चौरासी जूंनि जु वामो, धरि धरि स्वांग कछावै रे।
'हरषकिरत' सति मो भजि श्रीजिन,
तातै अनंत सुख पावै रे।

समर्थ काल कर्मों के अनुसार व्यक्ति को अवश्य ही दण्डित अथवा पुरस्कृत करता है—ऐसा हर्षकीर्ति का विश्वास है—

अवधि दिन पूरे होत बजाइ।
सिर पर कग्ज करत कंप को, छूटत नाहिं गिराई
करि कछु मोचि समझि घट भीतरि, फल सुकृत कमाइ।
खोटो विणज रहेत नहिं पइयरदा, मुहड दीये पराइ।
दूरि विदेस विषम अति मारग, संगी न कोइ तिसाइ।
'हरषकीरति' तुम साव छतो, अब भलौ न फैट गहाइ।

संत और भक्त कवियो के अनुकरण पर जैन कवियों ने प्रबोधन के बहाने 'दुष्ट' 'शठ' आदि हीन विशेषणो के प्रयोग के साथ मन को फटकारने की प्रवृत्ति नहीं अपनाई है किन्तु 'चेतन' को विषयासक्ति से विरक्त होकर अपना 'दर्शन' एव ज्ञान' समन्वित स्वरूप पहचानने की प्रेरणा अवश्य दी है। हर्षकीर्ति का कथन है :—

महीजादा कचरा कांदा घो रे
कछु चेतन प्यारे बांजना हो रे।
धर्म न सकल नर का आणि मिलाया, कुल बल जोबन माया
भोगोपभोग का लेया नाही, काम अनन विढाया।
करमन विह्वल कीया रूप गुंमाया, नरक निगोदि भ्रमाया।
असुचि बिषारी मांझि घर राखे, तू त्रिभुवन राया।
पलक मैं अजहु तेरा भरम करदा, दरसन ज्ञान गुरादा।
'हरषकीर्ति' प्रभु आयो, दिषालो ज्यौं बदली वन चंदा।

'समवशरण' उत्सव के आयोजन और भक्ति मे सभी प्रसिद्ध भक्त कवियों ने दो-चार पद अवश्य लिखे ही है। हर्षकीर्ति इस अवसर पर खिरने वाली जिनेन्द्र की बाणी सुनने को आतुर है। यह बाणी सप्त तत्त्व और षट्द्रव्य के प्रतिपादन के साथ-साथ आस्थावान् श्रोता को मोक्ष भी प्रदान करती है :—

पावन धुनि सुनि जिनराज की।
अक्षर रूप अनक्षर साषित, भाखित विध शिवकार की।
सप्त तत्त्व नव भाव द्रव्य छह, नय प्रमाण गुण गाज की।
जा प्रसंग पाय परमारथ, तृबक भये शिव माज की।
अस्ति कथचित नासति बोलतु, चर थीर वस्तु समाज की।
बंदतु नद हेत करि चेतन, मुंचति वह अप लाज की।
फाटत मोह तम सजतु ग्यान मद, स्यादवाद बरसात की।
'हरषकीरति' जिन की धुनि सुनियां,
सफल घड़ी सो आजकी।

पुद्गल की परिवर्तनशीलता मे निरन्तरता मानते हुए भी जैन दार्शनिकों ने उसके अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया और न शकराचार्य की तरह उसे 'माया' कह कर मात्र 'भ्रम' प्रतिपादित किया। शकर का दार्शनिक शब्द 'माया' सन्त और भक्त कवियो मे पर्याप्त मात्रा में व्यवहृत हुआ। धन-दौलत और वैभव का प्रतीक मानकर इसके त्याग की भी सीख दी गई। जैन भक्तिकाव्य परम्परा से हटकर केवल हर्षकीर्ति ने 'उल्लेख' अलकार के रूप मे माया का तथ्यात्मक स्वरूप प्रस्तुत किया है :—
माया मार रे प्यारे तात, सुन नर माया मारै रे।
माया कारणि करू पाडू, भारथ करि भरि बूथा।
माया कारिण मजन कटूंबी, कार करि कलह बिगूता।
माया कारण रामदेव जी, करि बनवास बिरच्या।
माया माता माया माता, माया भाई चाचा।
माया कारण जहर जरावै, सक न मानै मीना।
माया जोगी माया भोगी, माया राणा राजा।
'हरिषकिरति' ते धनि मुनिवर, छाडि कीया अपकाजा।

'माया' के लोभ मे कष्ट पाने वाले कौरव, पाडव, भरत और राम की चर्चा करके उक्त पद मे माया के आकर्षण से दूर रहने की प्रेरणा दी है। ऐसा ही प्रभावकारी पद हर्षकीर्ति ने मोह और लोभ के विरोध मे लिखा है :—

रे कांइ मोह नी कूंडी रे।
मोह नी कूंडी रे कांई, मोह न कूडी है रे।
जांनतु है निहबल नहिं काई, इहि जुग नाथि जुडी रे।
लोभ ही लागि भार अति भरियो, जोबत नांम बूडी रे।
ए विकलप थयो बलदेव भवांणु, राम रुचै शिव रूडी रे।
'हरषकीरति' भवनां सुख ए ही, जिन कचियानी चूडी रे।

'सोरठ' राग मे लिखित एक कथात्मक गीत में हर्षकीर्ति राजा 'भरत' का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए एक अनुकरणीय तथ्य प्रतिपादित करते है कि अपार धन और वैभव के मध्य रहकर भी मनुष्य अपरिग्रह और विरक्ति भाव का निर्वाह कर मोक्ष का अधिकारी हो सकता है—
भरथ भूप घर ही मैं वैरागी।
सहस बतीस मुकट बध राजा, सेव करैं बड़भागी।
छिनबैसहस अतेवर जानौं, नहीं भयो अनुरागी।

कोड़ि अठारा तुरंगम राजै, कोड़ि चौरासी पागी।
लख चौरासी गज रथ सोहै, सुरति धर्म सों लागी।
नौ निधि रतन चौदा घरि राजै, मन चिंता सब भागी।
अंत मुहूरत एक ही माही, लौलया मुक्ति सौं लागी।
ज्यों जल मांही कंवल निति ही रहै, नहीं भयो रस भागी।
'हरषकीर्ति' सेवग की लजां, दीजे मुक्ति मोहि मागी।

समकालीन कवि बनारसीदास ने अपने सरस और श्रेष्ठ रहस्यवादी काव्य 'समयसार नाटक भाषा' में 'चेतन' तत्त्व की पर परिणति और स्वरूप-स्थिति को अनेक दृष्टान्तों के माध्यम से माधुर्यपूर्ण शैली मे समझाया है। इसके विपरीत कविवर हर्षकीर्ति ने सर्वमान्य लोक शैली में 'चेतन' तत्त्व को रूपायित कर साधारण जनता में अपना स्थान बनाया है। किसी भी कृत्रिम शब्दावली दृष्टान्त और रूपक अलंकार के मोह मे न पड़कर सर्वबोध भाषा में 'चेतन' का उद्बोधन हर्षकीर्ति की व्यापक जन-प्रियता का सकेत है :—

अविनासी जीवड़ा चेतनी हो।
तुम चेतन माया बाधो फिरो बादि ॥टेक॥
हो माया तुम्हारी जाति न पांति न, ना कुल की वरनारी।
इन तो तुम से मोहन ठिगे हैं, काहे को बढ़ावत रारी।
हा जिह कुल जाय जाय उपजो तिहा ही रह्यो ललचाई।
ते दुख नरक निगोद सहे हैं, तेउ डारी बिसराई।
मान पिता सुत बंध सहोदर, सजन भिन्न अब लोय।
इनके मोह जाल विचि, वेबा चेतन पद सोय।
हृदय चेत मूढ़ मति ग्यांनी, चेतन पद तुव मांहि।
'हरषकिरति' जिनवर पद गावै, रहे चरण चित लाइ।

गुरु कृपा और सत्संग के बल पर ममता, काम-क्रोध, तृष्णा, मान, अभिमान, दुर्मति, द्रोह आदि-आदि कुभावो से मुक्त चेतन का अनुपम चित्र भी हर्षकीर्ति ने लोक-जीवन से उतारा है :—

साधो मूला बेटो जायो।
गुरु परताप साध की संगति, षोदि कुटुंब सब पायो।
ममता माई जनमत पाई, खाया सुख दुख भाई।
काम क्रोध काका दोय खाया, खाई त्रिसना बाई।
पाप पुन्य पड़ोसी खाया, मान अभिमान दोय खाया।
मोह नगर को राजा खायो, पीछै पैस्या गामां।
दुरमति दादी दोहि बडो दादौ, मुख देखत ही मुवा।
मगल रूप बटी बधाई, तब याचिमण हुवा।
'भाउँ' नाम धरायो बेटा को, बरणी जोसिन जाई।
कहत 'हर्षकीर्ति' सुणो माधो, सब घट मांहि समाही।

पूर्ववर्ती पद रचयिता रत्नकीर्ति और कुमुदचन्द्र द्वारा अपने पदों में हर्षकीर्ति ने भी इस प्रसंग में दो भावपूर्ण पद लिखे हैं। बिना किसी अवगुण के परित्यक्ता राजुल का 'परेखा' किस कठोर हृदय को द्रवित नहीं कर देता—

हम बोल बोले की परतीति।
समुदविजै सुत कौन संभारो, आठ भवन की रीति।
नारायण उपदेस कराये, पसु सब आणि जमीति।
हमारो दोस नहिं जगजीवन, डारत हो यह रीति।
औगण बिनि हमको तजि चालै, देखो क्यों न अनीति।
'हरषकीरति' प्रभु प्रीति निबाहो, हारहु सारी मजीति।

प्राकृतिक उपादानों में पावसकालीन मेघ पपीहा द्वारा प्रियतम की टेर ने राजुल की विरह-वेदना और अकुलाहट को बढाया है। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के अतिरिक्त पूर्ववर्ती हिन्दी काव्य परम्परा के अनुकूल हर्षकीर्ति का एक भावपरक पद है :—

गरजन लागे री घन बादर।
नेमि बिना कहो कैसे रहो री आलि, क्यो उतरै दुख सागर।
पपीहड़ा पीव पीव रटत है आली, मो मन को धरत न धागर
सोचत सोचत रयण दिनारी आलि, पसुवन के भये आगर।
हरषकीर्ति प्रभु आइ मिलो अब, राजमती करि आदर।

उत्तर मध्ययुग में प्राप्त हिन्दी के विशाल जैन पद साहित्य की विशेषताओं के परिप्रेक्ष्य मे उक्त विवेचन को परखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि हर्षकीर्ति किसी बंधी बधाई लीक पर चलने के हिमायती नही है। अपने भक्तिभाव को उन्मुक्त होकर सरल और प्रभावोत्पादक काव्यशैली मे प्रकट करना ही उनका लक्ष्य है। कविवर हर्षकीर्ति के अद्यतन अर्चाचित कतिपय पद दिगम्बर जैन मन्दिर कुम्हेर जिला भरतपुर मे प्राप्त एक गुटके 'स्तुति सग्रह' में संगृहीत हैं। ☐☐

"पुष्पदन्तकृत—जसहरचरिउ में दार्शनिक समीक्षा"

☐ श्री जिनेन्द्र जैन

साहित्य-निर्माण की दृष्टि से मध्ययुग (लगभग ६०० ई. से १७०० ई. तक) जैन साहित्य का स्वर्ण-युग माना जाता है। क्योंकि इस अवधि मे जैन कवियो ने संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश इन तीनों ही भाषाओं मे काव्य-ग्रन्थों की रचनाएँ की हैं, जिनमे जीवन के विभिन्न पक्षो को प्रतिपादित करते हुए तत्कालीन धर्म एव दर्शन पर विशेष प्रकाश डाला गया है। १०वीं शताब्दी मे अपभ्रंश भाषा के महाकवि पुष्पदन्त एक उद्भट व समर्थ कवि हुए हैं, जिन्होंने महापुराण[1], णायकुमारचरिउ[2] तथा जसहरचरिउ[3] नामक ग्रन्थो की रचना करके अपभ्रंश साहित्य मे विशेष स्थान प्राप्त किया है। 'महापुराण' मे तीर्थंकरो एव महापुरुषों के जीवन-चरित्र का विवेचन है। श्रुतपञ्चमी के माहात्म्य को स्पष्ट करने के लिए कवि ने वैराग्य एव पुरुषार्थ प्रधान "णायकुमारचरिउ" नामक चरित ग्रन्थ का सृजन किया एव "जसहरचरिउ" मे अहिंसा प्रधान सिद्धांत की पुष्टि की है।

तत्कालीन समाज मे व्याप्त नैतिक, धार्मिक व दार्शनिक बुराइयो पर उन्होने अपनी लेखनी चलायी और एक शाश्वत तथा वास्तविक मानव-धर्म का प्रतिपादन किया है। उनके द्वारा इस ग्रन्थ मे बताया गया यह मानव-धर्म (सच्चा धर्म) समस्त गृहस्थ ग्राह्य होने के कारण उन्हे एक सच्चा समाज-सुधारक भी कहा जा सकता है। यहाँ उनके द्वारा रचित जसहरचरिउ मे प्रतिपादित दार्शनिक मतों की समीक्षा प्रस्तुत की गई है।

जसहरचरिउ एक अहिंसा प्रधान काव्य-ग्रन्थ है, जिसमे कवि ने यशोधर के पूर्व भवो का वृत्तान्त प्रस्तुत किया है। और यह बताया है कि जीव-हिंसा करने से व्यक्ति अनेक भवों तक अलग-अलग योनियो मे जन्म लेता रहता है। महाकवि पुष्पदन्त यद्यपि जैन थे, इसलिए उन्होने जैन धर्म व दर्शन के सिद्धान्तो की विशद् व्याख्या तो प्रस्तुत की ही है साथ ही अन्य भारतीय दर्शनों पर भी अपनी लेखनी चलाई है। भारतीय दर्शनों के परिप्रेक्ष्य में उन्होंने जैन धर्म व दर्शन से साम्य न रखने वाले सिद्धान्तों की समीक्षा प्रस्तुत की है। यहां उन्हीं सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला गया है।

पशु हिंसा सम्बन्धी समीक्षा :—

यज्ञ मे पशु-बलि सम्बन्धी वेद सम्मत मान्यता तथा उनकी (वेदों) अपौरुषेयता पर कवि ने प्रश्नचिन्ह लगाया है। ग्रन्थ मे वर्णित पशु-बलि हिंसा के सन्दर्भ में यशोधर की माता के मुख से यह कहना कवि को उचित प्रतीत नही होता कि—"जगत मे धर्म का मूल वेद-मार्ग है। राजा को वेदों का ही अनुशरण करना चाहिए। वेदों मे पशु-बलि को धर्म कहा गया है। क्योंकि पशु को मारने व खाने वाले स्वर्ग एवं मोक्ष के अधिकारी होते हैं[4]। पशु-बलि को उचित नही ठहराते हुए कवि ने उसके खण्डन मे पशु-हिंसा करने वालों को महापापी व मायाचारी बताया है[5]। तथा वेद सम्मत उक्त पशु-बलि के सिद्धान्त का अनुशरण करने वाले को नरकगामी भी कहा है[6]।

यह सर्वसाधारण मान्यता है कि वेद अपौरुषेय हैं। उन्हें किसी ने भी नही बनाया, किन्तु कवि इस पर अपना आक्षेप लगाये हुए कहता है कि विचार करने से प्रतीत होता है कि शब्दों की पंक्तियां अपने आप ही आकाश में स्थित नहीं रह सकती, वायु से संघर्ष होने पर ही शब्द उत्पन्न होता है और आकाश मे फैल जाता है। तथा मनुष्य के मुख से वह वर्ण और स्थान एव संकेतमय (अर्थमय) बुद्धि द्वारा भाषाओं के भेदानुसार निकलता है। ऐसी अवस्था मे यह कहना कि वेद अपौरुषेय (स्वयम्भू) हैं, उचित प्रतीत नहीं होता[7]। याज्ञिकी हिंसा, मांस-भक्षण और रात्रिभोजन को धर्म का प्रतीक मानने वाले पौराणिक मतों की आलोचना/समीक्षा कवि ने अपने अन्य ग्रन्थो मे भी की है। णायकुमारचरिउ[8] नामक उनकी एक अन्य

कृति में इसका स्पष्ट वर्णन देखने को मिलता है। अहिंसा धर्म की प्रतिष्ठा और महत्ता के लिए कवि ने कहा है कि पुण्य के अर्जन हेतु चाहे मंत्र-पूजित खड्ग से पशु-बलि करे अथवा यज्ञ करे या अनेक दुर्धर तपों का आचरण करे, किन्तु जीव-दया के बिना सब निष्फल है। शास्त्रों में यही कहा गया है कि जो पाप है वह हिंसा है और जो धर्म (पुण्य) है, वह अहिंसा[९]। इसलिए प्राणिवध को आत्मवध समरूप माना गया है[१०]।

"प्रत्यक्ष ही प्रमाण है" का खण्डन :—

भारतीय दर्शनों में चार्वाक दर्शन की अपनी अलग मान्यता है, महत्ता है। उसके अनुसार "प्रत्यक्ष ही प्रमाण है" ऐसा मानना, जीव और उसकी सत्ता को अभिन्न करना है तथा मोक्ष आदि के अस्तित्व को नकारना है। क्योंकि मोक्ष की कल्पना अनुमान से सिद्ध है न कि प्रत्यक्ष प्रमाण से।

जसहरचरिउ में एक स्थान पर जब तलवर मुनि से कहता है कि "मैं किसी धर्म, गुण या मोक्ष आदि को नहीं जानता हूं। मैं केवल पचेन्द्रिय सुख (जो प्रत्यक्ष है) को ही सब कुछ मानता हू[११]। इसके उत्तर म मुनि द्वारा यह कहना कि—"ससार मे जीव अनेक योनियो मे जीवन-मरण के दुःखों और कर्मों के फल को भोगता है। इसीलिए मैं पंचेन्द्रिय सुख का त्याग करके निर्जन स्थान मे रहते हुए भिक्षावृत्ति करता हू[१२]।" चार्वाक दर्शन के "प्रत्यक्ष ही प्रमाण है" के खण्डन को प्रतिपादित करता है।

क्षणभंगुरता की समीक्षा :—

बौद्ध दर्शन मे प्रत्येक वस्तु क्षण-विध्वंसी बताई गयी है। प्रत्येक वस्तु का मात्र एक ही क्षण अस्तित्व रहता है। हर अगले क्षण मे वह परिवर्तित हो जाती है। इसी प्रकार बौद्ध दर्शन मे जीव की भी क्षणिक सत्ता मानी गई है। जिसके लिए कवि आपत्ति करता है कि—"यदि जीव (चेतन) क्षण-क्षण में अन्य-अन्य हो जाता है तो छः मास तक व्याधि (रोग) की वेदना (दुःख) कौन (रोगी) सहन करता है[१३]। क्योंकि जो प्रारम्भ मे रोग ग्रस्त होता है, छः माह में उसका अस्तित्व क्षणिकवाद के अनुसार समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार बौद्धों की यह मान्यता कि वासना के नष्ट होने पर ज्ञान प्रकट होता है, कुछ अपूर्ण होती है, क्योंकि वासना का भी क्षणमात्र के लिए अस्तित्व रहता है, दूसरे ही क्षण वह परिवर्तित हो जाती है[१४]।

जीव-आत्मा की पृथक् सत्ता विषयक समीक्षा :—

दार्शनिक सिद्धान्तों की समीक्षा के अन्तर्गत कवि ने अन्य दर्शनो की जीव/आत्मा विषयक मान्यताओं को भी अछूता नही छोड़ा। जीव (आत्मा) और देह (शरीर) को पृथक् सत्ता नहीं मानने वाले चार्वाक दर्शन के—"जिस प्रकार वृक्ष के पुष्प से गन्ध भिन्न नही होती, उसी प्रकार देह से जीव भी अभिन्न है।" उक्त कथन पर कवि ने अपनी समीक्षात्मक शैली में आत्मा और पर (देह) के भेद को स्पष्ट किया है कि—"जिस प्रकार चम्पक की वास तेल में भी लग जाती है और फूल से उसकी गन्ध (सुवास) पृथक् है, उसी प्रकार यह देह और जीव की भिन्नता भी सिद्ध है। इन दोनो का पृथक् अस्तित्व है[१५]।

ग्रन्थ मे जीव की सत्ता को लेकर प्रश्न मिलता है कि क्या जीव को शरीर से अलग हुआ किसी ने देखा है। इसके समाधान में अनुमान का सहारा लेकर कहा गया है कि—"जिस प्रकार दूर से आता हुआ शब्द दिखाई नही देता, परन्तु शब्द कान मे लगने पर अनुमान-ज्ञान होता है, उसी प्रकार नरक-योनियो मे जीव की गति होती है। इसलिए जीव अनुमान से सिद्ध है[१६]।"

बौद्ध दर्शन में आत्मा को पचस्कध (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान) का समुच्चय मात्र माना गया है, किन्तु ये स्कध क्षणमात्र ही स्थायी रहते हैं इसलिए उनका यह कथन भी न्यायोचित नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार इस ग्रन्थ में जहाँ एक ओर अहिंसा की महत्ता को हिंसा के दुष्परिणामों के माध्यम से उजागर किया गया है, वहीं दूसरी ओर तत्कालीन समाज की धर्म एव दर्शन विषयक मान्यताओं को भी प्रस्तुत किया गया है। जैनधर्म व दर्शन के सिद्धान्तों को प्रतिष्ठापित करते हुए अन्य दर्शनो की मान्यताओं पर अपनी आपत्ति प्रस्तुत करके कवि ने उक्त उक्तियो के माध्यम से उनका

(शेष पृ० ३२ पर)

आचार्य श्री विद्यासागर का रस विषयक मन्तव्य

□ डॉ० रमेशचन्द्र जैन, बिजनौर

काव्यशास्त्रियों ने नव रस कहे हैं—शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त। सहृदयों को रस की अनुभूति कराना ही काव्य का मुख्य प्रयोजन है। यह आनन्द की अनुभूति सभी रसों में समान रूप से हुआ करती है। फिर भी भावक सामग्री के भेद से इसमें चित्त की चार अवस्थाएँ हो जाती है—विकास, विस्तार, क्षोभ और विक्षेप। शृंगार में चित्त का विकास होता है, वीर में विस्तार, बीभत्स में क्षोभ और रौद्र मे विक्षेप, हास्य, अद्भुत भयानक और करुण मे भी क्रमशः विकास आदि चारों हुआ करते है। शान्त रस मे मुदिता, मैत्री, करुण और उपेक्षा ये चार चित्त की अवस्थाये हुआ करती हैं।

आचार्य विद्यासागर ने प्रसङ्गानुकूल रसों का विवेचन किया है। वीर रस के विषय में शिल्पी के मुख से कहलाया गया है कि वीर रस से तीर का मिलना कभी सम्भव नहीं है और पीर का मिटना त्रिकाल असम्भव। आग का योग पाकर शीतल जल चाहे भले ही उबलता हो, किन्तु धधकती अग्नि को भी नियन्त्रित कर उसे बुझा सकता है। परन्तु वीर रस के सेवन से तुरन्त मानव खून उबलने लगता है, वह काबू मे नही आता। दूसरों को शान्त करना तो दूर, शान्त माहौल भी ज्वालामुखी के समान खौलने लगता है, इसके सेवन से जीवन मे उद्दण्डता का अतिरेक उदित होता है पर, पर अधिकार चलाने की भूख इसी का परिणाम है। मान का मूल बबूल के ठूठ की भाँति कड़ा होता है। मान को धक्का लगते ही वीर रस चिल्लाता है। वह आप भूल कर आगबबूला हो पुराण पुरुष की परम्परा को ठुकराता है। (पृ० १३१-१३२)

वीर रस के पक्ष मे हास्य रस कहता है वीर रस का अपना इतिहास है। जो वीर नही हैं, अवीर हैं, उन पर क्या उनकी तस्वीर पर भी अबीर नहीं छिटकाया जाता है। यह बात दूसरी है जाते समय अर्थी पर सुलाकर भले ही छिटकाया जाता हो। उनके इतिहास पर न रोना बनता है न हँसना। (पृ० १३२-१३३)

हास्य रस के विषय में कहा है कि हँसनशील प्रायः उतावला रहता है। कार्याकार्य का विवेक, गम्भीरता और धीरता उसमे नही होती। वह बालक सम बावला होता है। तभी स्थितप्रज्ञ हँसते नही है। आत्मविज्ञ मोह-माया के जाल में नही फँसते हैं। खेद भाव के विनाश हेतु हास्य हास्य का राग आवश्यक भले ही हो, किन्तु वैरभाव के विकास हेतु हास्य का त्याग अनिवार्य है; क्योंकि हास्य भी कषाय है। (पृ० १३३)

रौद्र रस के विषय में आचार्य ने कहा है कि रुद्रता विकृति है, विकार है। भद्रता प्रकृति का प्रकार है, उसकी अमिट लीला है। (पृ० १३५)

कवि को शृंगार नहीं रुचता। वह कहता है शृंगार के ये अंग-अंग खग उगारशील हैं। युग जलता जा रहा है। शृंगार के रंग-रंग अंगार शील है, युग जलता जा रहा है (पृ० १४५) कवि के इस कथन मे वियोगी—कामी की वह स्थिति द्योतित होती है, जब कामदेव कामी को दिन-रात जलाता ही रहता है। उसे कपूर, हार, कमल, चन्द्रमा आदि विपरीत परिणत हुए दिखाई देने लगते हैं। ये वस्तुएँ उसे कुछ भी सुख नहीं पहुचाती।

बीभत्स रस शृंगार को नकारता है, उसे चुनता नही है। शृंगार के बहाव में प्रकृति की नासा बहने लगती है। कुछ गाढ़ा, कुछ पतला, कुछ हरा, पीला मल निकलता है, जिसे देखते ही घृणा होती है।

करुण रस को भवभूति ने प्रधान रस माना है। भवभूति के कारुण्योत्पादक काव्य को सुनकर—

"अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।"

भवभूति के अनुसार करुण रस ही एकमात्र मुख्य रस

है। निमित्त घटना (विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों की विलक्षणता से) यह भिन्न-२ रूप धारण कर लेता है, परन्तु यथार्थतः वह एक ही होता है —

एको रसः करुण एव निमित्त भेदाद्-
भिन्नः पृथक्पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान्विकारान्,
नम्भो यथा, सलिलमेव हितत्समग्तम्॥
—(उ० रामचरित ३।४७)

आचार्य विद्यासागर की दृष्टि मे करुण हेय नही, उसकी अपनी उपादेयता है, अपनी सीमा भी है। करुणा करने वाला अहं का पोषक भले ही न बने किन्तु स्वयं को गुरु-शिष्य अवश्य समझता है और जिस पर करुणा की जाती, वह स्वय का शिशु शिष्य अवश्य समझता है। दोनों का मन द्रवीभूत होता है। शिष्य शरण लेकर द्रवीभूत होता है, गुरु शरण देकर कुछ अपूर्व अनुभव करते है। पर इसे सही सुख नही कहा जाता है। किन्तु इसमे दुःख मिटने और सुख के मिलने का द्वार अवश्य खुलता है। करुणा करने वाला बहिर्मुखी अवश्य होता है। जिस पर करुणा की जा रही है, वह अधोमुखी अवश्य होता है।

करुणा की दो दृष्टियां हैं—एक विषयलोलुपिनी, दूसरी विषय लोपिनी, दिशा बोधिनी।

करुणा रस मे शान्त रस का आविर्भाव मानना बड़ी भूल है। उछलती हुई उपयोग परिणति करुण है। इसे नहर की उपमा दी जा सकती है। उजली मे उपयोग परिणति शान्त रस है। इसकी उपमा नदी से दी जा सकती है। नहर खेत मे आकर सूख जाती है। नदी सागर को जाती है, राह को मिटा कर सुख पाती है। करुणा तरल है, वह दूसरे से प्रभावित होती है। शान्त रस दूसरे के बहाव मे बहता नहीं है जमाना पलटने पर भी अपने स्थान पर जम जाता है। इसमे यह द्योतित होता है कि करुणा मे वात्सल्य का मिश्रण सम्भव नहीं है (पृ० १५४—१५७)। हलकी सी मधुरता क्षणभंगुर दर्शाती है।

करुणा रस जीवन का प्राण है, वात्सल्य जीवन का त्राण है। किन्तु शान्त रस जीवन का गान है। यह मधुरिम क्षीरधर्मी है। करुणा रस पाषाण को भी मोम बना देता है। वात्सल्य जघनतम नादान को भी सोम बना देता है। किन्तु यह लौकिक चमत्कार की बात हुई। शान्त रस संयम रत धीमान् को ही 'ओम' बना देता है। संक्षेपतः सब रसो का अन्त होना ही शान्त रस है। (पृ० १६०)।

इस प्रकार आचार्य विद्यासागर के मत में करुण रस मे सब रस समा जाते हैं। सब रसो की सत्ता का विलीन हो जाना शान्त रस है। इस प्रकार आचार्य विद्यासागर की रस विषयक अवधारणा रतये नही व्युपशान्तये है, जो उनके सन्त हृदय को लक्षित करती है।

निमित्त और उपादान

केवल उपादान कारण ही कार्य का जनक है।
यह मान्यता दोषपूर्ण लगी।
निमित्त की कृपा भी अनिवार्य है।
हाँ हाँ !

उपादान कारण ही कार्य में ढलता है, यह अकाट्य नियम है। किन्तु उसके ढलने मे निमित्त का सहयोग भी आवश्यक है। इसे यूं कहे तो और उत्तम होगा कि—

उपादान का कोई यहां पर
पर-मित्र है··· ···तो वह, निश्चय से निमित्त है।
जो अपने मित्र का
निरन्तर नियमित रूप से
गन्तव्य तक साथ देता है। (पृ० ४८१ मूकमाटी)

सूक्ति-रत्न

१. श्रमण का शृंगार ही समता-साम्य है। (पृ० ३३०)
२. मोह और असाता के उदय मे क्षुधा की वेदना होती है, यह क्षुधा-तृषा का सिद्धान्त है, मात्र इसका ज्ञान होना ही साधुता नही है, वरन् ज्ञान के साथ साम्य भी अनिवार्य है। (पृ० ३३०)
३. कोष के श्रमण बहुत बार मिले हैं। होश के श्रमण विरले ही होते है। (पृ० ३६१)
४. उस समता से क्या प्रयोजन जिसमे इतनी भी क्षमता नहीं है, जो समय पर भयभीत को अभय दे सके। (पृ० ३६१)।

५. जब आँखें आती हैं तो दुःख देती हैं, जब आँखें जाती हैं तो दुःख देती हैं। जब आँखें लगती हैं तो दुःख देती हैं। आँखों में सुख कहाँ ? ये आँखें दुःख की खनी हैं, सुख की हनी हैं। यही कारण है कि सन्त संयत साधुजन इन पर विश्वास नहीं रखते और सदा सर्वथा चरणों लखते विनीत दृष्टि हो चलते हैं। (पृ० ३५९-३६०)

६. एक के प्रति राग करना दूसरो के प्रति द्वेष सिद्ध करता है। जो रागी भी है, द्वेषी भी है, वह सन्त नहीं हो सकता। (पृ०३६३)

७. पाप भरी प्रार्थना से प्रभु प्रसन्न नहीं होते। पावन प्रसन्नता पाप के त्याग पर आधारित है।

८. स्व को स्व के रूप में पर को पर के रूप में जानना ही सही ज्ञान है। स्व में रमण करना ही सही ज्ञान का फल है। (पृ० ३७५)

९. तन और मन का गुलाम ही पर-पदार्थों का स्वामी बनना चाहता है। (पृ० ३७५)

१०. सुखा प्रलोभन मत दिया करो, स्वाश्रित जीवन जिया करो। (पृ० ३८७)

११. पर के दुःख का सदा हरण हो। जीवन उदारता का उदाहरण बने। (पृ० ३८८)

(मूक माटी महाकाव्य)

—: ० :—

पृ० २९ का शेषांश)

खण्डन करने का प्रयास किया है। दार्शनिक मान्यताओ के समीक्षात्मक विश्लेषण को प्रस्तुत करने के लिए इस ग्रंथ में चार्वाक, बौद्ध, सांख्य व वेदान्त आदि दर्शनों को मुख्य बिन्दु बनाया गया है। इस तरह दार्शनिक दृष्टि से इस इस ग्रन्थ मे पर्याप्त सामग्री मिलती है जो भारतीय संस्कृति को जानने में एक कड़ी का कार्य करती है।

—सहायक आचार्य प्राकृत भाषा एवं साहित्य विभाग,
जैन विश्वभारती इस्टीट्यूट (मान्य विश्वविद्यालय)
लाडनूं—(राज०), ३४१ ३०६

सन्दर्भ-सूची

१. महापुराण (पुष्पदन्त) सम्पा. व अनु.—पी. एल. बौद्ध, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली [भाग १-४)।

२. णायकुमारचरिउ (पुष्पदन्त) सम्पा व अनु.—डा. हीरालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली १९७२.

३. जसहरचरिउ (पुष्पदन्त) सम्पा. व अनु.—डा. पी. एल. वैद्य एवं डा. हीरालाल जैन भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९९२.

४. जगि वेउ मूलुधम्मछिवहो, वेएण मग्गु भासिउ णिवहो।
तं किज्जइ बलि वेए महिउ, पसु मारणु परमधम्मु कहिउ।
पसु हम्मइ पलु जिम्मइ सग्गहो मोक्खहो गम्मइ ॥
जस० २।१५।८-१०

५. जस०—२।१६.

६. वही—३।११।१०.

७. वही - ।२९।१-६.

८. णयकुमारचरिउ—९।९।७-१९.

९. जस०—२।१८.

१०. वही—२।१४।६.

११. अण्णु धम्मु गुणु मोक्खु ण याणमि।
हउं पंचिदिय सोक्खइं माणमि ॥ जस० ३।९।३.

१२. जस०—३।२०।७-८.

१३. वही—३।२६।३.

१४. वही—३।२६।४.

१५. वही—३।२११५-१६.

१६. इरा एंतु सदुराउ दीसइ, पर कण्णम्मि लग्गओ।
णज्जइ जेम तेम जगि जीउ वि बहुजोणीकुलं गओ ॥
—जस० ३।२२।१-२.

ग्राह्य ज्ञान-कण

—दर्शन मोह के नाश होने पर चारित्रमोह की दशा स्वामीहीन कुत्ते की तरह हो जाती है— भौंकता है परन्तु काटने में समर्थ नहीं।

× × × ×

—आज तक हमने धर्मसाधन बहुत किया परन्तु उसका प्रयोजन जो रागादि निवृत्ति है उस पर दृष्टि नहीं दी। फल यह हुआ कि टस से मस नहीं हुए।

× × × ×

—पर-द्रव्य और पर-भाव संसार में भ्रमण के कारण हैं। पर-द्रव्य तो पर दिखाई देता ही है—मगर पर-भाव भी पर ही है, क्योंकि वह भी पर-द्रव्य की उपस्थिति से है—इसलिए पर-भाव भी पर ही है।

× × × ×

—वह दिन सबसे अभिशप्त मानना चाहिए जब इन्सान के दिल में बेईमानी से एक भी रुपया हासिल करने का विचार उत्पन्न हुआ हो।

× × × ×

—कठोर और कड़ी मेहनत की आदत, चाहे लोग इससे घबराते ही हों, हमारे कण्ठ में पुष्पहार की भांति सुवासित-सुसज्जित रहती है।

× × × ×

—मेरा कुछ भी नहीं है—ऐसी भावना के साथ स्थिर हो। ऐसा होने पर तू तीन लोक का स्वामी (मुक्त) हो जायगा। यह तुझे परमात्मा का रहस्य बतला दिया है।

× × × ×

—जीव द्रव्य चेतन है और पुद्गल जड़ है—कोई जीव न तो पुद्गलरूप परिणमन करता है और न उसको ग्रहण करता है और न उसमें उपजता है। हाँ, जीव का स्वभाव जानना है सो उसको जानता है—ऐसा समझना।

× × × ×

—घर को छोड़ा, जगत को घर बना लिया। घर में तो परिमित कुटुम्ब होता है—यहाँ तो उसकी सीमा नहीं। यही ममता तो संसार की माता है।

—श्री शान्तिलाल जैन कागजी के सौजन्य से

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो। पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते।

कागज प्राप्ति :—श्रीमती अंगूरी देवी जैन, धर्मपत्नी श्री शान्तिलाल जैन कागजी नई दिल्ली-२ के सौजन्य से

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : स० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, सात विषयों पर शास्त्रीय तर्कपूर्ण विवेचन २-००

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol.

Volume I contains 1 to 1044 pages, volume II contains 1045 to 1918 pages size crown octavo.

Huge cost is involved in its publication. But in order to provide it to each library, its library edition is made available only in 600/- for one set of 2 volume. 600-00

सम्पादन परामर्शदाता : श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३

प्रिन्टेड
पत्रिका बुक-पैकिट

वीर सेवा मन्दिरका त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४५ : कि० २ अप्रैल-जून १९९२

इस अंक में—

क्रम	विषय	पृ०
१.	पंच-परमेष्ठियों का स्वरूप	१
२.	अकलंक देव की मौलिक कृति तत्त्वार्थवार्तिक —डा० रमेशचन्द्र जैन	२
३.	संस्कृत जैन चम्पू और चम्पूकाव्य —डॉ० कपूरचन्द्र जैन	७
४.	प्राकृत साहित्य में स्याद्वाद : चिंतन —डा० लालचन्द्र जैन	१३
५.	प्राकृत और मलयालम भाषा —श्री राजमल जैन, दिल्ली	१७
६.	जैन कवि लक्ष्मीचन्द के छप्पय —डा० गंगाराम गर्ग	२३
७.	संग्रहालय गूजरी महल में सर्वतोभद्र प्रतिमाएँ —डॉ० नरेश कुमार पाठक	२५
८.	श्री देवीदास कृत चौबीसी स्तुति : —सौजन्य : श्री कुन्दनलाल जैन, दिल्ली	२८
९.	दिल की बात दिल से कही—और रो लिए —श्री पद्मचन्द्र शास्त्री 'संपादक'	३१
१०.	नैतिक शिक्षा समिति : आशा की किरण	कवर पृ० २

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

नैतिक शिक्षा-समिति : आशा की किरण

गर्मियों की छुट्टियों में दिगम्बर जैन नैतिक शिक्षा समिति दिल्ली ने राजधानी की इक्कीस कालोनियों में शिक्षण शिविर आयोजित किये। विद्वानों द्वारा प्रातः बच्चों को धर्म की प्रारम्भिक जानकारियां दी जाती थीं और रात्रि में समाज के पुरुषों और महिलाओं को धार्मिक शिक्षा दी जाती थी। लगभग ४००० शिक्षार्थी इन शिविरों से लाभान्वित हुए। बच्चों में देवदर्शन, पूजा, शाकाहार करने, रात्रि में भोजन नहीं करने, वर्क आदि अभक्ष्य ग्रहण नहीं करने के संस्कार भरे गये।

दिनांक ५-७-६२ को समापन समारोह में १४ बच्चों ने अपने भाषण दिये और उन्होंने स्वीकार किया कि इस तरह के शिविर वास्तव में हमारे जीवन को ऊँचा उठाने में सक्षम हैं।

समारोह के मुख्य अतिथि श्री चक्रेशकुमार जैन, महासचिव लोक सभा थे और अध्यक्षता महासमिति के अध्यक्ष श्री रतनलाल गंगवाल ने की। इस अवसर पर दिल्ली नगर के ५०० से अधिक लोग उपस्थित थे। इस अवसर पर शिविर के विद्वानों को सम्मानित भी किया गया।

नैतिक शिक्षा का यह कार्य-क्रम अब उत्तर प्रदेश और हरियाणा में भी चलाये जाने की योजना है। इस समारोह में श्री जैनेन्द्र कुमार जैन एडवोकेट रोहतक, श्री ताराचन्द प्रेमी हरियाणा व श्री जयनारायण जैन मेरठ भी उपस्थित थे।

समिति के संरक्षक श्री सुभाष जैन (शकुन प्रकाशन), श्री पदमप्रसाद जैन (सुप्रीम होजरी), अध्यक्ष श्री धनपाल सिंह जैन तथा मंत्री श्री विमल प्रसाद जैन (डेलू) हैं। सभी को हमारी बधाई। हम आशा करें कि ऐसे आयोजन बड़े पैमानों पर जगह-जगह होंगे—और जैन संस्कारों के प्रचार को बल मिलेगा।

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

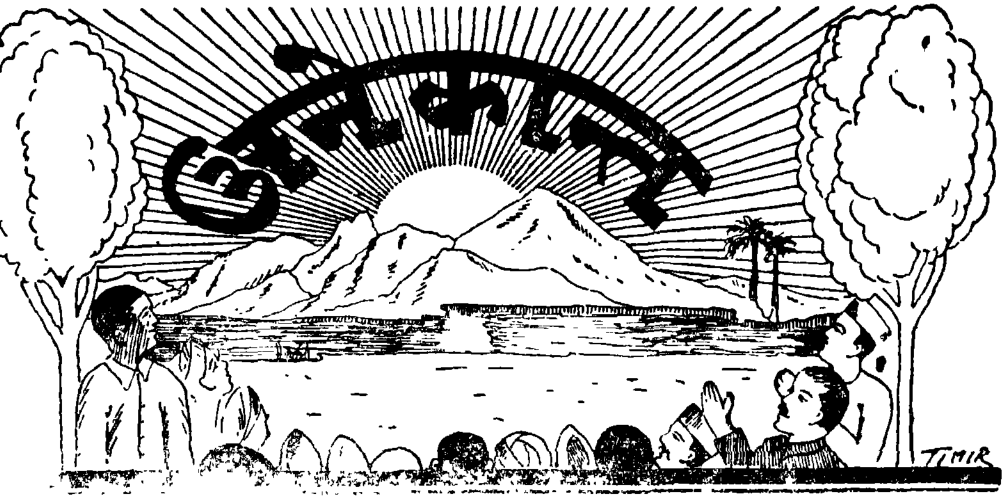

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ४५ किरण २ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | वीर-निर्वाण सवत् २५१८, वि० स० २०४६ | अप्रैल-जून १६६२

पंच परमेष्ठियों का स्वरूप

घण-घाइकम्म-रहिया केवलणाणाइ-परमगुण-सहिया ।
चोत्तिस-अदिसअ-जुत्ता अरिहंता एरिसा होंति ॥
णट्ठट्ठ-कम्मबंधा अट्ठ-महागुण-समण्णिया परमा ।
लोयग्ग-ठिदा णिच्चा सिद्धा ते एरिसा होंति ॥
पंचाचार-समग्गा पंचिदिय-दंति-दप्प-णिद्दलणा ।
धीरा गुण-गंभीरा आयरिया एरिसा होंति ॥
रयणत्तय-संजुत्ता जिण-कहिय-पयत्थ-देसया सूरा ।
णिक्कंखभाव-सहिया उवज्झाया एरिसा होंति ॥
वावार-विप्पमुक्का चउव्विहाराहणासयारत्ता ।
णिग्गंथा णिम्मोहा साहू एदेरिसा होंति ॥

अर्थ--घन-घातिकर्म से रहित, केवलज्ञानादि परम गुणो से सहित और चौंतीस अतिशयों से युक्त अर्हन्त होते हैं ॥७१॥ जिन्होंने आठ कर्मों के बन्ध को नष्ट कर दिया है, जो आठ गुणों से संयुक्त, परम, लोक के अग्रभाग में स्थित और नित्य हैं, वे सिद्ध हैं ॥७२॥ जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य इन पाँच आचारों से परिपूर्ण, पाँच इन्द्रियरूपी हाथी के मद को दलने वाले, धीर और गुण-गम्भीर हैं, वे आचार्य हैं ॥७३॥ जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन रत्नों से युक्त, जिनेन्द्र के द्वारा कहे गये पदार्थों का उपदेश करने में कुशल और आकांक्षा रहित हैं, वे उपाध्याय है ॥७४॥ जो सभी प्रकार के व्यापार से रहित हैं, सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तपरूप चार प्रकार की आराधना में लीन रहते है, बाहरी-भीतरी परिग्रह से रहित तथा निर्मोह हैं, वे ही साधु हैं ॥७५॥

अकलङ्कदेव की मौलिक कृति तत्त्वार्थवार्तिक

☐ डॉ रमेशचन्द जैन, बिजनौर

जैनागमो की मूलभाषा प्राकृत रही है। संस्कृत में सर्वप्रथम जैन रचना होने का श्रेय गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वामिकृत तत्त्वार्थसूत्र को है। तत्त्वार्थसूत्र सूत्र शैली में लिखा गया है। सूत्र रूप मे ग्रथित इस ग्रन्थ मे जैन तत्त्वज्ञान का सागर भरा हुआ है। लघुकाय सूत्रग्रन्थ होने पर भी यह 'गागर मे सागर' भरे जाने की उक्ति को चरितार्थ करता है। यही कारण है कि जैनधर्म की दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो परम्पराओ मे यह मान्य है। इस सूत्र ग्रन्थ का मुख्य नाम तत्त्वार्थ है। इस नाम का उल्लेख टीकाकारो ने किया है, जिसमे आचार्य पूज्यपाद, अकलङ्कदेव और विद्यानन्द प्रमुख हैं। जोव, अजीव, आस्रव, बध, सवर निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्वार्थ हैं। इन्ही सात तत्त्वार्थों का तत्त्वार्थसूत्र मे विवेचन है। ग्रन्थ की महत्ता को देखते हुए इस पर अनेक टीकाएँ लिखी गयीं। दिगम्बर परम्परा मे इस पर सबसे प्राचीन टीका आचार्य पूज्यपाद देवनन्दि कृत सर्वार्थसिद्धि प्राप्त होती है। यद्यपि सर्वार्थसिद्धि मे कुछ प्रमाण ऐसे हैं, जिनसे पता चलता है कि इससे पूर्व भी कुछ टीकाएँ लिखी गई थीं, जो आज अनुपलब्ध है। श्वेताम्बर परम्परा मे इस पर तत्त्वार्थाधिगम भाष्य प्राप्त होता है, जो स्वोपज्ञ कहा जाता है। किन्तु इसके स्वोपज्ञ होने में विद्वानो ने सन्देह व्यक्त किया है[1]। सर्वार्थसिद्धि मे तत्त्वार्थसूत्र का जो पाठ निर्धारित किया गया है, दिगम्बर परम्परा के सभी विद्वान् आचार्यों ने उसका अनुसरण किया है। सर्वार्थसिद्धि को ही दृष्टि मे रखते हुए उस पर भट्ट अकलङ्कदेव ने तत्त्वार्थवार्तिक और आचार्य विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक जैसी प्रौढ और गहन तत्त्वज्ञान से ओतप्रोत अनेक टीकाएँ लिखी हैं। इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र पर सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के जोड की टीकाएँ नही मिलती हैं, यद्यपि सख्या की दृष्टि से अनेक टीकाएँ प्राप्त हैं। समकालीन या परवर्ती समस्त टीकाएँ इन टीकाग्रन्थों से प्रभावित है। प्रस्तुत लेख का प्रतिपाद्य तत्त्वार्थवार्तिक ही है।

तत्त्वार्थवार्तिक तत्त्वार्थसूत्र पर अकलङ्कदेव द्वारा अतिगहन, प्रखर दार्शनिकता और प्रौढ शैली में लिखी गई मौलिक कृति है। इसे तत्त्वार्थराजवार्तिक अथवा राजवार्तिक के नाम से भी जाना जाता है। वार्तिककार अकलङ्कदेव ने सर्वार्थसिद्धि का अनुसरण करने के साथ-२ उसकी अधिकांश पंक्तियो को अपनी वार्तिक बना लिया है। वार्तिक के साथ उसकी व्याख्या भी है। चूंकि तत्त्वार्थ सूत्र मे दस अध्याय हैं, अतः तत्त्वार्थवार्तिक मे दस ही अध्याय हैं, किन्तु उद्योत करके न्यायवार्तिक की तरह प्रत्येक अध्याय को आह्निको में विभक्त कर दिया गया है। इससे पहले जैन साहित्य में अध्याय के आह्निकों मे विभाजन करने की पद्धति नहीं पाई जाती। अकलङ्कदेव द्वारा तत्त्वार्थवार्तिक में दिए गए वार्तिक प्रायः सरल और संक्षिप्त है, किन्तु उनका व्याख्यान जटिल है। इस ग्रन्थ में अकलङ्कदेव के दार्शनिक, सैद्धान्तिक और वैयाकरण तीन रूप उपलब्ध होते हैं[2]।

दार्शनिक वैशिष्ट्य

तत्त्वार्थवार्तिक के अध्ययन से यह बात स्पष्ट पता चलती है कि इसके रचनाकार भट्ट अकलङ्कदेव विभिन्न भारतीय दर्शनों के तलस्पर्शी अध्येता थे। उन्होने विभिन्न दर्शनो के मन्तव्यों की समीक्षा कर अनैकान्तिक पद्धति से समाधान करने की परम्परा को विकसित किया। उनका वाङ्मय गहन है। विद्वान् भी उसका विवेचन करने मे कठिनाई का अनुभव करते है। उनके विषय मे वादिराज सूरि ने कहा है—

"भूयोभेदनयावगाहगहन देवस्य यद्वाङ्मयम्।
कस्तद्विस्तरतो विविच्य वदितुं मन्दः प्रभुर्मादृशः॥"

अर्थात् "अकलङ्कदेव की वाणी अनेक भङ्ग और नयों से व्याप्त होने के कारण अतिगहन है। मेरे समान अल्पज्ञ प्राणी उनका विस्तार से कथन और वह भी विवेचनात्मक कैसे कर सकता है ?"

तत्त्वार्थवार्तिक मे न्याय वैशेषिक, बौद्ध, सांख्य, मीमांसा तथा चार्वाक मतों की समीक्षा प्राप्त होती है। इसमे न्याय, वैशेषिक और बौद्धदर्शन की समीक्षा अनेक स्थलो पर की गई है। अकलङ्कदेव का उद्देश्य इन दर्शनों की समीक्षा के साथ-साथ इनके प्रहारो से जैन तत्त्वज्ञान की रक्षा करना भी रहा है। इसमे वे पर्याप्त सफल भी हुए हैं। उन्होने जैन न्याय की ऐसी शैली को जन्म दिया, जिसके प्रति बहुमान रखने के कारण परवर्ती जैन ग्रन्थकार इसे अकलङ्क न्याय के नाम से अभिहित करते हैं। उनकी शैली को परवर्ती जैन न्याय ग्रन्थकारो ने, चाहे वे दिगम्बर परम्परा के रहे हो या श्वेताम्बर परम्परा के, खूब अपनाया। इस रूप मे आचार्य समन्तभद्र और सिद्धसेन के बाद जैन न्याय के क्षेत्र में उनका नाम बड़े गौरव के साथ लिया जाता है। यहाँ हम उनके द्वारा की गई विभिन्न दर्शनों की समीक्षा पर प्रकाश डालते हैं।

वैशेषिक समीक्षा—तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र की व्याख्या मे सांख्य, वैशेषिक और बौद्धो के मोक्ष के स्वरूप का वर्णन किया गया है। वैशेषिक आत्मा के बुद्धि, सुख, दु.ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, और संस्कार रूप नव विशेष गुणों के अत्यन्त उच्छेद को मोक्ष कहते हैं। ऐसा मानते हुए भी कर्मबन्धन के विनाश रूप मोक्ष के सामान्य लक्षण मे किसी को विवाद नहीं है[1]।

वैशेषिक के मत से द्रव्य, गुण और सामान्य पदार्थ पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र हैं, इसलिए उनके मत मे उष्ण गुण के योग से अग्नि उष्ण है, ऐसा कहा जा सकता है, स्वयं अग्नि उष्ण नहीं हो सकती। अयुतसिद्ध लक्षण समवाय यह इसमें है, इस प्रकार की बुद्धि प्रवृत्ति का कारण होता है, इसलिए गुण-गुणी मे अभेद का व्यपदेश होता है और इस समवाय सम्बन्ध के कारण ही उष्णत्व के समवाय से गुण में उष्णता तथा उष्ण गुण के समवाय से अग्नि उष्ण हो जाती है[1]।

इसके उत्तर मे अकलङ्कदेव ने कहा है कि ऐसा नहीं है; स्वतन्त्र पदार्थों मे समवाय के नियम का अभाव है। यदि उष्ण गुण एव अग्नि परस्पर भिन्न हैं तो ऐसा कौन-सा प्रतिविशिष्ट नियम है कि उष्ण गुण का समवाय अग्नि में ही होता है, शीत गुण मे नही ? उष्णत्व का समवाय उष्ण गुण में ही होता है—शीत गुण में नही, इस प्रकार का प्रतिनियम दृष्टिगोचर नही होता[1]।

इसके अतिरिक्त समवाय के खण्डन में अनेक युक्तियाँ दी गई हैं—

१. वृत्त्यन्तर का अभाव होने से समवाय का अभाव है[1]।

२. समवाय प्राप्ति है, इसलिए उसमें अन्य प्राप्तिमान् का अभाव है, ऐसा भी नही है; क्योंकि इस प्रकार के कथन मे व्यभिचार आता है[1]।

दीपक के समान समवाय स्व और पर इन दोनो का सम्बन्ध करा देगा, ऐसा कहना भी उचित नही है, ऐसा मानने पर समवाय में परिणामित्व होने से अनन्यत्व की सिद्धि होगी[1]।

इन सब कारणों से गुणादि को द्रव्य की पर्यायविशेष मानना युक्तिसगत है।

वैशेषिक मानते हैं कि इच्छा और द्वेष से बन्ध होता है। इच्छा-द्वेषपूर्वक धर्म और अधर्म मे प्रवृत्ति होती है। धर्म से सुख और अधर्म से दु:ख होता है तथा सुख-दु.ख से इच्छा-द्वेष होते है। विमोही के इच्छा-द्वेष नही होते; क्योंकि तत्त्वज्ञ के मिथ्यादर्शन का अभाव है। मोह ही अज्ञान है। विमोही षट्पदार्थ तत्त्व के ज्ञाता वैरागी यति के सुख-दु:ख, इच्छा और द्वेष का अभाव है। इच्छा-द्वेष के अभाव से धर्म, अधर्म का भी अभाव हो जाता है। धर्म-अधर्म के अभाव में नूतन शरीर और मन के संयोग का अभाव हो जाता है। धर्म-अधर्म के अभाव मे नूतन शरीर और मन के सयोग का अभाव हो जाता है। शरीर और मन के संयोग के अभाव में जन्म नही होता, वह मोक्ष है[1]। इस प्रकार अज्ञान से बन्ध होता है, यह वैशेषिक भी मानता है।

अकलङ्कदेव के अनुसार वस्तु सामान्य विशेषात्मक है। इसे वे वैशेषिक मे भी घटित करते हैं। वैशेषिक पृथिवीत्व आदि सामान्य-विशेष स्वीकार करते हैं। एक

ही पृथिवीत्व स्व-व्यक्तियों में अनुगत होने से सामान्यात्मक होकर भी जलादि से व्यावृत्ति कराने का कारण होने से विशेष कहलाता है। इस प्रकार एक ही वस्तु में सामान्य विशेषात्मक स्वीकार करने वाले वैशेषिक सिद्धान्त में भी एक वस्तु के उभयात्मक मानने मे विरोध नहीं आता[१०]।

प्रथम अध्याय के दसवें सूत्र की व्याख्या मे ज्ञाता और प्रमाण भिन्न-२ हैं, ऐसा मानने वाले वैशेषिक के अज्ञत्व दोष आता है, इसका विवेचन किया है। यदि ज्ञान से आत्मा पृथक् है तो आत्मा के घट के समान अज्ञत्व का प्रसङ्ग आएगा। ज्ञान के योग से ज्ञानी होता है, यह कहना भी ठीक नही; क्योंकि जो स्वय अज्ञानी है, वह ज्ञान के सयोग से ज्ञानी नही हो सकता। जैसे जन्म से अन्धा दीपक का सयोग होने पर भी दृष्टा नहीं बन सकता, इसी प्रकार अज्ञ आत्मा भी ज्ञान के सयोग से ज्ञाता नही हो सकता[११]।

प्रथम अध्याय के बत्तीसवें सूत्र की व्याख्या मे कहा गया है कि वैशेषिको का मत है कि प्रतिनियत (भिन्न-२) पृथ्वी आदि जाति विशिष्ट परमाणु से अदृष्टादि हेतु के सन्निधान होने पर एकत्रित होकर अर्थान्तरभूत घटादि कार्यरूप आत्मलाभ होता है, यह कहना युक्तिसगत नही है; क्योंकि वैशेषिक के अनुसार परमाणु नित्य है, अत: उसमें कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति का अभाव है[११]।

इसी प्रकार ५वें अध्याय के प्रथम सूत्र मे मोक्ष के कारणो के विषय मे विभिन्न वादियों के मतो का कथन करते हुए न्यायदर्शन की मान्यता की ओर सकेत किया गया है कि वे मानते हैं कि ज्ञान से ही मोक्ष होता है[११]। तत्त्वज्ञान से सभी के उत्तर की (मिथ्याज्ञान) की निवृत्ति हो जाने पर उसके अनन्तर अर्थ है, उसकी भी निवृत्ति हो जाती है। मिथ्याज्ञान के अनन्तर क्या है? दोष है; क्योंकि दोष मिथ्याज्ञान का कार्य है। दोष कार्य होने से दोष के अनन्तर प्रवृत्ति है, क्योंकि दोष के अभाव में प्रवृत्ति का अभाव है। प्रवृति के उत्तर जन्म है, प्रवृत्ति का कार्य होने से। प्रवृत्ति रूप कारण के अभाव मे जन्म रूप कार्य का भी अभाव हो जाता है। जन्म के उत्तर दु.ख है, इसलिए जन्म के अभाव मे दु:ख का भी नाश हो जाता है। अत: कारण की निवृत्ति होने पर कार्य की निवृत्ति होना स्वाभाविक है। आत्यन्तिक दु.ख की निवृत्ति होना ही मोक्ष है; क्योंकि सुख-दु:ख का अनुपयोग ही मोक्ष कहलाता है[१४]।

जैनदर्शन के अनुसार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की समग्रता के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। जैसे रसायन के ज्ञानमात्र से रसायनफल अर्थात् रोगनिवृत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि इसमे रसायन श्रद्धान और रसायनक्रिया का अभाव है। पूर्ण फल की प्राप्ति के लिए रसायन का विश्वास, ज्ञान और उसका सेवन आवश्यक है। उसी प्रकार दर्शन और चारित्र के अभाव मे ज्ञानमात्र से मोक्ष की प्राप्ति नहीं सकती[१५]।

नैयायिक मानते है कि शब्द आकाश का गुण है, वह वायु के अभिघात आदि बाह्य कारणो से उत्पन्न होता है, इन्द्रिय प्रत्यक्ष है, गुण है, अन्य द्रव्यो मे नहीं पाया जाता, निराधार गुण नही रह सकते, अत: शब्द अपने आधारभूत गुणी आकाश का अनुमान करता है, ऐसा कहना युक्तिसगत नहीं है; क्योंकि पौद्गलिक होने से पुद्गल का विकार ही शब्द है, आकाश का गुण नहीं है[१६]।

पाँचवें अध्याय के २५वें सूत्र की व्याख्या मे यह सिद्ध किया गया है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु स्कन्ध के ही भेद हैं तथा स्पर्श, रस, शब्द आदि स्कन्ध की पर्यायें हैं। इससे नैयायिक के इस सिद्धान्त का खण्डन किया गया है कि पृथ्वी मे चार गुण, जल में गन्धरहित तीन गुण, अग्नि मे गन्ध और रस रहित दो गुण तथा वायु मे केवल स्पर्श गुण है। ये सब पृथिव्यादि जातियाँ भिन्न-२ हैं[१७]।

सल्लेखना के प्रसङ्ग मे कहा गया है कि जो वादी (नैयायिक) आत्मा को निष्क्रिय कहते हैं, यदि उनके पुन: साधुजन सेवित सल्लेखना करने वाले के लिए आत्मवध दूषण है तो ऐसा कहने वाले के आत्मा को निष्क्रिय मानने की प्रतिज्ञा खण्डित हो जाती है। निष्क्रियत्व स्वीकार करने पर आत्मवध की प्राप्ति नहीं हो सकती[१८]।

दान के प्रसङ्ग में कहा गया है कि आत्मा में नित्यत्व, अज्ञत्व और निष्क्रियत्व मानने पर दानविधि नहीं बन सकती। जिनके सिद्धान्त में सत्स्वरूप आत्मा अकारण होने से कूटस्थनित्य है और ज्ञानादि गुणों से भिन्न होने

से (अर्थान्तरभूत होने से) आत्मा अज्ञ है और सर्वगत होने से निष्क्रिय है, उनके भी विधिविशेष आदि से फलविशेष की प्राप्ति नहीं हो सकती; क्योंकि ऐसी आत्मा में कोई विकार-परिवर्तन की सम्भावना नही है[१९]।

पाँचवें अध्याय के दूसरे सूत्र की व्याख्या में नैयायिको के 'द्रव्यत्व योगात् द्रव्य' की विस्तृत समीक्षा की गई है।

चार्वाक दर्शन समीक्षा—पाँचवें अध्याय के २२वें सूत्र में शरीरादि को पुद्गल का उपकार कहा है। उक्त प्रसंग में कहा गया है—तन्त्रान्तरीया जीवं परिभाषन्ते, तत्कथं इति[२०]। अर्थात् अन्य वादी (चार्वाकादि) जीव को पुद्गल कहते हैं, वह कैसे? इस प्रश्न के उत्तर मे सूत्र कहा गया है कि स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण वाले पुद्गल हैं।

मीमांसा दर्शन समीक्षा—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों की एकता से मोक्ष होता है, इस सिद्धान्त के प्रतिपादन के प्रसग मे अन्य मतों की समीक्षा के साथ मीमांसा के इस सिद्धान्त की भी समीक्षा की गई है कि क्रिया से ही मोक्ष होता है[२१]।

प्रथम अध्याय के बारहवें सूत्र की व्याख्या मे प्रत्यक्ष के लक्षण के प्रसंग में बौद्ध, वैशेषिक और सांख्य की समीक्षा के साथ मीमांसकों के इस मत की समीक्षा की गई है कि "इन्द्रियों का सम्प्रयोग होने पर पुरुष के उत्पन्न होने वाली बुद्धि प्रत्यक्ष है[२२]। मीमासको क इस मत को स्वीकार किया जायगा अर्थात् इन्द्रियनिमित्त से होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष माना जाएगा तो आप्त के प्रत्यक्ष ज्ञान नही हो सकता[२३]।

पांचवें अध्याय के सत्रहवें सूत्र मे कहा गया है कि अपूर्व नामक धर्म (पुण्य-पाप) क्रिया से अभिव्यक्त होकर अमूर्त होते हुए भी पुरुष का उपकारी है अर्थात् पुरुष के उपभोग साधनों मे निमित्त होता ही है, उसी प्रकार अमूर्त धर्म और अधर्म द्रव्य को भी जीव और पुद्गलो की गति और स्थिति में उपकारक समझना चाहिए[२४]।

पाँचवें अध्याय के २४वें सूत्र की व्याख्या मे स्फोटवादी मीमांसकों के विषय में कहा गया है कि वे मानते हैं कि ध्वनियाँ क्षणिक हैं। वे क्रम से उत्पन्न होती हैं और अनन्तर क्षण में विनष्ट हो जाती हैं। अतः उन ध्वनियों से अभिव्यक्त होने वाला, अर्थ के प्रतिपादन में समर्थ, अमूर्त, नित्य, अतीन्द्रिय, निरवयव और निष्क्रिय शब्दस्फोट स्वीकार करना चाहिए। उनका यह मत ठीक है अर्थात् शब्द को क्षणिक, अमूर्त, निरवयव और निष्क्रिय शब्दस्फोट मानना उचित नहीं; क्योंकि ध्वनि और स्फोट में व्यंग्य-व्यंजक भाव नहीं है[२५]।

सांख्य दर्शन समीक्षा—प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र की व्याख्या मे विभिन्न वादियो की मोक्ष की परिभाषा के साथ सांख्यदर्शन की मान्यता की ओर भी निर्देश किया गया है। सांख्य यद्यपि प्रकृति और पुरुष का भेद-विज्ञान होने पर स्वप्न में लुप्त हुए विज्ञान के समान अनभिव्यक्त चैतन्यस्वरूप अवस्था को मोक्ष मानता है[२६]। तथापि कर्मबन्धन के विनाशरूप मोक्ष के सामान्य लक्षण मे किसी को विवाद नहीं है[२७]।

पंचम अध्याय मे आकाश के प्रदेशों की अनन्तता के विषय में आपत्ति होने पर बौद्ध और वैशेषिक द्वारा अनन्त की मान्यता दिए जाने का उल्लेख करते हुए सांख्य सिद्धान्त के विषय में कहा गया है कि सांख्य सिद्धान्त में सर्वगत होने से प्रकृति और पुरुष के अनन्तता कही गई है[२८]।

जैनधर्म में धर्म और अधर्म द्रव्य को गति और स्थिति मे साधारण कारण माना है। यदि ऐसा न मानकर आकाश को सर्वकार्य करने मे समर्थ माना जायगा तो वैशेषिक, बौद्ध और सांख्य सिद्धान्त से विरोध आएगा। उदाहरणार्थ सांख्य सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण मानते हैं। सत्त्व गुण का प्रसाद और लाघव, रजोगुण का शोष और ताप तथा तमोगुण का आवरण और सादनरूप भिन्न भिन्न स्वभाव है। यदि व्यापित्व होने से आकाश को ही गति एव स्थिति में उपग्रह (निमित्त) मानते हैं तो व्यापित्व होने से सत्त्व को ही शोष तापादि रजोगुणधर्म और सादन आवरण आदि तपोधर्म मान लेना चाहिए; रज, तम गुण मानना निरर्थक है तथा और भी प्रतिपक्षी धर्म हैं। उनको एक मानने से सङ्कर दोष आएगा। उसी प्रकार सभी आत्माओं मे एक चैतन्य रूपता और आदान-अभोगता समान है, अतः एक ही आत्मा मानना चाहिए, अनन्त नहीं अर्थात् आत्मा भी चैतन्य भोक्तृ आदि समान होने से

सर्व आत्मा में एकत्व का प्रसङ्ग आएगा[९]।

पांचवें अध्याय के सत्रहवें सूत्र की व्याख्या मे कहा गया है कि जैसे अमूर्त भी प्रधान पुरुषार्थ प्रवृत्ति से महान् अहंकार आदि विकार रूप से परिणत होकर पुरुष का उपकार करता है, उसी प्रकार अमूर्त धर्म और अधर्म द्रव्य को भी जीव और पुद्गलों की गति और स्थिति मे उपकारक समझना चाहिए[१०]।

सांख्य का आकाश को प्रधान का विकार मानना ठीक नही है; क्योकि आत्मा की तरह प्रधान के भी विकार रूप परिणमन नही हो सकता।

प्रश्न—सत्व, रज और तम इन तीन गुणों की साम्य अवस्था ही प्रधान है, उस प्रधान मे उत्पादक स्वभावता है। उस प्रधान के विकार महान्, अहंकार आदि है तथा आकाश भी प्रधान का एक विकार है।

उत्तर—यह कथन भी अयुक्त है; क्योकि प्रधान परमात्मा के समान नित्य, निष्क्रिय, अनन्त आदि अविशेषपने से परमात्मा का आविर्भाव और तिरोभाव नहीं होने से उसमे परिणमन का अभाव है, उसी प्रकार आत्मा के समान अविशेष रूप से नित्य, निष्क्रिय और अनन्त होने से प्रधान के भी विकार का अभाव है और प्रधान के विकार का अभाव होने से "प्रधान का विकार आकाश है', इस कल्पना का व्याघात होता है। अथवा जैसे प्रधान के विकार घट के अनित्यत्व, मूर्त्तत्व और असर्वगतत्व है, उसी प्रधान का विकार होने से आकाश के भी अनित्यत्व, अमूर्त्तत्व और असर्वगतत्व होना चाहिए या फिर आकाश की तरह घट के भी नित्यत्व, अमूर्त्तत्व और सर्वगतत्व होना चाहिए; क्योंकि एक कारण से दो परस्पर अत्यन्त विरोधी नहीं हो सकते[३१]।

छठे अध्याय के दसवें सूत्र की व्याख्या में कहा गया है कि कारण तुल्य होने से कार्य तुल्य होना चाहिए, इस पक्ष में प्रत्यक्ष और आगम से विरोध आता है। मिट्टी के पिण्ड से घट, घटी, शराब, उदञ्चन आदि अनेक कार्य होने से उपर्युक्त सिद्धान्त से प्रत्यक्ष विरोध आता है। सांख्य एक प्रधान तुल्य कारण से महान् अहंकार आदि नाना कार्य मानते है[३२]।

वस्तुओं में भिन्न-२ स्वभाव स्वीकार किए जाने में सांख्य का भी उदाहरण दिया गया है, जहाँ सत्त्व, रज, तम गुणो का प्रकाश, प्रवृति और नियम आदि स्वभाव माना गया है[३३]।

योगदर्शन—मोक्ष के कारणो के विषय मे विभिन्न वादियों के मत वैभिन्न को दिखलाते हुए योगदर्शन की मान्यता की ओर निर्देश किया गया है, जिसके अनुसार ज्ञान और वैराग्य से मोक्ष होता है। पदार्थों के अवबोध को ज्ञान कहते है और विषयसुख की अभिलाषाओं के त्याग अर्थात् पंचेन्द्रियजन्य विषयसुखो में अनासक्ति को वैराग्य कहते है[३४]। (क्रमशः)

सन्दर्भ-सूची

१. विशेष जानकारी के लिए सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्द्र शास्त्री की सर्वार्थसिद्धि की प्रस्तावना देखिए।
२. न्यायकुमुदचन्द्र प्र. भाग (प. कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित प्रस्तावना पृ. ६३)।
३. तत्त्वार्थवार्तिक १।१८. ४. वही १।१।१२.
५. वही १।१।१३. ६. वही १।१।१४.
७. वही १।१।१५. ८. वही १।१।१६.
९. वही १।१।४४. १०. वही १।६।१४.
११. वही १।१०।८-९. १२. वही १।३२।४.
१३. केचित्तावदाहुः ज्ञानादेव मोक्ष इति वही १।१।६.
१४. तत्त्वार्थ वा. १।१।४५. १५. वही १।१।४६.
१६. वही ५।१८।१२. १७. वही ५।२६।१७.
१८ वही ७।२२।१०. १९. वही ७।३६।६.
२०. वही ५।२२।२६. २१. अपर आहुः क्रियात एव मोक्ष इति। तत्त्वार्थवार्तिक १।१।५.
२२. सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्मतत्प्रत्यक्षं। वही १।१।५. मी. द. १।१२।४.
२३. तत्त्वार्थवार्तिक १।१२।५.
२४. अपूर्वाख्यो धर्मः क्रियया अभिव्यक्तः सन्नमूर्तोऽपि पुरुषस्योपकारी वर्तते तथा धर्माधर्मयोरपि गतिस्थित्युपग्रहोऽवसेयः। वही ५। ७।४१.
२५. तत्त्वार्थवार्तिक ५।२४।५.
२६. वही १।१।८. २७. वही १।१।८.
२८. इतरे ब्रुवते-प्रकृतिपुरुषयोरनन्तत्वं सर्वगतत्वादिति। वही ५।६।४.
२९. तत्त्वार्थवार्तिक ५।१७।२३ ३०. वही ५।१७।४१.
३१. वही ५।१८।१. ३२. वही ६।१०।११.
३३. वही ६।२७।६. ३४. वही १।१।६.

संस्कृत जैन-चम्पू और चम्पूकार

□ डॉ० कपूरचन्द जैन

भारतीय काव्यशास्त्र मे काव्य के दृश्य और श्रव्य ये दो भेद किए गये है। श्रव्यकाव्य को भी गद्य पद्य और मिश्र इन तीनों भागों मे विभाजित किया गया है मिश्र रचना शैली के प्राचीनतम उदाहरण ब्राह्मण ग्रन्थों मे पाये जाते हैं। पालि की जातक कथाओं और प्राकृत के "कुवलयमाला" प्रभृति ग्रन्थो मे इस शैली के दर्शन होते है। "पचतन्त्र" और "हितोपदेश" जैसी रचनाओं मे तथा सस्कृत नाटको में दोनों का प्रयोग हुआ है।

किन्तु यहां गद्य और पद्य का अपना विशिष्ट स्थान रहा है। यहां कथात्मक भाग गद्य मे और उसका सार या उपदेश पद्य मे ग्रथित रहा। परन्तु जब गद्य तथा पद्य दोनो मे ही प्रौढता और उत्कृष्टता आने लगी तब नवगुणानुरागी कवियो ने सम्मिलित प्रौढ़ गद्य और पद्य की कसौटी पर अपने आपको परखा, फलतः अनेक कवियो ने गद्य की अर्थगरिमा व पद्य की रागमयता से समन्वित गद्य-पद्य मिश्रित काव्यो की रचना कर डाली। कालान्तर मे यह काव्य विधा चम्पू नाम से अभिहित हुई। महाकवि हरिचन्द्र ने लिखा है कि गद्यावलि और पद्यावलि दोनों मिलकर वैसे ही प्रमोद उत्पन्न करती है, जैसे बाल्य और तारुण्य अवस्था से युक्त कोई कान्ता—

"गद्यावलिः पद्यपरम्परा च प्रत्येकमप्यावहति प्रमोदम।
हर्षप्रकर्षं तनुते मिलित्वा द्राग्बाल्यतारुण्यवतीव कान्ता॥"[1]

चम्पू शब्द चुरादिगणीय गत्यर्थक 'चपि' धातु से "उ" प्रत्यय लगाकर बना है। "चम्पयति इति चम्पू" किन्तु इस व्युत्पत्ति से शब्द का स्वरूप मात्र उपस्थित होता है। हरिदास भट्टाचार्य के अनुसार "चमत्कृत्य पुनाति सहृदयान् विस्मयीकृत्य प्रसादयति इति चम्पूः" चम्पू की परिभाषा है। यह व्युत्पत्ति अधिक उपयुक्त जान पड़ती है। चम्पू काव्य चमत्कार प्रधान हुआ करते हैं। चमत्कार से तात्पर्य उक्ति वक्रता एव शाब्दी काट-छाट से है। चम्पू काव्यों मे रस एव औचित्य की अपेक्षा पाण्डित्य प्रदर्शन की ओर कृतिकारों का अधिक ध्यान रहा है। यों तो शब्दार्थ योजना वैचित्र्य सब जगह दिखाई पड़ता है, किन्तु चमत्कार प्रदर्शन की ओर सर्वाधिक प्रवृत्ति चम्पू काव्यों मे दृष्टिगत होती है।

चम्पूकाव्य की प्रतिष्ठा मध्यकाल में हुई फलतः इस पर अधिक ध्यान नही दिया गया। दण्डी ने कहा है—

मिश्राणि नाटकादीनि तेषामन्यत्रविस्तरः।
गद्यपद्यमयी काचिच्चम्पूरित्यपि विद्यते॥[2]

इसी प्रकार की परिभाषा विश्वनाथ[3] ने भी प्रस्तुत की है। किसी अज्ञात विद्वान की भी एक परिभाषा प्राप्त होती है, जिसमे उक्ति प्रत्युक्ति तथा विष्कम्भक का न होना तथा अक और उच्छ्वास का होना बताया गया है।

"गद्यपद्यमयी सांका सोच्छ्वासा कविगुम्फिता।
उक्तिप्रत्युक्ति विष्कम्भक शून्या चम्पूरुदाहृता॥"[4]

चम्पूकाव्य की साक और सोच्छ्वास विशेषता हेमचन्द्र ने भी स्वीकार की है—

"गद्यपद्यमयी साका सोच्छ्वासा चम्पू।"[5]

डा० के० भुजबली शास्त्री ने चम्पू शब्द को देश्य माना है। उनका कहना है कि चम्पू काव्य जैनो की अनुपम देन है। उन्होने कर्णाटक के प्रसिद्ध कवि श्री द० रा० बेन्द्रे के मत का उल्लेख किया है, तदनुसार कन्नड़ और तुलु भाषाओ मे "चपु और चपे" के रूप मे जो शब्द उपलब्ध है, उनका अर्थ "सुन्दर" और "मिश्र" होता है। बहुत करके इन्ही शब्दो से चम्पू शब्द निष्पन्न हुआ होगा। आज भी कन्नड और तुलु भाषा के "केन् चेन्" ये मूल शब्द "केंपु चेंपु" के रूप मे निष्पन्न होकर सुन्दर और मनोहर अर्थ को प्रदान करते है। गद्य पद्य मिश्रित काव्य विशेष को जनता ने सर्व प्रथम सुन्दर एवं मनोहर अर्थ मे 'चेंपु' के नाम से पुकारा होगा और वही बाद मे रूढ़ि के

बल से चेम्पु या चम्पु के नाम से प्रसिद्ध हुआ होगा[1]। डा० हीरालाल जैन और डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये का भी यही मत है कि सम्भव है यह आर्यभाषा का शब्द न होकर द्राविड़ भाषा का शब्द हो[*]।

डा० छविनाथ त्रिपाठी ने "चम्पूकाव्य का आलोचनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन" ग्रन्थ मे चम्पूकाव्य की निम्न विशेषताएँ बताई है—यह गद्यपद्यमय होता है, अंकों से युक्त तथा उच्छ्वासो मे विभक्त होता है, उक्ति प्रत्युति एव विष्कम्भक नही होते आदि। किन्तु ये विशेषताएँ सभी चम्पू काव्यो में प्राप्त नही होती अतएव चम्पू काव्य की कोई निष्पक्ष और पूर्ण परिभाषा नहीं दी जा सकती तथापि डा० छविनाथ त्रिपाठी की निम्न परिभाषा उचित जान पड़ती है।

गद्यपद्यमयं श्रव्य 'सम्बन्ध' बहुवर्णितम्।
सालङ्कृतं रसै सिक्तं चम्पुकाव्यमुदाहृतम्॥[८]

चम्पू काव्यों ने सर्वप्रथम किस भाषा मे जन्म लिया यह प्रश्न भी कम विचारणीय नहीं है, सस्कृत के उपलब्ध चम्पू काव्यों में त्रिविक्रम भट्ट का 'नलचम्पू' प्रथम है इसका समय ९१५ ई० स्वीकार किया जाता है, यत: उन्होंने राष्ट्रकूट नायक तृतीय इन्द्र (ई० सन् ९१४-१५) के आश्रय मे उक्त चम्पू रचा था। इस राजा के नौसारी वाले दानपत्र के लेखक यही त्रिविक्रम भट्ट थे[१]। इनका एक अन्य चम्पू "मदालसा चम्पू" भी प्राप्त है।

दूसरा महत्वपूर्ण चम्पू आचार्य सोमदेव का 'यशस्तिलक चम्पू" है। उन्होंने भी राष्ट्रकूट राजा कृष्णराजदेव (तृतीय कृष्ण) समय ९४५-९७२ ई० के समय मे उक्त चम्पू समाप्त किया था। अत: यशस्तिलक का काल १०वी शती का उत्तरार्ध सिद्ध है।

चम्पू काव्यों की उपलब्ध परिभाषाओ मे दण्डी की परिभाषा सबसे पहली है। दण्डी का समय सप्तम शताब्दी या अष्टम शताब्दी का पूर्वार्ध स्वीकार किया जाता है वे बरार (विदर्भ) निवासी थे और बाद में काञ्ची के पल्लव राजाओं के आश्रय मे रहे थे। यह जनश्रुति सुविख्यात है कि पल्लव नृपति के राजकुमार को शिक्षित बनाने के लिए उन्होने अपने प्रख्यात ग्रन्थ काव्यादर्श की रचना की थी। कई लेखको का यह भी मत है कि काव्यादर्श मे वर्णित राजवर्मा ही काञ्ची के अधिपति पल्लव नृपति है। पल्लव नृपति शैव मतावलम्बी थे और उसके प्रचारक भी, इनका राज्यकाल ई. ६९० से ७२५ तक माना गया है।[१०]

उक्त विवेचन से इतना तो स्पष्ट है कि चम्पू काव्य का उद्भव दक्षिण भारत में हुआ। दण्डी चम्पूकाव्यों से परिचित थे, किन्तु वे चम्पूकाव्य कौन-कौन थे, यह अब भी रहस्य बना हुआ है। इस गुत्थि को सुलझाने के लिए हमे कन्नड के चम्पूकाव्यों की ओर जाना होगा। उपलब्ध कन्नड़ साहित्य मे भी दसवी शताब्दी के ही चम्पू काव्य प्राप्त होते हैं, जो सुप्रसिद्ध जैन कवि पम्प, पोन्न और रन्न के हैं। किन्तु इससे पूर्व भी चम्पू शैली के काव्यों और चम्पुओं के नाम उपलब्ध होते हैं। नृपतुग (८१४–८७७ ई०) द्वारा लिखित "कविराजमार्ग" नामक लक्षण ग्रन्थ में विमलोदय, नागार्जुन, जयबन्धु, दुर्विनीत श्रीविजय, कवीश्वर आदि अनेक कन्नड़ कवियों का नामोल्लेख हुआ है। इनमें श्रीविजय का उल्लेख दुर्गसिंह (११४५ ई०) ने किया है और उनकी कविता को कवियों के लिए दर्पण एवं दीपक बताया है। मंगरस (१५०८ ई०) और दोड्डय्य (१५५० ई०) ने कहा है कि श्री विजय ने "चन्द्रप्रभपुराण" चम्पू शैली में लिखा है"। श्री विजय का समय ८वीं शती स्वीकार किया जाना चाहिए यत: नृपतुंग (८१४-८७७) ने इनका उल्लेख किया है।

इसी प्रकार गुणवर्म (प्रथम) का समय ९०० ई० माना गया है। केशिराज ने गुणवर्म के "हरिवंश" का उल्लेख किया है, जिसका अपरनाम "नेमिनाथपुराण" भी है। विद्यानन्द (१५५० ई०) ने अपने "काव्यसार" नामक संकलन ग्रन्थ में गुणवर्म के 'शूद्रक' ग्रन्थ का उल्लेख किया है तथा उसके गद्य-पद्य को उद्धृत किया है। "काव्यसार" में सभी उदाहरण चम्पू काव्यो के हैं। अत: इस अनुमान को पर्याप्त आकार मिल जाता है कि 'शूद्रक' चम्पू ग्रन्थ रहा होगा इस ग्रन्थ मे गगराज एरेयप्प (८८६-९१३ ई०) की तुलना शूद्रक से की गई है तथा कन्नड़ जैन कवियों की यह विशेषता रही है कि वे एक लौकिक काव्य अपने आश्रयदाता के गुणगान मे और एक धार्मिक काव्य तीर्थंकरों की जीवनी से सम्बद्ध लिखते रहे है, इसी-

लिए पं० के० भुजबली शास्त्री ने लिखा है—इस (उक्त) परम्परा के प्रवर्तक गुणवर्म हैं, परवर्ती कवि पम्प, पोन्न और रन्न ने यही पद्धति अपनाई है। पम्प से पहले ही कन्नड़ में चम्पू शैली मे सम्पन्न ग्रन्थ रचने का श्रेय गुणवर्म को प्राप्त है[१२]।

इस प्रकार यह कहना असमीचीन जान नही पड़ता कि दण्डी जिन चम्पूकाव्यो से परिचित रहे होगे वे श्री विजय आदि के चम्पू ही रहे होगे। "कविराजमार्ग" भी मौलिक ग्रन्थ नही है। दण्डी के "काव्यादर्श" का ही कन्नड़ रूपान्तर है[१३]। इससे यह सिद्ध है कि दण्डी दक्षिण मे रहे और कन्नड काव्य शास्त्रियों से उनकी घनिष्टता रही। "गद्य-पद्यमयी काचित चम्पूरित्यभिधीयते" में काचित् पद के द्वारा उन्होने चम्पूकाव्यों की अल्पता और उनके प्रति उपेक्षा ही सूचित की है। ऐसी उपेक्षा अन्य भाषा के काव्यों के प्रति ही होती है। अतः लगता यही है कि दण्डी कन्नड़ के चम्पुओ से ही परिचित थे।

अपने उद्भव के साथ ही चम्पूशैली अत्यधिक लोकप्रिय हुई और विपुल मात्रा मे चम्पूकाव्यों का सृजन हुआ। डा० छविनाथ त्रिपाठी ने 'चम्पूकाव्यो' का आलोचनात्मक एव ऐतिहासिक अध्ययन" ग्रन्थ मे प्रकाशित-अप्रकाशित लगभग २५० चम्पूकाव्यो की सूची दी है। जैन चम्पूकाव्यो की परम्परा का परिचय यहां हम प्रस्तुत कर रहे है।

यशस्तिलक चम्पू :—

न केवल जैन चम्पूकाव्यों अपितु समग्र संस्कृत चम्पूकाव्यों मे यशस्तिलक का स्थान अप्रतिम है। इसके रचयिता आचार्य सोमदेव का जीवन चरित सस्कृत के अन्य कवियों की भांति अन्धकाराछन्न नही है। यतः उन्होंने यशस्तिलक तथा नीति वाक्यामृत मे अपने सम्बन्ध मे पर्याप्त सूचनाएँ दी हैं। तदनुसार वे देवसंघ के तिलक आचार्य यशोदेव के प्रशिष्य और सकलतार्किक-चूडामणि, चुम्बितचरण श्रीमान् नेमिदेव के शिष्य थे। उनके बड़े भाई का नाम भट्टारक महेन्द्रदेव था तथा स्याद्वादाचलसिंह, तार्किकचक्रवर्ती, वादीभपचानन, वाक्कल्लोलपयोनिधि, कविकुलराज उनकी उपाधियाँ थी। उन्होंने षण्णवति प्रकरण, युक्तिचिन्तामणि सूत्र, महेन्द्रमातलिसंजल्प, युक्तिचिन्तामणि, यशोधर महाराजचरित (यशस्तिलक) और नीतिवाक्यामृत नामक ग्रन्थों की रचना की थी[१४]।

पं० कैलाश चन्द्र शास्त्री ने "अध्यात्मतरङ्गिणी" को भी सोमदेव की रचना बताई है[१५]। श्री नाथूराम प्रेमी के अनुसार चालुक्यवंशीय अरिकेसिन् तृतीय के दानपत्र में सोमदेव को "स्याद्वादोपनिषत्" का कर्त्ता कहा गया है[१६] डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने अध्यात्मतरंगिणी का दूसरा नाम योगमार्ग बताया है[१७]। इनमें से केवल "यशस्तिलक", "अध्यात्मतरगिणी" तथा "नीतिवाक्यामृत" ही प्राप्त तथा प्रकाशित हैं।

अपने रचनाकाल के विषय मे स्वयं सोमदेव ने लिखा है कि—शक संवत् ८८१ (९५९ ई०) मे सिद्धार्थ सवत्सर के अन्तरगत चैत्र मास की मदनत्रयोदशी (शुक्लपक्ष की त्रयोदशी) मे जब श्री कृष्णराज देव पांड्य, सिंहल, चोल व चेलम आदि राजाओ पर विजयश्री प्राप्त करके अपना राज्य माल्याटी (मेलपाटी) मे वृद्धिगत कर रहे थे तब यशस्तिलक समाप्त हुआ[१८]। दक्षिण के इतिहास से विदित होता है कि उक्त कृष्णराजदेव (तृतीय) कृष्ण राष्ट्रकूट या राठौर वश के महाराजा थे और इनका दूसरा नाम अकाल वर्ष था। इनका राज्यकाल कम से कम शकसंवत् ८६७-८९४ (९४५-९७२ ई०) तक प्रायः निश्चित है[१९]। अतः सोमदेव का समय ई० की १०वी शताब्दी प्रायः निश्चित मानना चाहिए।

सोमदेव महान् तार्किक और अक्खड़ किस्म के विद्वान् थे। उन्होने स्वयं कहा है कि 'मैं छोटों के साथ अनुग्रह, बराबरी वालो के साथ सुजनता और बड़ो के साथ महान् आदरभाव का बर्ताव करता हूं। किन्तु जो ऐंठ दिखाए है, उसके लिए गर्वरूपी पर्वत को विध्वंस करने वाले मेरे वज्रवचन कालस्वरूप हो जाते हैं। वाद के समय वृहस्पति भी मेरे सामने नही ठहर सकते'।[२०] काव्यकला के विलास में उनका कौशल कम नहीं है, उनकी बुद्धिरूपी गौ ने जीवन भर तर्करूपी घास खाया पर उसी से काव्यरूपी दूध उत्पन्न हुआ है[२१]। उनके राजनैतिक ज्ञान के सन्दर्भ में "नीतिवाक्यामृत" ही निदर्शन है। एक जगह तो उन्होने शब्दार्थ रस मे समग्र लोक को अपना उच्छिष्ट कह डाला है[२२]।

"यशस्तिलक" के अन्तिम तीन आश्वासों मे सोमदेव का धर्माचार्यत्व प्रकट हुआ है। वे वेद और उपनिषदों के अप्रतिम ज्ञाता थे। पशुबलि को लेकर जो तर्क वैदिक ग्रन्थों के उद्धरण देकर प्रस्तुत किये गये है, वे इस बात के समुज्वल निदर्शन हैं। 'यशस्तिलक' मे आठ आश्वास है। अन्तिम तीन मे धर्म का विवेचन है इसके गद्य पर कादम्बरी का प्रभूत प्रभाव है। इसी प्रकार कथावस्तु का संघठन भी कादम्बरी से प्रभावित है। सोमदेव का उद्देश्य अहिंसा के उत्कृष्टतम रूप की प्रतिष्ठा करना रहा है। इसकी कथावस्तु से उन्होने दिखाया कि जब आटे के भी मुर्गे की हिंसा करने मे लगातार छह जन्मों तक पशु योनि मे भटकना पडा तो साक्षात् पशु हिंसा करने का कितना विषाक्त परिणाम होगा इसकी कल्पना भी कठिन है, यशस्तिलक की संक्षिप्त कथावस्तु निम्न है—

यौधेय जनपद में मारिदत्त नाम का राजा था। जिसने एक कौलाचार्य के कहने पर सभी जोड़ो के साथ मनुष्य के जोड़े की बलि देने का विचार किया। सेवक दो प्रव्रजित भाई बहिन को पकड लाये, जो अल्पायु थे। (प्रथम सं०)।

मुनिकुमारो को देख राजा का क्रोध शान्त हो गया। और उसने उनका परिचय पूछा, मुनिकुमारों ने कहा—उज्जयिनी का राजा यशोधर था (द्वितीय आश्वास तथा तृतीय आश्वास) एक दिन रात मे छद्मवेश से उसने देखा कि उसकी रानी महावत के साथ सम्भोग कर लौट आई है। प्रातः यशोधर को उदास देखकर इसकी माता ने कारण पूछा। राजा ने अशुभ स्वप्न का बहाना बनाया, जिसकी शान्ति के लिए माता ने पशुबलि का प्रस्ताव रखा। राजा के न मानने पर अन्त मे आटे के मुर्गे की बलि देना तय हुआ। इधर रानी ने उस प्रसाद मे राजा को मारने के लिए विष मिला दिया। जिससे मा बेटे दोनो मर गये। (चतुर्थ आश्वास)

भावहिंसा के कारण वे दोनों छह जन्मों तक पशु-योनि मे भटकते रहे और क्रमशः मोर-कुत्ता, हिरण-सर्प, जल जन्तु, बकरा-बकरी, भैंस-भैंसा और मुर्गा-मुर्गी हुए। यहीं एक मुनि की वाणी सुन वे भाई-बहिन हुए तथा पूर्वजन्मों की स्मृति के कारण बाल्यावस्था मे ही प्रव्रजित हो गये। राजन् वे ही हम मुनिकुमार हैं। हमारे आचार्य नगर के समीप ही ठहरे है।

यह सुनकर राजा बडा आश्चर्यचकित हुआ और उसने दीक्षा देने का आग्रह किया (पचम आश्वास) आगे के तीन आश्वासो मे जैनधर्म के सिद्धान्तो का विशद्-विवेचन है जिसके वक्ता आचार्य सुदत्त है। सभी ने धर्म ग्रहण किया और यथायोग्य स्वर्ग-पद पाया, अन्तिम मंगल तथा आत्म-परिचय के साथ ग्रन्थ समाप्ति।

जीवन्धर चम्पू—दूसरा महत्वपूर्ण जैन चम्पू "जीवन्धर चम्पू" है। इसके कर्त्ता महाकवि हरिचन्द्र ने "धर्मशर्माभ्युदय" महाकाव्य की भी रचना की है। जिसमे पन्द्रहवे तीर्थंकर धर्मनाथ का चरित्र चित्रित है। यद्यपि श्री नाथूराम प्रेमी[13] ने जीवन्धर चम्पू का कर्त्ता महाकवि हरिचन्द्र को न मानकर किसी अन्य कवि को माना है, किन्तु डा० पन्नालाल साहित्याचार्य ने "धर्मशर्माभ्युदय" और 'जीवन्धर चम्पू" के भावों तथा शब्दो की समानता के आधार पर दोनो का कर्त्ता एक ही माना है[14]। डा० कीथ भी जीवन्धर चम्पू का कर्त्ता हरिचन्द्र को ही मानते हैं[15]।

हरिचन्द्र का समय, कुल, माता-पिता एव भाई आदि अज्ञात नही है। 'धर्मशर्माभ्युदय" की अन्तिम प्रशस्ति से इनका परिचय मिल जाता है, यद्यपि यह प्रशस्ति सभी हस्तलिखित प्रतियो में नही पाई जाती है, तथापि भाण्डारकर रिसर्च इस्टीट्यूट पूना से प्राप्त प्रति मे यह उल्लिखित है। यह प्रति विक्रम सवत् १५३५ मे लिखित है जिससे यह ज्ञात होता है, कि यदि यह प्रशस्ति बाद में जोडी गई है तो, १५३५ वि० स० के पूर्व जोडी गई है। प्रशस्ति मे हरिचन्द्र के पिता का नाम आर्द्रदेव आया है और धर्मशर्माभ्युदय मे भी आर्द्रदेव का उल्लेख हुआ है[16]। प्रशस्ति की भाषा भी महाकवि की भाषा से मिलती-जुलती है। अतः प्रशस्ति का हरिचन्द्र कृत मानना असमीचीन न होगा।

प्रशस्ति के अनुसार नोमक वंश के कायस्थ कुल मे आर्द्रदेव नामक श्रेष्ठ विद्वान हुए, जिनकी पत्नी का नाम रथ्या था, उन दोनो मे हरिचन्द्र नाम का पुत्र हुआ, हरिचन्द्र के छोटे भाई का नाम लक्ष्मण था। गुरु का नाम

क्या था? यह उल्लिखित नहीं पर, गुरु के प्रसाद से उनकी वाणी निर्मल हो गई थी[२७]।

कायस्थो मे वैष्णव धर्म का प्रचार देखा जाता है पर हरिचन्द्र अपने परीक्षा प्रधान गुण के कारण जैन हो गये थे[२८]। कदाचित इसी कारण उन्होने धर्मशर्माभ्युदय के चतुर्थ सर्ग में दशरथ और सुमन्त्र के मध्य हुए वार्तालाप के माध्यम से यह दिखाया है कि कोई भी व्यक्ति किसी भी धर्म को मानने मे स्वतन्त्र है। उन्होने अपने जन्म स्थान के संदर्भ मे कोई संकेत नही दिया है पर उनके वर्णनो से ऐसा लगता है कि वे मध्य प्रान्त (वर्तमान मध्य प्रदेश) के निवासी थे[२९]। हरिचन्द्र नाम के अनेक विद्वानो का उल्लेख संस्कृत साहित्य मे हुआ है। राजशेखर[३०] और बाण भट्ट[३१] ने हरिचन्द्र का उल्लेख किया है। साहसाक राज का प्रधान वैद्य भी हरिचन्द्र था[३२]। पर ये तीनो उक्त हरिचन्द्र से भिन्न है। यतः "जीवन्धर चम्पू" तथा "धर्मशर्माभ्युदय" पर "यशस्तिलक" का प्रभूत प्रभाव पड़ा है, तथा उक्त तीनो हरिचन्द्र सातवी शती से पूर्व के हैं और सोमदेव का समय ई० की दसवी शती का उत्तरार्ध है। अतः हरिचन्द्र का समय ११-१ वी शती मानना चाहिए। धर्मशर्माभ्युदय की एक प्रति पाटण के संघवी-पाडा के पुस्तक भण्डार में मिली है, जिसका लेखन काल वि० स० १२८७ (१२३० ई०) है[३३]।

जीवन्धर चम्पू मे जैन कथानको मे प्रसिद्ध जीवन्धर का चरित्र चित्रित किया गया है। राजपुरी के राजा सत्यन्धर को उसका मंत्री छल से मार डालता है, रानी श्मसान मे एक पुत्र को जन्म देती है, जिसे एक वैश्य उठा लाता है। (प्रथम लम्भ) विद्यालय मे गुरू जीवन्धर को सारी कथा बताते हैं। जीवन्धर नन्दगोप की पुत्री का विवाह अपने मित्र गोविन्दा से कराते हैं। (द्वितीय लम्भ)

जीवन्धर वीणा वादन में गन्धर्वदत्ता को पराजित कर उससे विवाह करते हैं (तृतीय लम्भ) सुदर्शन यक्ष की सहायता से हाथी को पराजित कर गुणमाला से (चतुर्थ लम्भ) विषमोचन कर पद्मा से (पचम लम्भ) जिनालय के किवाड़ खोलकर क्षेमश्री से (षष्ठ लम्भ), राजपुत्रों को धनुर्विद्या सिखाकर कनकमाला से (सप्तम लम्भ), राजपुरी में ही विमला और सुरमजरी से (अष्टम-नवम लम्भ) तथा काष्ठांगार को स्वयंवर मे हराकर लक्ष्मणा से विवाह करते है (दशम लम्भ) अन्त में मामा की सहायता से काष्ठांगार को मारकर राजपुरी का राज्य प्राप्त करते है। उनके राज्य मे प्रजा सुखी थी। अन्त मे जिन दीक्षा लेकर उन्होने मोक्ष पद पाया, अन्तिम मगल के साथ काव्य समाप्ति (एकादश लम्भ)।

पुरुदेव चम्पू :—

तीसरा महत्वपूर्ण जैन चम्पू "पुरुदेव चम्पू" है, इसके कर्त्ता महाकवि अर्हद्दास की "मुनिसुव्रत काव्य" तथा "भव्य जनकण्ठाभरण" ये दो रचनाएँ और उपलब्ध होती हैं। उन्होंने अपने जन्मस्थान के सन्दर्भ म कोई सूचना नहीं दी है। श्री नाथूराम प्रेमी ने उनके ग्रन्थों का प्रचार कर्नाटक मे अधिक होने के कारण उनके कर्नाटक में रहने का अनुमान लगाया है[३४]। पण्डित आशाधर अपने अंतिम समय मे अवन्ती के नलकच्छपुर मे रहे थे और वहीं उन्होंने "जिनयज्ञ कल्प" और "अनगार धर्मामृत" की टीका आदि ग्रन्थ लिखे थे। यदि अर्हद्दास आशाधर के अन्तिम समय मे उनके पास पहुंचे तो उनका स्थान अवंती प्रदेश मानना होगा किन्तु समुचित प्रमाणों के अभाव में कुछ निश्चित कह पाना सम्भव नही है।

श्री नाथूराम प्रेमी ने मदनकीर्ति यतिपति के ही अर्हद्दास बन जाने का अनुमान लगाया है[३५]। किन्तु पुष्ट प्रमाणों के अभाव में इस मत को भी वास्तविक रूप मे स्वीकार नही किया जा सकता।

पण्डित आशाधर महान् विद्वान् होते हुए भी मुनि नही बने अपितु उन्होंने मुनियो के चरित्र में पनप रही तत्कालीन शिथिलता की कड़ी आलोचना की है। वे गृहस्थ पण्डित थे, अतः उनके शिष्य अर्हद्दास का भी गृहस्थ पण्डित होना सम्भव है। डा० गुलाबचन्द्र चौधरी ने अर्हद्दास को गृहस्थ पण्डित ही माना है[३६]।

यह विषय भी अत्यन्त विवादास्पद है कि महाकवि अर्हद्दास पण्डित आशाधर के साक्षात् शिष्य थे या नहीं।

उन्होंने अपने तीनों ग्रन्थों की प्रशस्तियों में आशाधर का नाम बड़े आदर और सम्मान के साथ लिया है। भव्य-जनकण्ठाभरण के--

"सूक्त्येव तेषां भवभीरवो ये
गृहाश्रमस्याश्चरितात्मधर्मा: ।
त एव शेषाश्रमिणां सहाय्या
धन्या: स्युराशाधरसूरिमुख्या: ॥"[37]

(क्रमशः)

—निदेशक, प्राकृत एवं जैन विद्या शोधप्रबन्ध संग्रहालय, खतौली (उ० प्र०)

सन्दर्भ

१. जीवन्धर चम्पू भारतीय ज्ञानपीठ १/६
२. काव्यादर्श चौखम्बा १/३१
३. साहित्य दर्पण चौखम्बा ६/३३६
४. नृसिंह चम्पू चौखम्बा भूमिका
५. काव्यानुशासन निर्णयसागर ८/६
६. मरुधर केशरी अभिनदन ग्रथ, ब्यावर पृ. २७६
७ पुरुदेव चम्पू भारतीय ज्ञानपीठ भूमिका
८. चम्पूकाव्य का आलोचनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन : त्रिपाठी चौखम्बा पृ. ४६।
९. संस्कृत साहित्य का इतिहास : वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा, पृ. ६११।
१०. संस्कृत साहित्य की रूपरेखा, व्यास एव पाण्डेय, कानपुर, पृ. ६११।
११. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी, भाग ७, पृ. ८।
१२. वही पृ. ११।
१३. वही पृ. ९।
१४. यशस्तिलक चम्पू : महावीर ग्रन्थमाला वाराणसी ८/४९२ तथा नीतिवाक्यामृत, ज्ञानपीठ, ग्रन्थकर्तु: प्रशस्ति।
१५. उपासकाध्ययन, ज्ञानपीठ, प्रस्तावना पृ. १३।
१६. जैन साहित्य और इतिहास, नाथूराम प्रेमी, बम्बई, पृ. ९१।
१७. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, डा. नेमिचन्द्र शास्त्री, सागर, भाग ३, पृ. ८८।
१८. यशस्तिलक चम्पू, उत्तराखण्ड पृ. ४८१।
१९. वही, ग्रन्थ परिचय पृ. २३।
२०. नीतिवाक्यामृत, प्रशस्ति।
२१. यशस्तिलक चम्पू : उत्थानिका।
२२. वही चतुर्थ आश्वास, पृ. ९५।
२३. जैन साहित्य और इतिहास, पृ. ४१२ पादटिप्पण।
२४. महाकवि हरिचन्द्र : एक अनुशीलन, ज्ञानपीठ, पृ. १५-१८।
२५. संस्कृत साहित्य का इतिहास : अनु० मंगलदेव शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास पृ. ४१९।
२६. धर्मशर्माभ्युदय १९/१०१-१०२ श्लोकों से निर्मित छत्रबंध से निर्गत देखे धर्मशर्माभ्युदय, ज्ञानपीठ पृ. २२६।
२७. धर्मशर्माभ्युदय, प्रशस्ति।
२८. महाकवि हरिचन्द्र : एक अनुशीलन पृ. १०।
२९. वही पृ. १२।
३०. कर्पूर मंजरी, साहित्य भण्डार मेरठ, प्रथम जवनिका
३१. हर्ष चरित " " " ३/१२
३२. महाकवि हरिचन्द : एक अनुशीलन पृ. १३।
३३. वही पृ. १३।
३४. जैन साहित्य और इतिहास, पृ. १४३।
३५. वही पृ. १४३।
३६. जैन साहित्य का वृहद इतिहास, भाग ६, पृ. १४।
३७. भव्यजन कण्ठाभरण, सोलापुर, पद्य २३६।

प्राकृत साहित्य में स्याद्वाद : चिंतन

☐ डॉ० लालचन्द जैन,

केवल ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् भगवान महावीर की दिव्यध्वनि से सर्व प्रथम स्याद्वाद सिद्धान्त का अवतरण हुआ[1]। इसके बाद ही अहिंसा और अपरिग्रह सिद्धान्तों का आविष्कार हुआ, इसका कारण यह है कि केवलज्ञानी ने अपने केवलज्ञान के द्वारा तीन लोक के त्रिकालवर्ती पदार्थों को एक साथ जान लेने[3] पर भी उन अनन्त पर्यायों वाले अनन्त द्रव्यों का एक साथ कथन न करके क्रमशः किया था। क्योंकि वाणी की शक्ति ही ऐसी है कि वह विराट् स्वरूप वाली वस्तु का अखण्डरूप से युगपत् कथन नही कर सकती है।

भगवान महावीर के समय मे वस्तु के एक-एक पक्ष का कथन करके आपस में झगड़ रहे तथा अज्ञानता के कारण ही वस्तु के सच्चे स्वरूप को न जानने वालो में से किसी ने वस्तु को नित्य ही माना किसी ने अनित्य ही माना, किसी ने उसे सत् रूप माना, किसी ने असत् रूप। यह तो वैसा ही है जैसा कि जिन जन्मान्धों ने हाथी के जिस अग को स्पर्श करके जाना उसे वैसा ही कहने लगे और दूसरे को मिथ्या कहते हुए झगड़ने लगे[4]। महावीर ने कहा कि अनन्त धर्मात्मक वस्तु को एक धर्म वाली मानने से वह अवस्तु हो जायेगी। क्योंकि यह कोई क्रिया करने में असमर्थ रहेगी[5]।

कहा भी है—"एकान्त स्वरूप द्रव्य लेशमात्र भी कार्य नहीं करता और जो कार्य नहीं करता उसे द्रव्य कैसे कहा जा सकता है।" परिणाम रहित द्रव्य न तो उत्पन्न हो सकता है और न नष्ट, इसलिए उसे कार्यकारी नहीं कहा जा सकता है। इसी प्रकार पर्याय मात्र वाला विनाशी एवं प्रत्येक क्षण में बदलने वाला तत्त्व अन्वयी द्रव्य के बिना कोई कार्य नहीं कर सकता। आज यही कारण है कि भगवान महावीर ने कहा कि वस्तु स्वयमेव से अनंत धर्मात्मक है। अनन्त धर्म कहने का तात्पर्य यह है कि वस्तु में सत्-असत्, नित्य-अनित्य, एक-अनेक आदि परस्पर विरोधी धर्मों के जोड़े विद्यमान हैं[6]। इस प्रकार वस्तु में परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले धर्मों को प्रकाशित करने वाला सिद्धान्त अनेकान्त कहलाता है[6]। माइल्ल धवल ने सम्यक एकान्त के समूह को अनेकान्त कहा है[7]। अनेकान्तात्मक वस्तु का निर्दोष रूप से कथन करने वाली पद्धति स्याद्वाद कहलाती है। जब हम वस्तु के एक धर्म का कथन करते हैं तो ऐसा नही होता कि अन्य धर्म उसमे विद्यमान नहीं रहते हैं। कथन करते समय अभीष्ट धर्म मुख्य और अन्य धर्म गौण होते हैं।

स्याद्वाद सिद्धान्त का प्रयोग विभिन्न कालों में विभिन्न भाषाओं मे हुआ है। प्रस्तुत मे प्राकृत भाषा मे निबद्ध धार्मिक साहित्य मे देखना है कि स्याद्वाद का अस्तित्व है या नहीं[8]।

अर्धमागधी साहित्य में स्याद्वाद—आचारांग अर्धमागधी साहित्य का प्रथम अंग है। इसमे स्याद्वाद सूचक शब्द उपलब्ध नही है। सूत्र कृतांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के चौदहवे अध्ययन की गाथा[9] में आये यासियावाय शब्द का अर्थ डा० ए० एन० उपाध्ये ने स्याद्वाद किया है। पं० मालवणिया ने इसकी विस्तृत मीमांसा की है[10]।

भगवती सूत्र (व्याख्या प्रज्ञप्ति) नामक पांचवें अध्याय में अनेकान्त और स्याद्वाद सूचक अनेक प्रसंग दृष्टिगोचर होते हैं। इसमें भगवान महावीर द्वारा स्वप्न में देखे गये चित्र-विचित्र पंख वाले पुंस्कोकिल को देखने का फल बतलाया गया है कि भगवान विचित्र अर्थात् स्व-पर सिद्धान्त बतलाने वाले द्वादशांग का उपदेश देंगे। मनीषियो ने विचित्र विशेषण का अभिप्राय अनेकान्त माना है[11]।

इस अंग में लोक, जीव आदि को नित्य-अनित्य, सान्त-अनन्त, शाश्वत-अशाश्वत, जीव को शरीर से भिन्न

अभिन्न आदि कहा गया है। इसके अलावा इसमें स्याद्वाद सूचक स्यात् शब्द का प्रयोग भी उपलब्ध है, जैसे—

गोयमा, जीवा, सिय सासया सिय असासया।

गोयणा दव्वट्ठयाए सासया भावट्ठयाए असासया॥[१५]

इसी प्रकार भगवती सूत्र मे भंगो का उल्लेख भी हुआ है। गौतम ने महावीर से पूछा कि हे भगवान रत्न प्रभा पृथ्वी आत्मा है या अन्य है?

महावीर ने उत्तर दिया कि"—रत्नप्रभा पृथ्वी स्यात् आत्मा है। रत्नप्रभा पृथ्वी स्यात् अवक्तव्य है। इसे सुनकर गौतम की जिज्ञासा होने पर महावीर ने कहा—अपनी अपेक्षा से आत्मा है पर की अपेक्षा मे आत्मा नही है। उभय की अपेक्षा से अवक्तव्य है।

ज्ञातृधर्मकथा[१६] में शुक नामक परिव्राजक द्वारा किये गये प्रश्नों का उत्तर थावच्चा ने स्याद्वाद शैली मे दिये है। जैसे—हे भंते! सरिसवयाभक्ष्य या अभक्ष्य? हे शुक सरिसवया भक्ष्य भी है और अभक्ष्य भी है।

शुक—आप एक हैं? दो हैं? अनेक हैं? हे शुक! मैं द्रव्य की अपेक्षा एक और ज्ञानदर्शन की अपेक्षा दो हूं। इसी प्रकार अनेक प्रश्नों के उत्तर सापेक्ष रूप से दिये गये है।

इस प्रकार सिद्ध है कि अर्धमागधी आगम में स्याद्वाद का अस्तित्व है।

शौरसैनी आगमों में साहित्य में स्याद्वाद

दृष्टिवाद नामक बारहवे अग के अश रूप मे उपलब्ध षट्खण्डागम मे "सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता" के रूप में स्याद्वाद के बीज उपलब्ध है।

आचार्य कुन्दकुन्द के पाहुड में विशेषकर पंचास्तिकाय और प्रवचनसार में स्याद्वाद सूचक स्यात् शब्द का प्रयोग और सात भगों का नामोल्लेख उपलब्ध है—

"सिय अत्थि णात्थि उहमं अव्वतव्व पुणो य तत्तिदिमं।
दव्वं सु सत्तभग आदेशवसेणा संभवदि॥[१६]

"अत्थित्ति य णत्थित्ति य हवदि अवत्तव्वमिदि पुणो दव्वं।
पज्जाएण दु केणवि तदुभयमादिट्ठमण्णं वा॥"[१७]

'कषाय पाहुड' में भी स्याद् शब्द का प्रयोग उपलब्ध है। जैसे—"दव्वम्मि अणुत्तासेस धम्माण घटावणट्ठं सियासद्दो जोजेव्वो"[१८] अर्थात् द्रव्य में अनुक्त समस्त धर्मों को घटित करने के लिए स्यात् शब्द का प्रयोग करना चाहिए। कषाय पाहुड मे स्यात् शब्द के प्रयोग के सम्बन्ध में यह भी कहा गया है कि यदि स्यात् शब्द के प्रयोग का जो वक्ता अभिप्राय रखता है और यदि वह उसका प्रयोग नही करता है तो उसके अर्थ का ज्ञान हो जाता है[१९]।

कषाय पाहुड में स्यात् शब्द के प्रयोग सहित सप्त भगी भी उपलब्ध है—(द्रव्य) स्यात् कषाय रूप है, द्रव्य स्यात् अकषाय रूप है, द्रव्य अवक्तव्य है, द्रव्य स्यात् कषाय और अकषाय रूप है, द्रव्य स्यात् कषाय रूप और अवक्तव्य है, द्रव्य स्यात् अकषाय रूप अवक्तव्य। हर द्रव्य स्यात् कषाय रूप, अकषाय रूप और अवक्तव्य है[२०]। प्रथम और दूसरे भंग में विद्यमान स्यात् शब्द क्रमशः नोकषाय और कषाय को तथा कषाय और नोकषाय विषयक अर्थ पर्यायों को द्रव्य में घटित करता है। तीसरे भग मे यह कषाय और नोकषाय विषयक व्यञ्जन पर्यायों को द्रव्य में घटित करता है। चौथे भग में स्यात् कषाय और नोकषाय विषयक अर्थ पर्यायों मे घटित करता है। पांचवें भंग मे स्यात् द्रव्य मे नोकषायपने को घटित करता है। छठवें भंग में स्यात् द्रव्य मे कषायपने को घटित करता है। सातवें भंग मे स्यात् शब्द क्रम से कहे जाने वाले कषाय, नोकषाय और अवक्तव्य रूप तीनों धर्मों को द्रव्य में अक्रमरूप रहने को सूचित करता है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में—कार्तिकेयानुप्रेक्षा मे अनेकान्तवाद की प्रतिष्ठा की गई है। सभी द्रव्य को अनेकान्तात्मक[२१] कहकर जहाँ एक ओर एकान्तवादियों की मीमांसा की गई है, वहीं अनेकान्तवाद का अर्थ क्रियाकारी बतलाया है[२२]। अनेकान्त को भी अनेकान्तात्मक सिद्ध करते हुए कहा गया है कि जो वस्तु अनेकान्त रूप है, वही सापेक्ष दृष्टि से एकान्त रूप भी है। श्रुतज्ञान की अपेक्षा अनेकान्त रूप और नय की अपेक्षा एकान्त रूप है। क्योंकि वस्तु निरपेक्ष नहीं होती है। यद्यपि वस्तु नाना धर्मों से युक्त है तो भी उसके एक धर्म का कथन किया जाता है, क्योंकि उस समय उसी की विवक्षा होती है, शेष धर्मों की नहीं होती है[२३]।

यद्यपि कार्तिकेयानुप्रेक्षा मे स्याद्वाद सूचक शब्दों का

प्रयोग नहीं हुआ है, लेकिन अनेकान्त का कथन करने के लिए प्रश्नवश व्यवहार चलाने को सप्तभगी कहा गया है[२४]।

इस प्रकार सिद्ध है कि आगम कालीन साहित्य मे स्याद्वाद की सत्ता विद्यमान है।

अनेकान्त स्थापन काल में स्याद्वाद—आगम-कालीन साहित्य मे स्याद्वाद के अस्तित्व का चिन्तन करने के पश्चात् अनेकान्त स्थापनकालीन प्राकृत साहित्य मे आचार्य सिद्धसेन के सम्मइसुत्तं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इसमे अनेकान्त का गम्भीर विवेचन हुआ है। उन्होंने अनेकान्त को व्यवहार का कारण और तीन लोक का गुरू कहकर नमस्कार किया है[२५]। स्यात् शब्द का प्रयोग किये बिना द्रव्य को सामान्य-विशेषात्मक द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनय द्रव्य पर्याय, नित्य-अनित्य आदि रूप से सापेक्ष मानकर विवेचन किया है[२६] और एकान्त मत मे बन्ध और मोक्ष का अभाव भी दिखलाया है यही नही बल्कि स्यात् शब्द का प्रयोग किये बिना अतीत आदि सात भंगो को दिखाया गया है[२७]।

न्यायसाहित्य में स्याद्वाद—आचार्य देवसेन कृत नयचक्र और माइल्लधवल नयचक्र (द्रव्यस्वभाव प्रकाशक), जिसे क्रमश: लघु और वृहद् नय चक्र कहा गया, प्राकृत भाषा मे निबद्ध है। इसमे भी अनेकान्त और स्याद्वाद का उल्लेख हुआ है।

लघुनयचक्र में स्याद्वाद—देवसेन के नयचक्र मे नय को अनेकान्त का मूल[२८] और नयो के समूह को अनेकान्त कहा गया है[२९]। स्याद्वाद को समझने के लिए आचार्य ने नय को समझना आवश्यक माना है[३०]।

द्रव्य स्वभाव नयचक्र में स्याद्वाद—माइल्ल धवल ने नयचक्र मे एकान्तवादियों के सिद्धान्तो को सदोष बतला कर उनकी उपमा जन्मान्धो से दी है[३१]।

स्याद्वाद शब्द 'स्यात्'-'वाद' के मिलने से बना है। वाद का अर्थ कथन होता है। स्यात् पद की निम्नांकित विशेषताए बतलाई गई है[३२]।

१. स्यात् सर्वथा नियम का निषेध करने वाला है।

२. स्यात् निपात् रूप है।

३. स्यात् वस्तु को सापेक्ष सिद्ध करता है।

स्यात् पद इस नियम का निषेध करता है कि वस्तु नित्य ही है और अनित्य ही है। ही का कथन करने वाला वाक्य दुर्नय कहलाता है[३३]।

'स्यात्' शब्द को निपात कहने का तात्पर्य यह है कि स्यात् अव्यय है। अतः इसका अर्थ सशय या शायद नही है। स्यात् किंचित और कथंचित का सूचक है[३४]।

'स्यात्' वस्तु को सापेक्ष सिद्ध करता है। वस्तु किसी अपेक्षा से नित्य है और अन्य अपेक्षा से वस्तु अनित्य भी है। इस तरह स्यात् द्रव्य के यथार्थ स्वरूप को बतलाता है। चाहे प्रमाण का विषय हो या नय का वह सापेक्ष हो तो सम्यक और निरपेक्ष हो तो मिथ्या होता है[३५]। स्यात् जहां वस्तु के एक धर्म को प्रकाशित करता है वही यह भी सिद्ध करता है कि उसके प्रतिद्वन्द्वी धर्म की भी सत्ता है[३६]। उस समय अन्य धर्म गौण हो जाते है।

'स्यात्' शब्द का प्रयोग प्रत्येक वाक्य के साथ न लगाने वालो के लिए कहा गया है कि वे अमृतमय भोजन छोड़कर विषमय भोजन करते है। क्योकि 'स्यात्' के बिना वस्तु का स्वरूप प्रतिपादित नहीं होता है[३७]। यही कारण है कि वस्तु को स्यात् सापेक्ष पूर्वक नही जानने वालों को आचार्य ने मिथ्या दृष्टि कहा है[३८]।

सातभंगी—माइल्लधवल ने सात भगों के नाम बतला कर प्रमाण, नय और दुर्नय के सात भग बतलाये हैं। स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अस्ति नास्ति, स्यात् अवक्तव्य, स्यादस्ति अवक्तव्य, स्यात् नास्ति अवक्तव्य और स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य। यह प्रमाण सप्तभगी है। क्योकि इसमे वाक्य स्यात् पद सहित है। इसी प्रकार से स्यात् पद के साथ 'एव' पद पूर्वक नय भगी भी बन सकती है।

माइल्ल धवल ने स्याद्वाद सिद्धान्त का अनुकरण का फल बतलाते हुए कहा है कि स्याद्वाद दृष्टि से युक्त व्यक्ति सभी तरह की क्रिया से कर सकता है। इस सिद्धान्त मे किसी तरह का विरोध नहीं है[३९]।

स्याद्वाद जैन धर्म का पर्यायवाची है। इस अनुपम सिद्धान्त की जो उपयोगिता और आवश्यकता भगवान महावीर के काल मे थी उससे अधिक आज है। इस परमाणु युग मे विश्वशान्ति के लिए उत्पन्न खतरा स्याद्वाद के सिद्धान्त के आधार पर ही टाला जा सकता है।

(प्राकृत शोध संस्थान, वैशाली)

सन्दर्भ-सूची

१. केवलज्ञान सम्मिश्रो दिव्यध्वनिसमुद्भवः।
अत एव हि स ज्ञेये सर्वज्ञः परिभाषितः ॥
माइल्ल धवलः नयचक्र, गाथा २५३ में उद्धृत।

२. आ० कुन्दकुन्द : प्रवचनसार, गाथा ३७-४१।

३. दव्वं विस्ससहावं एक्कसहावं कयं कुदिट्ठिहिं।
लद्धूण एयदेस जह करिणो जाइ अंधेहिं ॥
माइल्ल धवल नयचक्र, गा० ५६

४. (क) सव्वं वियस्यते दव्वसहावा विद्रूसिया होति।
दुट्ठे ताण ण हेऊ सिज्झइ ससार मोक्ख वा ॥
वही गाथा ५५(४) कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा. २२६

(बी) परिमाणेण विहीण णिच्च दव्व विणस्सदेणेव।
णो उप्पज्जेदि समा एव कज्जं कह कुणदि ॥
पज्जय भिन तच्च विणस्सए खणे-खणे वि अण्णण्ण।
अण्णइ दव्व विहीण ण य कज्ज किंपि साहेदि ॥
कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा० २२७-२२६

५. अत्थित्ताइसहावा दव्वा सब्भाविणो ससब्भावो।
माइल्ल धवल : नयचक्र, गा० ७०

६. । को अणेयतो णाम जच्चतरत्तं।
वीरसेन धवला (जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भा. ४,५,१०५
॥ सति अणंताणता तीसुवि कालेसु सव्व दव्वाणि।
सव्व पि अणेयत तत्तो भणिदं जिणेदेहिं ॥
कार्तिकेयानुप्रेक्षा, भा० २२४

७. नयचक्र, गाथा १८०।

८. णो छायए णोविय लूसएज्जा,
माणं ण सेवेज्ज पगासणं च।
णा यावि णण्ण परिहास कुज्जा,
ण यासियावाय विगारेज्जा ॥

६. द्रव्य-आगमयुगकालीन दर्शन पृ० ६२।

१०. प० दलसुख मालवणिया : आगमयुग का जैनदर्शन, पृ० ५२-५३।

११. ७।२।२७३।

१२. भगवती सूत्र, १२।१०।४६६।

१३. शलक अध्ययन।

१४. षट्खण्डागम १।२।५०, पृ० २६२।

१५. पचास्तिकाय, गा० १४।

१६. प्रवचनसार, गा० २३।

१७. द्रष्टव्य जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-४, पृ० ५०१।

१८. वही, पृ० ५०३।

१६. गा० २२४, (१६) गा० २२५ २२६, २६२, २६४।

२०. जो तच्चमयेयंतं णियमा सद्दहदि सत्तभंगेहिं।
लोयाण पण्ह वसदो ववहार पवत्तणट्ठ च ॥ ३११

२१. जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण निव्वडइ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणगतवायस्स ॥
—सिद्धसेन सम्मइ सुत्तु ३३।६६

२२. अत्थतर भूएहि य णियएहि दोहि समयमाईहिं।
वयण वि संसाइय दव्वमन्तव्वय पडइ ॥
अह देसो सब्भावे देसो असब्भाव पज्जवे णियओ।
तं दवियमत्थि णत्थि य आएसविसेसियं जम्हा ॥
सब्भावे आइट्ठो देसो देसो य उभहया जस्स।
तं अत्थि अवतव्वं च होइ दवियं विसप्पवसा ॥
आइट्ठो असब्भावे देसो देसोय उभयहा जस्स।
तं णत्थि अवत्तव्वं चहोइ दविय वियप्पवसा ॥
सब्भावासब्भावे देसो देसो य उभयथा जस्स।
त अत्थि णत्थि अवत्तव्वयं च दविय वियप्पवसा ॥
वही, १, गा० ३६-४०।

२५. जह सद्धाण माई सम्मत्त जह तवाइगुणणिलये।
धाओ एयरस तह णयमूलो अणेयतो ॥ गा० ४

२६. एअतो एअणयो होई अणेयतमस्स सम्मूहो। गा० ६

२७. जह्मा ण णएण विणा होई णरस्स सियवाय पडिवत्ती।
तह्मा सो बोहव्वो एअत हंतु काम ण ॥ गा० ३

२८. गा० ५६।

२६. णियमणिसंहणसीलो णिपादणादो य जोहुखलु सिद्धे।
सो सियसद्दो भणिओ ओ सावेक्ख पसाहेदि ॥ गा. २५३

३०. गा० २५८। ३१. गा० २६१।

३२. सियसावेक्खा सम्मा मिच्छारूवा हु तेपि णिरवेक्खा।
तम्हा सिय सद्दादो विसयं बोहणंपि णायव्व ॥
अवरोप्परसावेक्ख णयविषय बा।
त सावेक्ख भणिय निरवेक्ख वि विवरीय ॥
गा० २५०-२५१

३३. गा. २५६। ३४. गा. २६०।

३५. गा. ५४ (गा. ७१-७२) ३६. गा. ७३।

३७. गा. २५५-२५७। ३८. गा. ६४।

प्राकृत और मलयालम भाषा

□ ले० श्री राजमल जैन, जनकपुरी दिल्ली

प्राचीन काल मे केरल तमिलगम (Tamilkam-तमिलनाडु) का ही एक भाग था। इस सारे प्रदेश की साहित्यिक भाषा भी 'चेन्लगिल' थी। चेर प्रदेश (केरल) मे प्रचलित तमिल को बोली को मलनाट्टतमिल कहा जाता था। जो भी हो, प्राचीन तमिल को भी प्राकृत ने किसी सीमा तक प्रभावित किया है। परिणामत: केरल की तत्कालीन भाषा को भी प्राकृत ने प्रभावित किया है।

मलयालम भाषा मे प्राकृत तत्त्व के सम्बन्ध में केरल में एकाधिक शोध-कार्य भाषाविदो द्वारा किए गए है। उनमें से एक हैं—डा० पी. एम. जोसफ। उन्होंने ६वी सदी से १५वी सदी तक के शिलालेखों और साहित्यिक कृतियों का अध्ययन कर मलयालम में गृहीत प्राकृत शब्द (Prakrit Loan words in Malaya'am) नामक महत्वपूर्ण शोध-प्रबंध प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत लेखक के मित्र के नाते उन्होंने केरल विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत किन्तु अप्रकाशित यह प्रबध उपलब्ध करा दिया। उसकी सामग्री का इस अध्याय मे काफी प्रयोग किया गया है।

डा० जोसफ ने प्राकृत भाषा के प्रभाव को तीन काल-चरणो में बांटा है :—

(i) ईसापूर्व ६०० से ६०० ई० तक। इस काल में जो भी ब्राह्मण दक्षिण में (केरल) में आए, वे प्राकृत के किसी न किसी रूप का प्रयोग करते होगे। इसके अतिरिक्त मगध के भी कुछ व्यापारी आए होंगे जो स्वभावत: मागधी का प्रयोग करते होंगे।

यह स्मरणीय है कि केरल में नंपूतिरि ब्राह्मणों का आगमन "अहिच्छत्र" से बताया जाता है।

(ii) दूसरे चरण में, जैन, बौद्ध और मागधी व्यापारियों का आगमन केरल मे हुआ होगा, (जैन ईसा से भी पहले केरल में विद्यमान है थे—लेखक) और उनके कारण अर्धमागधी, जैन शौरसेनी, जैन महाराष्ट्री, पैशाची आदि का प्रभाव सम्भव है।

(iii) तीसरे चरण में, उत्तर-पश्चिम भारत के लोग केरल में आए (सम्भवत: डा० जोसफ का संकेत गुजरात-राजस्थान से है)। उनके कारण "अपभ्रंश" का भी प्रभाव पडा।

केरल के प्रसिद्ध इतिहासकार श्री श्रीधर मेनन अपनी पुस्तक "सोशल एंड कलचरल हिस्ट्री आफ केरल" मे यह मत व्यक्त करते हैं कि—"It may be noted in this connection that during the period of the Aryanisation of Kerala, Sanskrit and its "Proto-forms" like "Prakrit" exercised a profound influence on the life and language of the people of Kerala." (P. 333)

दक्षिण भारत मे जैनधर्म के प्रभाव-प्रसार के सम्बन्ध में प्राय: सभी इतिहासकार इस बात को स्वीकार करते है कि भद्रबाहु चन्द्रगुप्त मौर्य के श्रवणबेलगोल आगमन के समय से अर्थात् ईसा से ३५० वर्ष पूर्व के लगभग कर्नाटक-तमिलहम् में जैनधर्म का प्रवेश हुआ। प्रस्तुत लेखक ने 'केरल मे जैनधर्म का इतिहास" अध्याय में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि सुदूर अतीत से ही केरल में जैनधर्म विद्यमान था और चन्द्रगुप्त मौर्य केरल होते हुए ही श्रवणबेलगोल पहुंचे होगे (उपर्युक्त अध्याय देखिए।) किन्तु इतना तो स्पष्ट है ही कि चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ बारह हजार मुनि आए थे। उनके साथ हजारो श्रावक एवं अकाल-भय से सत्रस्त हजारों नागरिक भी अपने सम्राट् के साथ आए होंगे। ये मगधवासी थे और प्राकृत भाषा भाषी थे। धर्म-प्रचार के लिए वे पहले से ही तमिल आदि दक्षिणी भाषाएं सीख कर नहीं आए होगे। उन्हें अवश्य ही प्राकृत जैसी संपर्क-भाषा इन प्रदेशों मे भी

सुलभ थी इस बात की सम्भावना पर अवश्य ही विश्वास किया जा सकता है। श्री लंका मे बौद्धधर्म के प्रवेश के साथ (ईसा पूर्व सदियों मे) ही जिस सिंहली भाषा का विकास हुआ, उसमें भी प्राकृत तत्व पाए गए हैं। यह स्थिति उसी प्रकार की सम्भव है जैसी कि किसी समय संस्कृत की एक सपर्क भाषा के रूप मे थी और आजकल हिन्दी या अग्रेजी की। दक्षिण भारत मे भी अशोक के शिलालेख प्राकृत मे हैं। यह भी इस तथ्य की सूचना है प्राप्त तमिलहम-केरल प्रदेश मे समझी जाती थी।

ईसा की प्रारम्भिक सदियों मे आचार्य कुन्दकुन्द ने प्राकृत भाषा मे ही दिगम्बर सम्प्रदाय के प्रामाणिक ग्रन्थों की रचना की। उनका स्थान इस सम्प्रदाय मे महावीर के समकालीन और उनके प्रमुख शिष्य (गणधर) के बाद बड़े आदर से स्तुति मे लिया जाता है। वे दाक्षिणात्य विद्वान थे यह सर्वमान्य है। आचार्य ने इसकी रचना प्राकृत समझने वाली जनसमुदाय को ध्यान मे रखकर की होगी। स्वयं उनका इस भाषा मे पाण्डित्य भी यह सकेत देता है कि प्राकृत का पठन-पाठन व्यापक एव व्यवस्थित रहा होगा। केरल के वामनाड जिले मे "तिरुनेल्ली" में आचार्य कुन्दकुन्द के चरण स्थापित हैं। उन्हें जैन परंपरा आचार्य के चरण मानती है और ब्राह्मण परम्परा राम के चरण घोषित करती है। आचार्य के श्रोता प्राकृत समझते होगे।

केरल के अनेक शिलालेख या तो नष्ट हो गए हैं या अभी इस दिशा मे सर्वांगीण कार्य नही हुआ है। इस कारण केरल के समीपवर्ती पल्लव-राज्य प्रदेशो के जो शिलालेख ईसा की चौथी शताब्दी तक के अध्ययन-क्षेत्र मे आए हैं, उनसे यह निष्कर्ष सामने आया है कि इस अवधि तक पल्लव "शिलालेख प्राकृत" मे थे, उसके बाद सस्कृत मे और उसके बाद तमिल और संस्कृत मे। स्पष्ट है कि उपर्युक्त अवधि में भी प्राकृत समझी जाती थी। केरल पर भी उसका प्रभाव अनुमानित किया जा सकता है। मदुरै आदि स्थान केरल से बहुत दूर नही है।

सातवी सदी मे चीनी यात्री ह्वेनसाग भारत की यात्रा पर आया था। उसने यह लिखा है कि दक्षिण भारत मे उसने दिगम्बरो को बड़ी सख्या मे देखा। कन्याकुमारी से लगभग १६ कि. मी. की दूरी पर स्थित "कोट्टारू" मे उसने बहुत-से दिगम्बरो को देखा। अब यह स्थान नागर कोविल शहर का एक भाग है। यहां यह ध्यान देने योग्य है कि उसने दिगम्बर शब्द का ही प्रयोग किया है। इससे यह परिणाम निकलता है कि नग्न मुनियो ने आचार्य कुन्दकुन्द की प्राकृत रचनाओं जैसे नियमसार, समयसार आदि का प्रयोग अवश्य किया होगा क्योंकि जैनधर्म के प्रामाणिक ज्ञान के लिए ये ग्रन्थ अनिवार्य पाठ्यपुस्तको जैसे है।

आठवीं शताब्दी में भी केरल मे प्राकृत का पठन-पाठन होता था। इसका प्रमाण यह है कि मुसिरि (प्राचीन काल मे केरल का एक बन्दरगाह जो आजकल कोडंगलपुर के नाम से जाना जाता है) के एक विद्वान नीलकठन ने तमिल सगम साहित्य की "इरेयनार" 'अकापोरुइ' (Iraiyanar Akapporui) पर एक टीका लिखा थी। उसमे उसने यह लिखा है कि यह टीका उसकी दस पीढियों से मौखिक रूप से चली आ रही थी जिसे उसने लिपिबद्ध कर दिया। इरेयनगर का अर्थ ईश्वर होता है। किन्हीं कारणो से यह कह दिया गया कि इसकी रचना शिवजी ने की है। किन्तु श्री के. एन. शिवराज नामक विद्वान ने यह खोज की है कि इस रचना और एक अन्य तमिल ग्रयतोल कप्पियम (जिसे श्री शिवराज ने जैन कृति कहा है) के छदो में अनेक समानतायें है। इस टीका मे पर्याप्त सख्या मे प्राकृत शब्दो को देखते हुए मार जॉन राल्सटन ने "दी एट एन्थालॉजीज" नामक पुस्तक मे यह मत व्यक्त किया है कि—"From the above it is clear that in Kerala Prakrit was studies and even learnt oraley down to the eighth century." (P 4)

एक स्वतत्र भाषा के रूप मे मलयालम नौवी दसवी शताब्दी मे अस्तित्व मे आई किन्तु सस्कृत-प्राकृत का प्रभाव साथ मे लेकर। तत्कालीन साहित्य, शिलालेखो आदि पर यह प्रभाव भासित होता है। "तमिल के साथ संस्कृत-प्राकृत सकलन से स्वतंत्र केरलीय भाषा का प्रारूप-विकास लगभग नवम-दशम शती में परिलक्षित होता है।"

नौवीं शताब्दी के आते-आते केरल में ब्राह्मणो का प्रभाव वृद्धि की ओर अग्रसर था। वे संस्कृत के पक्षधर थे। किन्तु प्राकृत का अध्ययन-अध्यापन और प्रयोग जारी रहा, ऐसा लगता है।

नौवी से पन्द्रहवी सदी तक के शिलालेखो और साहित्य का विशेष अध्ययन प्राकृत के सन्दर्भ में डा० जोसफ ने किया है। उन्होने सदियो के अनुसार (जैसे नौवी-दसवी) मलयालम शब्दो की सूची देकर प्राकृत शब्दो की सूची देकर प्राकृत शब्दों से उनकी व्युत्पत्ति बताई है। इस कालावधि मे उन्होने ४०१ मलयालम शब्द प्राकृत से व्युत्पन्न है यह सिद्ध किया है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि इस अवधि मे तमिलनाडु के साथ केरल मे भी जैन ग्रन्थों, स्मारको आदि को क्षति पहुची। इस कारण यह सामग्री डूबती नाव मे से बचा ली गई या बच गई समझना चाहिए। अनेक मन्दिरो के शिलालेख क्षतिग्रस्त हुए है किन्तु किस कारण से यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। कुछ शब्दो के उदाहरण यहां प्राकृत से व्युत्पत्ति बताने के लिए दिये जाते हैं :—

अच्चन—एक सम्माननीय व्यक्ति, पिता, प्राकृत रूप अज्ज सम्माननीय व्यक्ति, पितामह या मातामह।

आच्चयार—माननीया महिला, देवदासी, प्राकृत रूप अज्जिअ (महाराष्ट्रीय प्राकृत मे) एक पतिव्रता स्त्री, आर्या संस्कृत। इस शब्द पर डा० जोसेफ ने एक महत्व-पूर्ण टिप्पणी में लिखा है कि अच्चन का अर्थ पिता है किंतु अच्चि शब्द का अर्थ बदल दिया गया। केरल के ब्राह्मण जिन स्त्रियों से विवाह करते थे उन्हे तो प्राकृत शब्द से सम्बोधित किया जाता था किन्तु केवल मलयालम जानने वाली उनकी माताओं को 'आच्च' नही कहा जाता था। किन्तु यह शब्द देवदासी का बोधक हो गया क्योकि वे देवदासियां ब्राह्मणों की रखैल आगे चलकर हो गईं।

इयक्कि—यक्षी, प्राकृत रूप जविखणी।

कुट्टम्—कोढ, प्राकृत रूप कुट्ठ।

कोवम्—क्रोध, प्राकृत रूप कोव।

काव—कावड़, प्राकृत रूप काव, कावड़ी।

चोकि—योगी, प्राकृत रूप (जैन प्राकृत मे) जोगि।

उपर्युक्त अध्ययन के अतिरिक्त डा० जोसेफ ने मलयालम भाषा मे प्राकृत शब्दो की खोज की है। वह सूची भी विस्तृत है। दक्षिण की चारो भाषाओ में प्राकृत के शब्दों का भी उन्होने अध्ययन किया है। यह तथ्य इस बात की पुष्टि करता है कि प्राकृत ने भी दक्षिण भारतीय भाषाओ को प्रभावित किया है। वह प्रभाव पूर्णतः मिट नही सका यद्यपि उसे संस्कृत के प्राबल्य का भी सामना करना पड़ा।

अब एक संक्षिप्त सर्वेक्षण कुछ मलयालम रचनाओं का जिनमें प्राकृत का प्रयोग हुआ है। इसकी अधिकांश सामग्री भी डा० जोसफ के अनुसार है।

प्राकृत काव्य - श्रीचिह्नकाव्य नामक एक कृति केरल के श्रीकृष्णलीला-शुक नामक लेखक से मिलती है। इसका काल तेरहवी सदी बताया गया है। उसमे कुल बारह सर्ग है जिनमे आठ स्वयं कृष्णलीलाशुक ने लिखा है। इन सर्गों मे वररुचि के अनुसार प्राकृत व्याकरण के नियम समझाए गए है। शेष चार सर्ग लेखक के शिष्य दुर्गाप्रसाद यति ने लिखे है। इन्होंने इस ग्रन्थ की भक्ति-विलास नामक संस्कृत टीका भी लिखी है। कथावस्तु का सम्बन्ध कृष्ण से है। उसके छन्दो मे "महाराष्ट्री (प्राकृत), शौरसेनी, मागधी और पैशाची" का प्रयोग हुआ है। इसमे कृष्ण द्वारा गाये चुरा लिए जाने जैसे प्रसंगो द्वारा प्राकृत व्याकरण के नियम समझाए गए है।

सम्भवतः पन्द्रहवी सदी की एक रचना कण्णस्स पणिक्कर नामक कवि की है। जिसका नाम है—'कण्णस्स-रामायणम्'। कवि सवर्ण नही था, इसलिए ब्राह्मणो को अपना देवता बनाते हुए इस रचना के लिए क्षमा-याचना की है और भाषा की शुद्धता बनाए रखी है किन्तु उसमे भी कुछ प्राकृत शब्द आ गए है।

अज्ञात नपूतिरि ब्राह्मण ने 'कृष्णगाथा' की रचना की है। इसमे केरल की तत्कालीन बोल-चाल की भाषा का प्रयोग अधिक किया है किन्तु इस कृति मे भी प्राकृत शब्द आए हैं।

नीलकठ द्वारा रचित एक काव्य सत्रहवी सदी मे प्राकृत मे 'सोरिचरित" नाम से उपलब्ध है। यह गाथाओ के रूप मे है और अनुप्रास के कारण कुछ कठिन है। इसलिए कवि के शिष्य रुद्रदास ने इसकी संस्कृत टीका

भी लिखी है। इसका विषय कृष्ण-बलभद्र का जीवन है।

'कंसवहो' नामक प्राकृत काव्य रामपाणिवाद ने रचा है। कवि का समय १८वीं सदी है। यह महाराष्ट्री प्राकृत में निबद्ध है। स्पष्ट है कि यह कंस के वध से सम्बन्धित है। यह एक सुन्दर तथा प्रसिद्ध रचना मानी जाती है।

उपर्युक्त कवि ने एक और प्राकृत काव्य 'उसानिरुद्ध' नाम से लिखा है। इसमे उषा और अनिरुद्ध के विवाह का वर्णन है। भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है और रचना वररुचि के प्राकृत व्याकरण के नियमों का अनुसरण करती है।

चंपूकाव्य—मे भी प्राकृत का प्रयोग परिलक्षित होता है। इस शीर्षक के अन्तर्गत तेरहवी सदी की दो-तीन रचनाएं आती है—(१) उण्णियाच्चीचरितम्—इसमें गधर्व और एक सुन्दरी का कथानक है। (२) उण्णचिरुतीवि चरितम्—इसकी नायिका एक देवदासी है, इन्द्र उसके यहां जाता है और अनेक प्रेमियो की भीड़ देखता है। (३) दामोदर चाक्यार की कृति उण्णियातिचरितम् मे एक राजकुमार से उत्पन्न एक नर्तकी की पुत्री की कथा है। उसके मधुर गीतो से चन्द्रमा भी आकर्षित हो जाता है।

सन्देश काव्य—कालिदास ने जिस प्रकार एक विरही यक्ष का सन्देश अलकापुरी स्थित उसकी प्रिया को भेजने के लिए मेघ को साधन बनाकर 'मेघदूत' नामक ललित काव्य की रचना की है। उसी शैली मे केरल के मलयाली कवियों ने अनेक सन्देश काव्यों का सृजन किया है। इनमे भी प्राकृत शब्दों और प्राकृत व्याकरण के नियमों का सयोजन है। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

'भृंगसन्देश' नामक एक ताड़पत्रीय ग्रन्थ डा० जोसफ ने ढूढ़ निकाला है। उसके कवि और काल अज्ञात हैं। किन्तु प्राकृत के दो व्याकरणकारों त्रिविक्रम और वररुचि की कृतियों से उद्धरण दिए गए हैं। माया के कारण नायक के विरह का इसमे सुन्दर चित्रण है।

पन्द्रहवीं सदी का एक सन्देश काव्य 'उण्णिनिलिसन्देशम्' है। वह भी इसी प्रकार का है।

कोकसन्देश—एक महत्वपूर्ण सृजन है। इसके केवल १७ श्लोक ही उपलब्ध हो पाए है किन्तु केरल के 'इरिंगालउडा' नामक स्थान पर "विशाल भरत मन्दिर (कोविल)" के लिए यह अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ है। इसके एक श्लोक का आशय यह है कि कोक (सन्देशवाहक) भरत-मन्दिर मे न जाए क्योंकि ब्राह्मण उसमें प्रवेश नही करते हैं। इसी आधार पर अधिकांश विद्वानों का यह मत है कि यह "जैन मन्दिर" था और मूर्ति "ऋषभ पुत्र भरत" की सिद्ध होती है। यद्यपि ब्राह्मण परम्परा इसे राम के भाई भरत की मूर्ति बताती है। इसी पुस्तक मे 'हरिगुलकुडा' का भरत मन्दिर देखिए। नायक-नायिका बिछुड़ जाते है और नायक उपर्युक्त पक्षी के माध्यम से अपना सन्देश भेजता है। यह कृति चौदहवी सदी की अनुमानित की जाती है। ए० श्रीधर मेनन के अनुसार—"The koka sandesam was another "Sandesh Kavya" compoped about 1400 A.D."

भक्ति काव्य—प्राकृत से सम्बन्धित दो भक्ति काव्य है—(१) अनतपुरवर्णनम् (त्रिवेन्द्रम के मन्दिरों का वर्णन) (२) कालिनाटकम्—भद्रकाली और असुरों का कथानक। इसमे कुछ अन्यत्र अनुपलब्ध प्राकृत शब्द जैसे कल्ल (नशा), प्राकृत रूप कल्ल (शराब) आदि पाए गए हैं। यह कृति भी चौदहवी सदी की जान पड़ती है।

नाटक—का एक प्रकार सट्टक है जिसमें सभी पात्र प्राकृत बोलते हैं। रुद्रदास (तेरहवी सदी) ने चंडलेहा नामक एक इस कोटि नाटक लिखा है। डा० एन. उपाध्ये ने इसका संपादन भी किया है।

तुळ्ळण—केरल की एक हास्यरसपूर्ण नृत्य-विधा है। इसके गीत (तुळ्ळण पाट्टु=गीत) कहलाते है। इनमे भी प्राकृत का प्रयोग देखा जाता है। कवि कुंचन नपियार (१८वीं सदी) इसके लिए प्रसिद्ध है। उन्होंने 'पात्रचरितम्' नाम रचना के एक ही स्तोत्र मे १६ पंक्तियां अर्धमागधी मे लिखी हैं। उन्होने यह मत व्यक्त किया है कि अक्षर तो केवल ५१ है और व्याकरण भी केवल दो ही हैं 'प्राकृत व संस्कृत'। इस कवि के संबध मे श्रीदेव ने अपनी पुस्तक 'मलयालम साहित्य' मे लिखा है, "नंदियार ने सस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं में अनेक ग्रथ लिखे हैं। उनके द्वारा रचित प्राकृत व्याकरण बहुत प्रसिद्ध है।" इस हास्य कवि ने हिन्दी के भी छन्द लिखे हैं।

नाट्य विधा में प्राकृत—निम्न वर्ग के लोगों को प्राकृत बोलनी चाहिए, इस नियम के अनुसार अनेक रचनाओं में प्राकृत के अंश पाए जाते हैं।

मच पर खेले जाने वाले "कुटियाट्टम" और "कूट्ट" मे स्त्री-पात्र प्राकृत बोला करते थे।

कथकलि—संगीतपूर्ण नृत्य है। कोटयत्तु सपूरण नामक रचनाकार की इस विधा की काव्य कृति (सत्रहवीं सदी) में उर्वशी और अप्सराएँ प्राकृत बोलती है। अश्व-तितिरुनाळ (अठारहवी शती)की रचना अम्बरीशचरितम् और वयस्कर मूस्स के दुर्योधनवधम् (उन्नीसवी सदी) मे भी प्राकृत का प्रयोग हुआ है।

सस्कृत नाटकोमे भी महाराष्ट्री और शौरसेनी प्राकृतो का प्रयोग नौवी सदी से ही देखा गया है।

व्याकरण—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि 'वररुचि' के 'प्राकृत व्याकरण' को बहुत अधिक लोकप्रियता प्राप्त रही है। शायद इसी कारण केरली परम्परा यह मानती है कि वररुचि केरल के ही विद्वान थे। किंतु यह मत स्वीकार्य नहीं हो सकता है। इसका अर्थ केवल इतना ही लिया जा सकता है कि केरल मे प्राकृत का सदियो से पठन-पाठन और प्रयोग होता रहा और उनका मुख्य श्रेय वररुचि को है।

वैज्ञानिक साहित्य-इसमे १३वी सदीकी रचना मानी जाने वाली कृति "भाषा कौटिलियम्" छदशास्त्र सम्बन्धी १४वीं शताब्दी का ग्रन्थ है। इसमे दो अध्याय व्याकरण पर भी है। लेखक ने शब्दो को तीन वर्गों मे बांटा है। (a) देसी (b) सस्कृतभव; इस वर्ग मे प्राकृत शब्दो को भी सम्मिलित कर उन्हें दो वर्गों मे पुनः विभाजित किया है, एक तो वे जो परिवर्तित नही हुए (जैसे माणिक्क) तथा दूसरे ने जिनमें ध्वन्यात्मक परिवर्तन हुआ है; (c) संस्कृत समस् अर्थात् संस्कृत शब्द।

आयुर्वेद सम्बन्धी ग्रन्थ 'योगामृतम्' मे भी प्राकृत शब्दो का प्रयोग है। कुछ प्राकृत शब्दों को नवीन अर्थ प्रदान किया गया है। हड्डी टूटने पर लगाई जाने वाली खपच्ची को 'तूणी' और अशुद्ध रक्त चूस लेने वाली जोक के लिए 'जाळुविक्कु' इत्यादि मुहूर्त विधि नामक पुस्तक में प्राकृत प्रयोग है।

डा० जोसफ ने अपने भाषावैज्ञानिक अध्ययन के पश्चात् दो महत्वपूर्ण निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं—

(i) मलयालम और तमिल में प्राकृत के शब्द सबसे अधिक पाए गए हैं। इससे यह तथ्य सामने आता है—"The posibility of Karnataka jains preaching exclsively in Kerala may be ruled out."

(ii) केरल के लेखकों को प्राकृत का व्याकरण संबंधी विवेचन करते हुए वे कहते है कि—"The presence of Pali and Ardhamagadhi loan words shows that Buddhists and Jainas had come to Kerala. Perhaps tney might not have entered into literary activities or what they had written might have been destroyed by their Hindu rurals," जब अजैन लेखको ने भी प्राकृत को अपनाया, तब केरल के जैन लेखको ने प्राकृत मे कुछ भी नही लिखा यह बात गले नही उतरती। अवश्य ही जैन ग्रन्थ नष्ट हो गए होगे। किन्तु यह भी सत्य है कि इस दिशा में शोध-कार्य नही हुआ है। "त्रिवेन्द्रम की पब्लिक लायब्रेरी में शायद चालीस हजार हस्तलिखित और ताडपत्रीय ग्रन्थ हैं। अन्य स्थानो पर भी अवश्य होगे।

अनेक स्रोतो से इस अध्ययन के लिए सामग्री एकत्रित करने में प्रस्तुत लेखक का उद्देश्य यह भी है कि जैन विद्वान केरल मे प्राकृत के प्रयोग से परिचित हों और इस भूभाग मे प्राकृत भाषा और साहित्य सम्बन्धी खोज गम्भीरतापूर्वक करें।

आज भी प्राकृत शब्दों का प्रयोग

कुछ शब्दो के उदाहरण दिए जाते है। 'पळ्ळि' शब्द जैनो से सम्बन्धित है मुख्य रूप से। केरल के मन्दिर, मस्जिद, गिरजा घर आज भी इसी शब्द से सूचित किए जाते है। 'पळ्ळिक्कूम' एक प्राकृत शब्द है जो कि केरल मे 'स्कूल' के लिए प्रयोग मे लाया जाता है। प्राचीनकाल मे जैन मन्दिर के साथ-साथ पाठशाला भी केरल मे होती थी।

डा० के. गोद वर्मा ने 'केरल भाषा विज्ञानीयम्' में कुछ ऐसे शब्द दिए हैं जिनकी व्युत्पत्ति प्राकृत से ही संभव है। यथा—मकयिरम् (म.), मृगशिरा(स.) मागसिर(प्रा.);

चेट्टि (म.) श्रेष्ठिन् (सं.) सेट्ठी (प्रा.); कच्चवटम् (म.– पहले इससे कपड़े का व्यापार सूचित होता था। अब किसी भी प्रकार के व्यापार के लिए प्रयुक्त), कक्षापट (सं.) कच्छावट (प्रा-नंगापन छिपाने का वस्त्र)।

केरल मे कोडंगल्लूर के भगवती मन्दिर मे जो 'कुडुमी' (Kudumi) लोग भरणी उत्सव के समय आते हैं, उनकी भाषा कोंकणी का भ्रष्ट स्वरूप है। कुछ विद्वानों का मत है कि स्वय 'कोकणी' भी 'पैशाची प्राकृत' और 'बिहार की मागधी का सम्मिश्रण' है। इस तथ्य का उल्लेख करते हुए 'दी गोल्डन टावर' के लेखक श्री इन्दुचूडन ने लिखा है—"Trikkulasekharapuram is a place where lot of 'Prakrit' has been used through the ages." क्योंकि इस स्थान पर (जो कि कोडंगल्लूर के समीप है) अनेक सस्कृत नाटक लिखे और खेले गए। इनमे स्त्रियां और निम्न वर्ग के लोग प्राकृत बोलते थे। इस सम्बन्ध मे श्री इन्दुचूडन ने कुलशेखर वर्मा के नाटकों में प्राकृत शब्दो के प्रयोग, केरल के कुडुमी जाति के लोगो की भाषाओ तथा कोकड़ी लोगो की बोलियों को अपने मन का आधार बनाया है। केरल मे प्रायः खेले जाने वाले सस्कृत नाटक 'आश्चर्यचूडामणि' का भी उन्होंने उल्लेख किया है।

मणिप्रवाल भाषा शैली

ईसा की नौवी से बारहवी सदी मे मणिप्रवाल नामक एक अलग ही भाषा-शैली विकसित हुई। इसमे मलयालम या तमिल के साथ अधिकाधिक सस्कृत शब्दों के उपयोग की प्रवृत्ति चल पड़ी। वर्तमान मे मलयालम भाषा मे ८५ प्रतिशत सस्कृत शब्द बताए जाते है। किन्तु **मणिप्रवाल भाषा-शैली के प्रवर्तक भी जैन थे**। डा. ए. वेळु पिल्लै ने अपनी पुस्तक Epigraphical Endenees for Tamil Studies मे मत व्यक्त किया है कि—"We have to admit that the Jains first introduced the Manipravala style, equal admixture of Tamil and Sanskrit... ..The Jains gare this up after some time but the Vaishnavites took it up" यह उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त सदियों मे मलयालम तमिल से पृथक् होने के विकास-क्रम मे थी।

संस्कृत भी केरल को जैनों की देन

कुंजिकुट्टन संपूराम ने 'केरलम्' नामक एक काव्य में लिखा है। इनका समय उन्नसवी सदी के अंत और 'बीसवीं सदी का प्रारभ है। कवि ने दूसरे सर्ग के श्लोक संख्या ६८ मे यह उल्लेख किया है कि जैन लोगों की गतिविधियों के कारण ही केरल के सभी वर्गों के लोग सस्कृत सीख सके। यह सुविदित ही है कि सस्कृत एक वर्ण की विशेष सम्पत्ति रही है।

नमोऽस्तु से लिपि सीखनाप्रारंभ

एक लम्बी अवधि तक केरल मे 'वट्टेळुत्तु' (Vatteluttu) लिपि का प्रयोग होता रहा। तमिलनाडु मे तो यह पन्द्रहवी शताब्दी तक ही उपयोग मे लाई गई किन्तु केरल मे इसका उपयोग अठारहवी शताब्दी तक होता रहा। प्रसिद्ध केरलीय लिपिवेत्ता गोपीनाथ राव का मत है कि इस लिपि का आद्यरूप (प्रोटोटाइप) अशोक के शिलालेखो की ब्राह्मी लिपि है अर्थात् यह ब्राह्मी से विकसित हुई। जैन मान्यता है कि प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने अपनी पुत्री ब्राह्मी को यह लिपि सिखाई थी। एक प्राचीन जैन ग्रन्थ मे ब्राह्मी लिपि को नमस्कार भी किया गया है।

उपर्युक्त मत के विपरीत डा. हरप्रसाद शास्त्री का मत है कि वट्टेलुत्तु का विकास खरोष्ठी से हुआ है। दुःख की बात है कि कुछ लोग खरोष्ठी का शाब्दिक अर्थ 'गधे (खर) के ओठ जैसी लिपि करते हैं। ससार मे किसी भी लिपि का इस प्रकार नाम शायद ही मिलेगा। वास्तव मे, खरोष्ठी शब्द 'वृषभोष्ठी' भ्रष्ट या घिसा रूप है। वृषभ से रिखनोष्ठी और उससे खरोष्ठी बना है, ऐसा भाषाविज्ञान के नियमों से सम्भव है। वृषभ के ओठ से प्रचलित की गई अर्थात् प्रथम तीर्थंकर वृषभदेव द्वारा प्रचलित की गई लिपि वृषभोष्ठी है।

अब वट्टेळुत्तु शब्द की व्युत्पत्ति वह दो प्रकार से की जाती है—(१) Vatta (=गोल, वर्तुलाकार)—Ezhultu =लिखावट, लिपि। (२) Vatha (उत्तरी, उत्तर की)+ Ezhultu उत्तर भारत की लिपि। दूसरा अर्थ करने पर

(शेष पृ० २६ पर)

जैन कवि लक्ष्मीचंद के 'छप्पय'

डॉ० गंगाराम गर्ग, भरतपुर

रीतिकालीन शृंगारिक कवियों ने अपने मुक्तक काव्य मे दोहा, कवित्त, सवैया के अतिरिक्त छप्पय छंद का भी प्रयोग किया है। रोला और उल्लाला से निर्मित छप्पय छंद का प्रयोग राज-प्रशस्ति के गान मे व्यापकता से हुआ। अपभ्रंश का 'षट्पद' हिन्दी काव्य मे 'छप्पय' के नाम मे अवतरित होकर पृथ्वीराज रासो मे सर्वाधिक प्रयुक्त हुआ है। डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल के द्वारा छीहल कवि कृत 'बावनी' के प्रकाशित कर दिए जाने मे अपभ्रंश काव्य के बाद हिन्दी नीतिकाव्य के प्रवर्तक के रूप मे छीहल के प्रतिष्ठित होने की सम्भावना बढ़ी है। 'छीहल-बावनी' मे छप्पय छंद ने ही धन, परोपकार, दान, त्याग आदि विभिन्न नैतिक अवधारणाओं को अधिक अनुभूतिमय बनाया है। छीहल के बहुत समय बाद रीतिकाल मे आविर्भूत बनारसीदास, द्यानतराय, देवीदास, मनोहरदास, लक्ष्मीचन्द तथा नथमल 'विलाला' आदि जैन कवियो ने भक्ति और नीति की अभिव्यक्ति के लिए छप्पय छंद का प्रयोग किया। दिगम्बर जैन मन्दिर चाकसू (जयपुर) मे प्राप्त एक गुटके मे लक्ष्मीचन्द के कतिपय छप्पय कवित्त तथा २८ दोहे सकलित हैं[1]। आचारनीति के विधेयात्मक और निषेधात्मक दोनो पक्षो पर कतिपय नीति-उक्तियां उत्पादित की हैं। कवि ने सज्जन पुरुषो में सुगति, उपकार, सत्संग और पुण्य मे रुचि आदि गुण बतलाए हैं —

सज्जन गुन को गेह, कुमति मति दूरि निवारै।
सज्जन गुन को गेह, धरम उपगार जु करिहै,
सज्जन गुन को गेह, पाप मति कबहू न धरिसै।
सज्जन है परमति वहै, सगति कीए सुभ लहै।
ऐह जानि भवि मन आनि कै, 'लक्ष्मी' उर धरि जग लहै।

'शील' गुण को लक्ष्मीचन्द ने कुमति का विनाशक और यश का प्रदाता कहकर उसे धारण करने की शिक्षा दी है—

सील बडो ससार, सुजस ही बेलि बधावै।
सील बडो संसार, जलधि तै पार करावै।
सील बडो संसार, कुमति मेटन सुखदाई।
सील बडो संसार, पाप भवि मन वच काई।
सील रतन मय होत है, मन मैं धरि अति मंत।
'लषमी' कहत यह सीख मठि, भवि धार निश्चित।

मोक्ष की ओर अग्रसर करना शील का सबसे बडा गुण है। अतः सामान्य नर-नारी ही नही, अपितु मुनिवर भी शील व्रत का विशेष ध्यान रखते है—

सील रतन को धारि, मुनिश्वर ध्यान धरै जी।
सील रतन को धारि, सिव पंथ गहै जी।
सील रतन को धारि, नारि नर सुभ गति जैहै।
सील रतन को धारि, पूज्य संसार जु वहै है।
सील रतन व्रत को गहत, नर नारी दिढ़ धारि कै।
तिन को नमत सुर इद सब, 'लषमी' मन हरषाय कै।

मर्यादा-पालन की अनिवार्यता बतलाते हुए, नीतिकार लक्ष्मीचन्द ने राजा के लिए 'प्रजा-वात्सल्यता', प्रजा के लिए 'राजाज्ञा-पालन', नारी के लिए 'शील-व्रत' और पुरुष के लिए 'शुभ-मार्ग ग्राह्य' करने का लक्ष्य निर्धारित किया है—

पावन राजा होय, प्रजा को सुख उपजावै।
पावन परिजा होय, राज मर्ज आनि न पावै।
पावन नारी होय, सील गुन दिढ करि पालै।
पावन नर जो होय भलै सुभ मारग चालै।
एह च्यारो राज पवित्र है, ते पवित्र सहजै वरै।
'लषमी' कहत ऐह, सब भवसागर तिरै।

जैन परम्परा के अनुसार लक्ष्मीचन्द की आस्था कर्म-फल मे भी है। शुभ कर्मों का फल पुण्य के रूप में कभी भी उदित हो सकता है—

पुन्य उदै तब होय, सुजस पुनि बेल बधावै।

१. 'गुरु निश्चै निरग्रंथ' पंक्ति के आधार पर लक्ष्मीचंद के दिगम्बर जैन होने मे कोई सन्देह नही रह जाता।

पुन्य उदै तब होय, राज रिधि पल मैं आवै।
पुन्य उदै तब होय सत्रु मित्र सम हो ही।
पुन्य उदै तब होय, मिलैं फुनि चाहैं सोही।
एह रोला जांनि पुन्य प्रभाव तैं, इन्द्रादिक सुष भूलते।
फिर वहैं मुकति सुजान, 'लषमी' निचै पुन्य तैं।

निषेधात्मक नीति तत्त्वों में कवि ने सामन्ती संस्कारों और दरबारी कवियों की वाणी मे 'काम-वासना' का प्रसार देखकर उसकी निंदा की है। श्रृंगारी कवियो ने परकीया प्रेम को शास्त्रीय जामा पहनाकर उसके मन-भावने चित्र खीचे, जिसके विरोध में लक्ष्मीचन्द के तीखे तेवर तिलमिला देने को बाध्य करते है—

परनारी परतषि, जानि अति विष की झाला।
परनारी परतषि, जांनि तू अगनि विसाला।
परनारी परतषि, सील गुन भानै छिन मैं।
परनारी परतषि, जांनि अति षोटी मन मैं।
एह जांनि भवि परनारि कौ, तजौ शील गुन धारिकै।
'लषमी' कहत रावन गये, नरक भूमि निहारि कैं।

कवि ने नरक और ससार-भ्रमण का भय दिखला कर भी परकीया-रति का दुष्परिणाम व्यक्त किया है—

परनारी रति होय, जलति संसार भ्रमैंगे।
पर नारी रति होय, नीच गति मांहि परैंगे।
पर नारी रति होय, निगोद्यां में दुख पावै।
पर नारी रति होय, भली गति कबहू न जावै।
पर नारी रति ते भया, तिनको हिरदो मलीन मन।
पर वनिता तैं तजत हैं, 'लषमी वैं नर बुद्धजन।

पापोन्मुख नीति मनुष्य को राग, दुर्बुद्धि तथा अधर्म आदि दोषों में फंसाती है। अतः लक्ष्मीचन्द पाप से वचने की प्रेरणा देते हैं—

पाप उदै तबै होय, राग बहु व्यापै तन मैं।
पाप उदै तदै होय, कुमति धारत अति मन मैं।
पाप उदै तबै होय, धरम नहिं नैक सुहावै।
पाप उदै तदै होय, ······ संसार भ्रमावै।
एह जांनि उदो अति पाप कौ, नरक निगोद्यां में फिरत।
एह जांनि पाप मनि छांडिकै, लषमी भवसागर तिरत।

वैष्णव भक्त कवियों में नवधा भक्ति के सभी अंगों का विवेचन पर्याप्त मात्रा में हुआ है। जैन भक्ति काव्य में इन अंगों में 'प्रतिमा-दर्शन' को अधिक महत्वपूर्ण माना गया है। लक्ष्मीचन्द का कथन है—

जिन मुख देषै आजि, आजि मो भयो जु चैनां।
जिन मुख देषै आजि, आज सुख भाषै बैनां।
जिन मुख देषै आजि, आजि उर हरषै नैनां।
जिन मुख देषै आजि, आजि मेटो भव फैनां।
श्री जिन मूरति निरखि कै, मोहि रहै आनंद।
·········· (अपूर्ण)

तीर्थंकरों के अतिरिक्त शील-व्रत धारण करने वाले तथा भक्तों की कुगति को निवारने वाले, मोक्षप्रिय साधुओं की वदना भी लक्ष्मीचंद ने की है—

धनि साध संसार, काम सौ रहे अनूठे।
धनि साध संसार, भ्रम्य तै भव छूटै।
धनि साध संसार, कुगति कौं निवारो।
धनि साध ससार, मुकति कांमनि अति प्यारी।
धनि साध ससार मे, सील रतन करि हार।
'लषमी' असैं गुरु सही, तिन पग धोक हमार।

मन, वचन और काया मे जैन शास्त्रो मे श्रद्धान रखने की अपेक्षा बतलाते हुए नीतिकार लक्ष्मीचन्द ने उनके श्रवण मात्र को आनन्ददायी तथा पुण्यप्रद बतलाया है—

जैन ग्रथ तब सुनैं, जानैं पुन्य पाप तैं न्यारो।
जैन ग्रंथ तब सुनैं, पाप मति रहै न लगारो।
जैन ग्रंथ तब सुनैं, पुन्य को होइ बढारो।
जैन ग्रंथ तब सुनैं, श्रवन मे लागै प्यारो।
जैन ग्रंथ सरधान करि, निहचै मन वच काय।
ते भवि पावै परम गति, लिषमी कहत सुभाय।

अलंकार-बंधन और शब्द-श्रृगार के आडम्बर से कतई दूर व्यावहारिक भाषा में कतिपय नीत्युक्तियां कहकर लक्ष्मीचंद की कविता ने एक शिक्षिका के समान सर्व-साधारण को दिशा निर्देश दिया है। जैन नीतिकारो ने कवित्त और सवैयों में तो दृष्टान्त और उदाहरण अलंकारों का पर्याप्त प्रयोग किया किन्तु छप्पय मे अनुभूति मात्र ही प्रखरता के कारण अधिक प्रभावकारी हुई है। रीतिकालीन परिवेश मे आविर्भूत वृन्द और दीनदयाल गिरि की परंपरा के विनोदीलाल, मनोहरदास, लक्ष्मीचंद आदि कई जैन कवियों का सामयिक महत्व भी अधिक है। □□

संग्रहालय गूजरीमहल ग्वालियर में सर्वतोभद्र प्रतिमाएँ

□ श्री नरेश कुमार पाठक

सर्वतोभद्रिका या सर्वतोभद्र प्रतिमा का अर्थ है, वह प्रतिमा जो सभी ओर शुभ या मगलकारी है अर्थात् ऐसा शिल्प खण्ड जिसमें चारो ओर चार प्रतिमाएं निरूपित हो। पहली शती ईसवी मे मथुरा मे इसका निर्माण प्रारंभ हुआ, इन मूर्तियो मे चारो दिशाओ मे चार जिन मूर्तियां उत्कीर्ण है। ये मूर्तिया या तो एक ही जिन की या अलग-जिनो की होती है। ऐसी मूर्तियो को चतुर्विम्ब जिन चौमुखी और चतुर्मुख भी कहा गया है, ऐसी प्रतिमाएँ दिगम्बर स्थलो पर विशेष उल्लेखनीय है।

जिन चौमुखी की धारणा को विद्वानों ने जिन समवसरण को प्रारम्भिक कल्पना पर आधारित और उसमे हुए विकास का सूचक माना है। पर इस प्रभाव को स्वीकार करने मे कई कठिनाइया है। समवसरण वह देव निर्मित सभा है, जहा प्रत्येक जिन कैवल्य प्राप्ति के बाद अपना प्रथम उपदेश देते हैं। समवसरण तीन प्राचीरो वाला भवन है। जिसके ऊपरी भाग अष्ट प्रातहार्यों से युक्त जिन ध्यान मुद्रा मे (पूर्वाभिमुख) विराजमान होते हैं। सभी दिशाओ के श्रोता जिनके दर्शन कर सकें, उस उद्देश्य से व्यतर देवो ने अन्य तीन दिशाओ म भी उसी जिन की प्रतिमाएँ स्थापित की, वह उल्लेख सर्व प्रथम ८वी-९वीं शती ई० के जैन ग्रन्थो म प्राप्त होता है। प्रारम्भिक जैन ग्रन्थो मे चार दिशाओ मे चार जिन के निरूपण का उल्लेख नही प्राप्त होता, ऐसी स्थिति मे कुषाणकालीन जिन चौमुखी मे चार समवसरण की धारणा से प्रभावित और उनमे हुए किसी विकास के सूचक नही माना जा सकता। ८वीं-९वी शती के ग्रन्थों मे भी समवसरण मे किसी एक ही जिन की चार मूर्तियो के निरूपण का उल्लेख है, जब कि कुषाण कालीन चौमुखी चार अलग-अलग जिनों को चित्रण किया गया है। समवसरण मे जिन सदैव ध्यानस्थ मुद्रा मे आसीन होते है, जब कि कुषाणकालीन चौमुखी जिन मूर्तियां कायोत्सर्ग मे खडी है। जहां हमें समकालीन जैन ग्रन्थो मे जिन चौमुखी मूर्तियों की कल्पना का निश्चित आधार प्राप्त होता है, वह तत्कालीन और पूर्ववर्ती शिल्प मे ऐसे एक मुख और बहुमुख शिवलिंग एवं यक्ष-यक्षी मूर्तियां प्राप्त होती है, जिनसे जिन चौमुखी की धारणा से प्रभावित होने की सम्भावना हो सकती है। जिन चौमुखी पर स्वम्भिक तथा मौर्य शासक अशोक के सिह एव वृषभ शीर्षक का भी कुछ प्रभाव असम्भव है। अशोक का सारनाथ सिह शीर्षक स्तंभ इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है,

जिन चौमुखी प्रतिमाओ को मुख्यतः दो वर्गों मे बाटा जा सकता है। पहले वर्ग मे ऐसी मूर्तियां है, जिनमें एक ही जिन की चार मूर्तियां उत्कीर्ण है। दूसरे वर्ग की मूर्तियो मे चार अलग-अलग जिन की मूर्तियां है। पहले वर्ग की मूर्तियो का उत्कीर्णन लगभग ७वी-८वी शती ई० मे प्रारम्भ हुआ किन्तु दूसरे वर्ग की मूर्तिया पहली शती ईसवी मे ही बनने लगी थी। मथुरा की कुषाण कालीन चौमुखी मूर्तिया इसी दूसरे वर्ग की है। तुलनात्मक दृष्टि मे पहले वर्ग की मूर्तियो की सख्या मे बहुत कम है। पहले वर्ग की मूर्तियो में जिनो का लांछन सामान्यतः नही प्रदर्शित है[1]।

केन्द्रीय सग्रहालय गूजरी महल ग्वालियर मे पाच सर्वतोभद्रिका प्रतिमाए सग्रहीत है। सभी प्रतिमाएं लगभग ११वीं-१२वी शती ई की एव मूर्तिकला की दृष्टि से उल्लेखनीय है। सग्रहीत प्रतिमाओ का विवरण इस प्रकार है :—

सग्रहालय मे पांच सर्वतोभद्रिका प्रतिमाएं सग्रहीत है। इनमे से चार ग्वालियर दुर्ग से प्राप्त हुई है। ११वी शती

ईसवी की है। पांचवी इसी काल खण्ड की विदिशा से प्राप्त हुई है। ग्वालियर दुर्ग से प्राप्त सफेद बलुआ पत्थर पर निर्मित सर्वतोभद्रिका मूर्ति (सं० क्र० ११५) मे स्तम्भ के चारो ओर तीर्थंकर कायोत्सर्ग मे ध्यानस्थ खड़े हुए हैं[१]। इस प्रकार की प्रतिमाओ को किसी भी तरफ से देखा जाय तीर्थंकर के ही दर्शन हो जाते है। जिससे मानव का कल्याण होता है। इसीलिए चारो तरफ मूर्तियो वाली प्रतिमा को सर्वतोभद्रिका की सज्ञा दी गई है। प्रस्तुत सर्वतोभद्रिका के चार तीर्थंकरों मे से केवल आदिनाथ को कंधे पर फैले केशों मे एव पार्श्वनाथ को मस्तक पर सप्त सर्पफण नागमौलि से ही पहचाना जा सकता है। किन्तु सर्वतोभद्रिका प्रतिमाओं मे चार विशिष्ट तीर्थंकरों की ही प्रतिमाए अधिकतर बनाई जाती रही हैं। यथा ऋषभनाथ (आदिनाथ) नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी, अतएव इस सर्वतोभद्रिका प्रतिमा की अन्य दो प्रतिमाए तीर्थंकर नेमिनाथ एवं महावीर की हैं। चारों प्रतिमाएं पद्म पादपीठ पर खडी है। मुख खंडित है एवं प्रभावली से अलकृत है। ८० × १० × ४० से. मी. आकार की प्रतिमा कच्छपघात कालीन शिल्पकला के अनुरूप है।

ग्वालियर दुर्ग से ही प्राप्त दूसरी सर्वतोभद्रिका प्रतिमा (स. क्र. ३६२) मे चारो ओर कायोत्सर्ग मुद्रा मे तीर्थंकर प्रतिमाएं अंकित हैं। प्रथम ओर कुन्तलित केश, प्रभामंडल, श्रीवत्स युक्त तीर्थंकर आदिनाथ हैं, दोनों ओर चांवरधारियों एव यक्ष गोमुख यक्षी चक्रेश्वरी का आलेखन है। दूसरी ओर तीर्थंकर नेमिनाथ कुन्तलित केश, कर्णचाप, श्रीवत्स युक्त है। दोनो ओर चांवरधारी व यक्ष गोमेध यक्षी अंबिका अंकित है। नीचे लेख श्रीवावट लिखा है। तीसरी ओर कुन्तलित केश, कर्णचाप, प्रभामण्डल युक्त तीर्थंकर शान्तिनाथ है। दोनों ओर चांवरधारी खड़े हैं। नीचे पादपीठ पर शान्तिनाथ का ध्वज लांछन मृग एव यक्ष गरुण यक्षी महामानसी का अंकन है। नीचे लेख श्री सातिल श्री कलला लिखा हुआ है। चौथी ओर तीर्थंकर पार्श्वनाथ सर्पफण, नागमौलि, कर्णचाप, श्रीवत्स से अलकृत है। दोनों ओर चांवरधारी खड़े हुए है एव यक्ष धरण यक्षी पद्मावती का आलेखन है। १३५ × ६५ × ५० से. मी. आकार की प्रतिमा बलुआ पत्थर पर निर्मित है। तिथिक्रम की दृष्टि से ११वी शती ईसवी की है।

ग्वालियर दुर्ग से ही प्राप्त तीसरी सर्वतोभद्रिका प्रतिमा[३] (स. क्र. २७३) मे चारो कायोत्सर्ग मुद्रा में तीर्थंकर प्रतिमायें अंकित हैं। प्रथम ओर प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ प्रभामण्डल से सुशोभित कायोत्सर्ग मुद्रा मे खड़े है। सिर लाइनदार केश विन्यास लम्ब कर्णचाप पादपीठ पर चक्र एव विपरीत दिशा मे मुख किए सिहो का अकन है। दूसरी ओर कायोत्सर्ग मुद्रा मे तीर्थंकर नेमिनाथ खडित अवस्था में प्रभामण्डल से सुशोभित है। दोनो ओर विपरीत दिशा में मुख किए सिह बने है। चौथी ओर कुन्तलित केश, नागफण मौलि युक्त कायोत्सर्ग मे तीर्थंकर पार्श्वनाथ खड़े है, कानों मे लम्ब कर्णाचाप, नीचे विपरीत दिशा मे मुख किये सिह और चक्र का आलेखन है। १२० × ५० × ५० से. मी आकार की बलुआ पत्थर पर निर्मित है। चौथी विदिशा से प्राप्त ९० × ४० × ४० से. मी. आकार की सफेद बलुआ पत्थर पर निर्मित (स. क्र. १३१) यह प्रतिमा प्रतिमा, प्रतिमाक्रमांक ११५ के अनुरूप है[४]।

ग्वालियर से ही प्राप्त पांचवीं सर्वतोभद्रिका प्रतिमा[५] मे चारो तरफ पद्मासन मुद्रा मे तीर्थंकर प्रतिमा अंकित है। (सं. क्र. २६१) प्रथम ओर तीर्थंकर आदिनाथ पद्मासन में में बैठे हुए है। सिर पर कुन्तलित केश, जिनकी जटाएँ स्कंध तक फैली हुई है। सिर के पीछे प्रभामण्डल बना है। पादपीठ पर सिह एव चक्र का अंकन है। दूसरी ओर पद्मासन में तीर्थंकर नेमिनाथ बैठे हुए हैं। सिर पर कुन्तलित केश, पीछे प्रभामण्डल है। पादपीठ पर विपरीत दिशा मे मुख किये सिह एव चक्र अंकित है। तीसरी ओर तीर्थङ्कर महावीर पद्मासन मे बैठे है, मुख खण्डित है। सिर के पीछे प्रभामण्डल है। वक्ष पर श्रीवत्स चिह्न, पादपीठ पर विपरीत दिशा में मुख किये सिंहो का अकन है। चौथी तरफ तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ पद्मासन मे बैठे हुए है। सिर के ऊपर सप्तफण नाग मौलि है, पादपीठ पर विपरीत दिशा मे मुख किये सिंह, चक्र एव पूजक अंकित है। प्रतिमा के वितान मे चारो ओर मृदग वादक,

मालाधारी विद्याधर, नीचे पादपीठ पर चारों ओर बारह जिन प्रतिमा एवं अठारह परिचारकों का आलेखन है। बलुआ पत्थर पर निर्मित प्रतिमा—११५ × ६० × ६० से. मी. आकार की है।

पुरातत्त्व एवं संग्रहालय, नलघर
सुभाष स्टेडियम के पीछे, रायपुर (म.प्र.)

सन्दर्भ-सूची

१. तिवारी मारुति नन्दन प्रसाद "जैन प्रतिमा विज्ञान" वाराणसी १९८१, पृ. १४८-४९.
२. ठाकुर एस. आर. कैटलॉग आफ स्कल्पचर्स इन दी आर्किलाजिकल म्यूजियम ग्वालियर एम. बी. पृष्ठ २०, क्रमांक २.
३. संग्रहालय मे सुरक्षित एलबम मे छायाचित्र क्रमांक ६२ इसका प्राप्तिस्थान ग्वालियर दुर्ग लिखा है।
४. ठाकुर एस. आर. पूर्वोक्त पृ. २३ क्रमांक १९.
५. संग्रहालय मे सुरक्षित एलबम मे छायाचित्र क्रमांक ६३ पर इस प्रतिमा स्थान ग्वालियर दुर्ग लिखा है.

(पृ० २२ का शेषांश)

ब्राह्मी से उसका मेल बैठ जाता है। वर्तुलाकार तो अक्षरो के गोल-मोल होने के कारण कहा गया होगा।

नाना मोना लिपि—उपर्युक्त लिपि को नाना मोना या नानम् मोनम् भी कहा जाता है। इस सम्बन्ध मे श्री गोपीनाथ राव ने लिखा है—"The name Nana-Mona is given to it be couse at the time, when the alphabet is taught to chidren for the first time, the 'benedictory' words 'namostu' etc are vegun, which are spelt nana (नाना) mona (मोना) ittanna (इत्तन्ना), tina (तीना) that is na, mo and tu and the alphabet, therefore came to be known as nana, mona alphabet. (Travancore Archicolugical Series, Vol. XVI—देवनागरी उच्चारण लेखक ने दिए हैं। नमोऽस्तु का प्रयोग जैनो द्वारा देवदर्शन, देवपूजन मे प्रारम्भ मे ही प्रतिदिन किया जाता है। मुनि, साध्वी और यक्ष-यक्षणियो को भी नमोऽस्तु किया जाता है।

कालांतर में वट्टेळुत्तु के दो भेद और भी हुए। अत मे ग्रथ लिपि जिसमे सस्कृत लिखी जाती है, अपना ली गई। मलयालम भाषा की लिपि मे भी सुधार हुए। मुद्रण के कारण भी ये सुधार किए गए।

□□

आवश्यकता

वीर सेवा मन्दिर शोध-संस्थान के लिए प्राकृत-संस्कृत-अंग्रेजी के ज्ञाता सिद्धान्तज्ञ योग्य विद्वान की आवश्यकता है। आवास, पानी, बिजली की समुचित व्यवस्था उपलब्ध है। मानदेय के रूप में स्वीकार्य वेतन दिया जायगा। कृपया वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२ से संपर्क करें।

—सुभाष जैन, महासचिव

श्री पं० देवीदास कृत चौबीसी-स्तुति

श्री आदिनाथ स्तुति

सवैया इकतीसा -सोभित उतंग जाकौ धणिक (धनुष) से पांच अंग परम सुरंग पीतवर्ण अति भारी है।
गुन सो अथंग देखि लाजत अनंग कोटि कोटि सूर सोम जातें प्रभा अधिकारी है।
दुविध प्रकार संग जाकै गो न सरवंग हरि कै भुजंग भी त्रसना निवारी है।
होत मन पंकज सु सुनत अभंग जाकौ ऐ(अै)से नाभि नंदन को वंदना हमारी है ॥१॥

अजितनाथ स्तुति

छप्पय—द्रव्य भाव नो कर्म कंजनासन समान हिम।
जन्म जरा अरु मरन तिमिर छय करन भान जिम।
सुख समुद्र गंभोर मार कांतार हुतासन।
सकल दोष पावक प्रचण्ड झर मेघ विनासन।
ज्ञाय(इ)क समस्त जग जगत गुरु भव्य पुरि(रु)ष तारन तरन।
बंदौ त्रिकाल सुत्रिसुद्धि कर अजित जिनेश्वर के चरन ॥२॥

श्री संभवनाथ स्तुति

सवैया— मोह कर्म छीनि कै सुपरम प्रवीन भये फटिक(स्फटिक)मनि भाजन मंझार जैसे नीर है।
सुद्ध ज्ञान साहजिक सूरज प्रकासे हिये नहो अनुतिमिर परोक्ष ताको पीर है।
सकल पदारथ के परची प्रतक्ष्य देव तिन्हि तें जगत्रय के विषै न धोर वीर हैं।
जयवंतु होहु अैसे संभव जिनेश्वर जू जाकै सुख दुख कोन करता सरीर हे ॥३॥

श्री अभिनंदन स्तुति

सवैया तेईसा—चार प्रकार महागुन सार करे तिन्हि घातन कर्म निकंदन।
धर्म मयी उपदेश सुनै तसु सोतल होत हृदय जिम चन्दन।
इन्द्र नरेन्द्र धरणेन्द्र जती सब लोक पती सुकरै पद वंदन।
घालि(डालि)गरै (गले)तिन्हि की गुनमाल त्रिसुद्ध त्रिकाल नमौ अभिनंदन ॥४॥

श्री सुमतिनाथ स्तुति

सवैया ३१—मोह को मरम छेदि सहज स्वरूप वेदि तज्यौ सब खेद सुख कारन मुकति के।
सुभासुभ कर्म मल धोइ वीतराग भये सुर(ल)झे सुदुखतें निदान चार गति के।
क्षायक समूह ज्ञान ज्ञायक समस्त लोक नायक सो सुरग उरग नरपति के।
नमौ कर जोरि सीसु नाइ(य) सो समतिनाथ मेरे हृदय हूजै आनि करता सुमति के ॥५॥

श्री पद्मप्रभु स्तुति

सवैया ३२—विनाशीक जगत जब लोकि जे उदास भये छोड़ि सब रंग हो अभंग वनु लियो है।
जोरि पद पद्म अडोल महा आत्मीक जहां नासाग्र हो समग्र ध्यान दियो है।
हिरदै पद्म जाके विषै मनु राख्यो थंभि छपद स्वरूप हो अतीन्द्रिय रस पियो है।
जेई पद्म प्रभु जिनेस जू ने पाइ निज आपन लब्धि विभाव दूरि कियो है ॥६॥

श्री स्व(सु)पार्श्वनाथ स्तुति

सवैया ३१—विनसें विभाव जाही छिन में असुद्ध रूप ताही छिन सहज स्वरूप तिन्हि करखे(षे)।
मति सु(श्रु)ति आदि दै(छे)सु दाह दुख दूरि भयो हृदै तास सुद्ध आत्मीक जल वरषे।

केवल सुदि(द्)ष्टि आई संपति अटूट पाई सकल पदारथ समय में एक परषे।
तिनहो सुपारस जिनेस को बड़ाई जाके सुनै जग माहि भव्य प्रानी महां हरषे ।।७।।

श्री चन्द्रप्रभु स्तुति

कुण्डरि(ल)या—देवा देवानिके महाचन्द्रा प्रभु पद जाहि।
बंदो भवि उर कमलिनी विगसत देखे ताहि।
विगसत देखें ताहि सु तो सब लोक प्रकासो।
केतक करें प्रकास् चन्द्रमहि ज्योति जरासी।
विमलचन्द्र मह चिन्ह देववानी सम मेवा।
चंदा सहित कलंक वे सु निकलंकित देवा ।।८।।

पहुप दंत स्तुति

कवित्त छंद—मारयो मनु तिन्हि मदन डर्‌यो पि(पु)नि भगत अंत तिहि मिलो न थानि।
समोसरन महि सो प्रभु पग लर पहुप रूप हो वरषौ आनि।
पुनि तिन्हि की सुनाम महिमा सौं अपगुन भयौ महागुन खानि।
तेई पहुपदंत जिनवर के सेवत चरन कमल हम जानि ।।६।।

श्री सीतल नाथ स्तुति

कवित्त छंद—सीतल सरस भाव समता रस करि सुपरम अतर उर भीनो।
अति सीतल तुषार सम प्रगटे गुन उर करम कमल बन दोनो।
दरसन ज्ञान चरन पुनि सीतल निरमल जगे सहज गुन तीनो।
सीतलनाथ नमौं सु आपु तिन्हि सहज सुभाव आप लखि लीनो ।।१०।।

श्री श्रीयंस(श्रेयांस) नाथ स्तुति

सवैया २—चौसठि चंवरि जाके सीस् सुर ईस ढ़ारें अतिशय विराजमान तास चारि अगरे।
आठ प्रतिहार अन अंत है चतुष्टय को सुतिन्हि को प्रकाश लोकालोक विषें वगरे।
क्षुधा तृषा आदि जे सुरहित अठारह दोष सुद्ध पद पाय मोक्षपुरी काजै डगरे।
धरिकें सुहाथ माथ नमौं सो श्रीयांसनाथ मिटें तिन्हि सों सुजगसो अनादि झगरे ।।११।।

श्री वासुपूज्य स्तुति

सवैया ३१—घातिया करम मैटि सहज स्वरूप मेंटि भये भव्य तिन्हें जे करैया ज्ञान दान के।
हेतु लाभ मोष(क्ष) को सुआतम अदोष को अतीन्द्रिय सुख भाग अतराय करें हान के।
उपभोग अंतराय ऐसो विभूति पाइ समो सरनादि सुख हेत निरवान के।
वीरज अनंत व्रत्य दर्शन प्रकाश्यो सत्य ऐसे वासुपूज्य सो समुद्र शुद्ध ज्ञान के ।।१२।।

श्री विमल नाथ स्तुति

तेईसा— निर्मल धर्म गह्यो तिन्हि पर्म सुनिर्मल पंथ लह्यो परमारथ।
निर्मल ध्यान धर्‌यो सर्वज्ञ जग्यो अति निर्मल ज्ञान जथारथ।
निमल सुक्ख सुनिर्मल दृष्टि विषें सब भासि रहे सुपदारथ।
निर्मल नाथ कर्‌यो हमरी मति ज्यौं अपनो सुकर्‌यो सब स्वारथ ।।१३।।

श्री अनंतनाथ स्तुति

सवैया ३१—सहज सुभाव ही सौं वीतत विकल्प सबै लखौ तिन्हि जगत विलास जैसे सपनो।
जानिबो सुजान्यो देखि वोहतो सुदेखो सब दिव्यो ज्ञान दर्शन खिप्यो समस्त झपनो।

अंतराय कर्म अंत किये तैं अनंत बल भयो मोह मर्दन अनंत सुख थपनो।
जयवंत होहु अैसे जग में अनंतनाथ पायो तिन्हि सदा को गमायो रूप अपनो ।।१४।।

श्री धर्मनाथ स्तुति

सवैया ६२—गुन कौं अनंत जाके गन फन पती थाके रसना सहस करि पारु नहीं पायो है।
घातिया करम चारि आठ दश दोष टारि सकति सम्हार भवभमन नसायो है।
परम अतीन्द्रिय ज्ञान प्रगट्यो सहज आन अति सुख दान परधान पद पायो है।
अैसे धर्मनाथ लियै मुकति वधू सो साथ जाको देवीदास हाथ जोरि सीसु नायो है ।।१५।।

श्री शांतिनाथ स्तुति

तेईसा—सुद्धोपयोग अतीन्द्रिय भोग लह्यो तिन्हि कर्म कलंक निवारे।
एक समै(मय) महि जे सर्वज्ञ सही सब लोक विलोकन हारे।
पूजत जे भवि या जग में तिन्हि पुन्य उदय पद उत्तम धारे।
ते भगवंत अनादि अनंत बसो उर सांति जिनेस हमारे ।।१६।।

श्री कुंथनाथ स्तुति

सवैया ३१—जाके गुन ध्यावै ते सु पावैं परमारथ कै जाकै जस गावै कोटि तीरथ के किये मैं।
जाके बैन सुने नैन खुले उर अंतर के जाको नाम लेत फल महादान दिये मैं।
जाकी करै बंदना के पाप को निकंदना है देखे रूप सुख ज्यौ अतीन्द्रिय रस पिये मैं।
तेई कुंथनाथ जू साथ मोक्ष मारग के देवीदास कहै जे सुवसो मेरे हिये मै ।।१७।।

श्री अरहनाथ स्तुति

सवैया ३१—मोह रिपु बांधि तिन्हि सुभट कषाय साधे धोधे मनु मदन विलात भयो डरि कैं।
आपने सु सहज स्वभाव सुद्ध नौका बैठि पार भये तृष्णा अपार नदो तरि कैं।
लियो पद साहजोक परम अदोष होइ जन्म जरा मरनादि सखा छांड़ि करि कैं।
बंदना सु कीजे अैसे अरह जिनेश्वर की होइ कै त्रिसुद्ध हाथ जोड़ि सीसु धरि कैं ।।१८।।

श्री मल्य(ल्लि)नाथ स्तुति

तेईसा—मारि महाबलवंत हन्यो सुजन्यो सुख राग विरोध वितीतो।
इन्द्रिन को बिसर्‌यो विउ(व्यो)पार हतो अति हों दुख कारन लीतो।
स्वारथ सुद्ध जग्यो परमारथ कारन खेद सबै जग जीतो।
मल्य जिनेस असल्य भये तिन्हि आपुन हु अपनो पद चीतो ।।१९।।

श्री मुनि सो(सु)वृत्त स्तुति

तेईसा—अरि परिग्रह टारि महाव्रत धारि मिथ्यात्व मिटै दुख भूजो।
सेस नरेस सुरेस सबै जब आनि महां तिन्हिको पद पूजो।
जा सम और नहीं जग में सुख कारन देव निरंजन दूजो।
प्रान अधार सुधो तिन्हि के जयवंत सदा मुनि सोव्रत हूजो ।।२०।।

श्री नमिनाथ स्तुति

तेईसा—ध्यान कृपाण तै क्रोध निदान हन्यो तिन्ही मान बलो छल लोभा।
राज विभूति अनित्य लखो सब नीर भरै न रहै जिमि शोभा।

(शेष आवरण पृ० ३ पर)

दिल की बात दिल से कहो—और रो लिए !

☐ पद्मचन्द्र शास्त्री सं० 'अनेकान्त'

काश, एकांगी आत्मचर्चा न होती तो—

भारत धर्मप्रधान देश रहा है और धर्म का सम्बन्ध आत्मा से है। अतः सभी धर्मों ने प्रायः आत्मा को किसी न किसी रूप मे माना है। जैनो ने आत्मा को स्वतत्र द्रव्य और अन्यो मे किसी ने ब्रह्म का अंश और किन्ही न और किसी रूप में। फलत: समय-समय पर लोगो मे आत्मा की जिज्ञासा रहती रही है और चर्चाएँ भी होती रही हैं। उपनिषद् काल मे तो इस चर्चा का विशेष जोर रहा है। कठोपनिषद मे एक प्रसग में कहा है कि जब उद्दालक ऋषि ने ऋत्विजो को अपना सर्वस्व दान दे दिया और वह शेष बची बूढ़ी गोओ को भी दान मे देने लगा तब उसके पुत्र नचिकेता ने उनसे कहा—पिता-जी, इन बूढ़ी गौओ को दान मे क्यों दे रहे हैं ? आपके सर्वस्व मे तो मैं भी हूं, मुझे दान मे दे दीजिए। जब पिता ने नचिकेता के बारम्बार कहने पर भी कोई उत्तर न दिया। नचिकेता ने फिर-फिर कहना चालू रखा। तब कुपित हो पिता ने कहा कि जा, तुझे मैं यम को देता हूं। ऐसा सुनते ही नचिकेता यम के द्वार पर जा पहुचा। वहाँ मालुम हुआ कि यमराज कहीं बाहर गए है। तब यम के द्वार पर तीन दिन-रात भूखा-प्यासा पडा रहा। जब यम आये तो इसकी लगन मे प्रसन्न होकर कहा—तुझे मैं तीन वरदान देता हू। बोल और माँग ले। नचिकेता ने वरदान लेने से इन्कार कर दिया और कहा कि मुझे तो आप आत्मा का स्वरूप बताइये। यम ने कहा तू नही समझ सकेगा, इस आत्मा के विषय मे तो बड़े-बड़े महर्षि भी नहीं समझ पाए है। फिर भी आत्मा का स्वरूप जैसा है उसे सुन—

'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्यय
तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं,
निचाम्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ॥'

आत्मा शब्द, स्पर्श, रूप, रस-गन्ध रहित, अव्यय, अनादि अनन्त, महान् और ध्रुव है, उसको प्राप्त कर मृत्यु के मुख स छूट जाता है।

अन्य उपनिषदों मे भी कही प्रजापति, इन्द्र और असुरों और कही भारद्वाज और सनत्कुमार के माध्यम से आत्मा की चर्चा है। इस प्रकार उस समय आत्म-जिज्ञासा की धारा प्रवाहित होती रही।

जैनियो मे तो आत्मा की उपलब्धि का मार्ग अनादि मे प्रवाहित रहा है। भूतकाल की अनन्त चौबीसी और अनन्त अपरिग्रही मुनि ज्ञान और चारित्र के बल पर आत्मा के स्वरूप का अवगम कर शुद्ध दशा को प्राप्त होते रहे है। हाँ, उनमे विशेषता यह रही कि वे भेद-ज्ञान द्वारा आत्मस्वरूप के उस पद की प्राप्ति के लिए, पर से भिन्न—एकाकी-अपरिग्रही होने मे तत्पर रहकर ही आत्म-दर्शन या आत्म-स्वरूप की उपलब्धि कर सके हैं। यदि वे त्यागरूप चारित्र के बिना आत्मा की कोरी रट या चर्चा मात्र पर अवलम्बित रहते तो कदाचित् भी शुद्ध आत्मत्व को प्राप्त न होते।

जैनियों के मान्य मूल-आचार्य कुन्दकुन्द ने स्पष्ट कहा है—

"अहमिक्को खलु सुद्धो दंसण-णाण मइओ सदाऽरूवी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमित्तं पि ॥"

मैं एकाकी (अकेला) हू, मैं निश्चय ही (स्वभावत:) शुद्ध हू, मैं दर्शन-ज्ञान मय और अरूपी (रूप-रस-गंध स्पर्श से रहित) हू। अन्य परमाणु मात्र भी मेरा नही है। इसका आशय ऐसा कि जब अन्य परमाणु मात्र भी मेरा नही है तब मैं एकाकी, शुद्ध, पूर्णदर्शन ज्ञानरूप और अरूपी हू। अथवा जब मैं शुद्ध हू तब अन्य परमाणु मात्र (भी) मेरा नही है। इस भांति गाथा की दोनों पक्तियां परस्पर

सापेक्ष हैं, इस भांति आत्मा का स्वरूप है। जब कि आज कुछ आत्म-वादियो ने प्राय: गाथा की प्रथम पंक्ति मात्र को ग्राह्य मान दूसरी पंक्ति को उसमे घटित करने की सर्वथा ही उपेक्षा कर दी है। इसका परिणाम यह होता जा रहा है कि आत्मवादी भी मिथ्यारूप एकांगी मार्ग पर बढ़ते जा रहे है और साधारण व्यवहार-आचरण मे भी मुंह मोड़ने लगे हैं।

आत्मा के अरूपी होने का तात्पर्य है उसमे पुद्गल सम्बन्धी उन गुणो का अभाव, जो इन्द्रियो व मन को अग्राह्य और रागी छद्मस्थ की पहुंच के बाहर है, ऐसे में इन्द्रियाधीन रागी छद्मस्थों द्वारा अरूपी आत्मा का साक्षात्कार सर्वथा असम्भव है। फलत: छद्मस्थो का कर्तव्य है कि जो आंख, कान, नाक मन आदि ज्ञानेन्द्रियां उन्हे मिली हैं उनका उपयोग बाह्य-पदार्थों की सही जानकारी मे करें—बारह भावनाओं के द्वारा उनकी असारता का चिन्तन करे और उनसे विरक्त होवें। पर से अलग होकर आत्मा स्वय ही स्वभावत: स्वय मे रह जायगा। स्वभाव में आने का प्रयत्न नही होता। जैन के अनुसार तो पर से विरक्त होना ही वीतरागता है—स्व मे आने का प्रयत्न भी तो स्व के प्रति राग-भाव है और राग-भाव जैन मे सर्वथा वर्जित है। जैन के अनुसार तो जितनी-जितनी विरागता है उतनी-उतनी जैनत्व के प्रति निकटता और जितना-जितना राग उतनी-उतनी संसार परिपाटी की वृद्धि है। क्यो कि जैन-मत मे विरक्तता मात्र ही आत्म-ज्ञान और मुक्ति का द्वार है।

हमारे पूर्व महापुरुषों ने वैराग्य भाव से आत्म-दर्शन पाया और मुक्ति मार्ग खोजा है। और आज वैराग्य-भाव को तिलांजलि दे—परिग्रह मे लिपटे-लिपटे, परिग्रह बढ़ाते, इन्द्रिय विषयों मे रत रहते—उनमे रस लेते हुए, आत्म-चर्चा करते सुनते-सुनाते आत्मा के साक्षात्कार कर लेने की जो परिपाटी चल पड़ी है वह संसार पार कराने वाली नही—वह तो लोगों को भुलावे मे डालने का फरेब है। ऐसी मिथ्या परिपाटी ने तो जैनों की स्थूल व्यवहारी पहिचान को ही तिरोहित कर दिया है और बालको के नैतिक सुधार के प्रयत्न के साथ अब युवा और वृद्धों के चारित्र-सुधार हेतु भी नैतिक-शिक्षा समितियां स्थापित करने की चिन्ता तक भी की जाने लगी है, यानी कीचड़ में पैर सानो और फिर धोओ। खेद! आज जो लोग त्याग किए बिना जो सम्यग्दर्शन प्राप्ति और आत्म-दर्शन कराने की धुन मे लगे हैं, उन्हें सोचना चाहिए कि उन्हें कितना आत्म-दर्शन हुआ और कितना सम्यग्दर्शन? या उनके उपदेशों मे कितनो ने आत्मदर्शन या सम्यग्दर्शन प्राप्त किया? यदि दो-चार हो तो नाम सोचे। आगमानुसार तो ये विषय केवलीगम्य है और आत्मदर्शन की प्राप्ति विराग-क्षण के आधीन है। अन्यथा, आचार्यों ने राग-भाव के त्याग पर बल न देकर, इस धर्म को वीत-राग का धर्म न कहकर, सरागियो का धर्म कह दिया होता और हमारे देव भी वीतरागी देव न होकर रागी-देव होते।

एक ने कहा—सम्यग्दर्शन-आत्मदर्शन तो चौथे गुण-स्थान मे हो जाता है। तब हमने पूछा—ये तो बताओ कि आपको चौथा गुण स्थान है या पहिला? और आपको उसका ज्ञान कैसे हुआ? क्या, आगम मे कही छद्मस्थ को इसके ज्ञान हो जाने की बात कही है? क्या केवली के सिवाय अन्य कोई इस बात को जान सकता है? आदि।

सो लोगो ने विरक्तता और त्याग के बिना, अपने परिग्रह-पोषण के पाप को छुपाने के लिए त्याग-रूप चारित्र के कठिन श्रम से बचते हुए मन-गढ़न्त बातें गढ ली है और उल्टे मार्ग पर चल पड़े हैं—ससार के पदार्थों की असारता जैसी असलियत को जानकर उनमे विरक्ति लेने की बजाय परिग्रह समेटे हुए, अदृश्य-अरूपी आत्मा देखने दिखाने, पहिचानने-पहिचनवाने के व्यर्थ प्रयत्न मे लग पड़े है—जैसे वे परिग्रह की बढवारी करते ही अदृश्य आत्मा को पा लेंगे और बिना चारित्र पालन किए—राग-भाव मे आत्मा को पा लेंगे? या इस भांति वे तीर्थंकरो के मार्ग, वीतरागत्व को मात दे देंगे?

क्या करें? कोई सुनता नही और जैन की ऐसी दशा पर रोना आता है। सोचते है—एकांगी आत्म-चर्चा न होती तो नैतिक स्तर—व्यवहार चारित्र तो बना रहता।

विद्वान् नहीं मिलते :—

लोग कहते हैं अब विद्वान् ही नही मिलते। हम कहते हैं—विद्वानो को समझने वाले ही कहां कितने हैं? जो विद्वान् तैयार हों? उक्त प्रसंग और अर्थ-युग के प्रभाव को जान पूर्व विद्वानों ने अपनी संतान को अपनी लाइन से मोडा और उनकी संतान प्राय: पाश्चात्य शिक्षा में दक्ष बनी और मजे में हैं। यह अर्थ युग का ही प्रभाव है कि आज प्राय: कितने ही नौ-सिखिए तक ठहराव कर, पूजा-पाठ, विवाह, प्रतिष्ठा और विधान जैसे धार्मिक कृत्य करा पैसा बटोरने के धन्दे में लगे है—जिनवाणी को बेचना कहां तक उसकी विनय है, इसे सोचिए? दूसरी ओर अर्थ-व्यवसायी हैं जो मर्जी माफिक कार्य कर देने के कारण इन धर्म-व्यवसाइयों को प्रभूत धन देने पर तुले है—ठीक ही है माफिक आचरण करने वाले को कौन नहीं चाहता?

भला, विद्वान् में यह बातें कहां? विद्वान् क्यों कहेगा, इनको खुश करने की बात और क्यों करेगा इनके मन चीते माफिक? वह तो सोचेगा—

'त्वं राजा वयमप्युपासित गुरु: प्रज्ञाभिमानोन्नता:।'

फलत: यह तो व्यापारी को सोचना होगा कि वह धर्म-रक्षण के लिए विद्वान् की सहाय करे या धर्म-विद्या को पैसे कमाने मे प्रयोग करने वाले की? हमारी समझ से समाज ने ठीक से नही समझा और विद्वानों का अभाव होता गया। यहाँ तक कि गत समय में कई स्वाभिमानी प्रकाण्ड विद्वान् तक अभाव मे घुटते-घुटते दम तोड़ गए। पर, धन्य है उन्हें और उनकी विद्वत्ता को जो बिके नहीं। हमे समाज की उक्त दशा पर रोना आता है और दिल की बात दिल से कहकर रो लेते हैं—सुनता कोई नहीं। हम कई नेताओं को कहते रहे हैं—ठोस विद्वान् तैयार करने में धन लगाओ। पर, किसका ध्यान है और किसे फुर्सत है यश-अर्जन के सिवाय? □□

(पृ० ३० का शेषांश)

जे निरवारि विसुद्ध भये तन चेतनि कर्म पुरातम गोभा।
श्री नमिनाथ सदा शिव(सिउ) के गुन की वरनौं सु कहा करि शोभा ॥२१॥

श्री नेमिनाथ स्तुति

तैईसा—राजमती सी त्रिया तजि कै पुनि मोख वधू सुत्रिया कौं सिधारे।
राज विभौ(भव) तजिकै सबही सब जीव निदान दए हितकारे।
आतम ध्यान धरयो गिरिनारि पै कर्म कलंक सबै तिन्हि जारे।
जादौं को वंस करो सब निर्मल जै(य) जगन्नाथ जगत्रय भारे ॥२२॥

श्री पाश्वनाथ स्तु त

सवैया ३१—नाम को वड़ाई जाके पाहन सुपाई काहु ताहि स्पर्शे होहि कंचन सु लोह को।
अचिरज कहा है तिन्हि को निज ध्यान धरे होत है विनास रागदोष अरु मोह को।
तिन ही बतायो मोक्ष मारग प्रकटरूप पारिवे को कर्म चेतन, विछोह को।
देखो प्रभु पारस को परम स्वरूप जाने भयो सो करै या सुद्ध आतम की टोह को ॥२३॥

श्री वर्द्धमान स्तुति

सवैया—सकल सुरेस सीस नावत असुर ईस जाके गुन ध्यावत नरेस सर्व देस के।
धोई मैल कम चार घातिया पवित्र भये थिर हो अकंप विषैं आतमा प्रदेस के।
तारन समर्थ भवसागर त्रिलोकनाथ कर्त्ता अनूप सुद्ध धर्म उपदेस के।
अैसे वर्द्धमान जू की बंदना त्रिकाल करौं दाता हमकौं सु होहु सुमति सुदेस के ॥२४॥

सौजन्य : श्री कुन्दनलाल जैन, दिल्ली

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो। पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्राय: नहीं लिए जाते।

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द ।	६-००
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह । पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित । सं. पं. परमानन्द शास्त्री । सजिल्द ।	१५.००
श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन	३-००
जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द ।	७-००
जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री	प्रत्येक भाग ४०-००
जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, सात विषयों पर शास्त्रीय तर्कपूर्ण विवेचन	२-००

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol.

Volume I contains 1 to 1044 pages, volume II contains 1045 to 1918 pages size crown octavo.

Huge cost is involved in its publication. But in order to provide it to each library, its library edition is made available only in 600/- for one set of 2 volume. 600-00

सम्पादन परामर्शदाता : श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३

प्रिन्टेड
पत्रिका बुक-पैकिट

वीर सेवा मन्दिरका त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४५ : कि० ३ जुलाई-सितम्बर १९९२

इस अंक में—

क्रम	विषय	पृ०
१.	उपदेशी-पद	१
२.	अकलंक देव की मौलिक कृति तत्त्वार्थवार्तिक —डा० रमेशचन्द्र जैन	२
३.	संस्कृत जैन चम्पू और चम्पूकाव्य —डॉ० कपूरचन्द्र जैन	८
४.	सांख्य और जैन दर्शन में ईश्वर —डा० सुदर्शन लाल जैन	१३
५.	नागदेव जैन मन्दिर नगपुरा —श्री नरेश कुमार पाठक	१७
६.	आ० कुन्दकुन्द और जैन दार्शनिक प्रमाण व्यवस्था —डा० कमलेश जैन, वाराणसी	१८
७.	कसाय पाहुड़ सुत्त (शुद्धि-पत्र)	२०
८.	जैन मुनि-चर्या—श्री बाबूलाल जैन, कलकत्ता वाले	२४
९.	श्री शांतिनाथ चरित संबंधी साहित्य —कु० मृदुला कुमारी, बिजनौर	२५
१०.	दिल की बात दिल से कही—और रो लिए —श्री पद्मचन्द्र शास्त्री 'संपादक'	३०
११.	विसंगतियाँ दूर कैसे हों —महासचिव वीर सेवा मंदिर	कवर पृ० २
१२.	संचयित ज्ञान-कण—श्री शान्तीलाल जैन कागजी	,, ३

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

विसंगतियाँ दूर कैसे हों ?

हमारे एक प्रसिद्ध आचार्यश्री सभा को संबोधित कर रहे थे। उनकी प्रस्तुति मन को छूने वाली थी। उन्होंने कहा—'आज चारों ओर हिंसा का बोलबाला है। जैन समाज शाकाहार के सार्वजनिक प्रचार में तो लगी है किन्तु आज जैनों को ही संबोधित करना पड़ रहा है कि वे स्वयं अण्डा, मांस, मदिरा और धूम्रपान आदि का सेवन न करें। जैनी को तो आठ मूलगुणधारी होना चाहिए। हमारे शास्त्रों में मद्य, मांस, मधु और पाँच उदुम्बर फलों के त्याग का तथा झूंठ, चोरी, कुशील और परिग्रह को कम करने का उपदेश है।'

यह एक गम्भीर विषय है कि समाज में कहीं न कहीं, किसी न किसी रूप में ऐसी बुराइयाँ हैं। हमारे समाज के कई बड़े नेताओं, प्रचारकों और धर्मक्षेत्र के कई सामाजिक व्यक्तियों को रात्रि भोजन करते तक देखा जाता है और धूम्रपान तो साधारण-सी बात है। कहीं-कहीं अण्डे को शाकाहार की संज्ञा देकर उसके सेवन की परिपाटी भी बढ़ाई जा रही है। कुछ लोगों में धन की प्रचुरता उन्हें पाँच सितारा होटलों तक खींच रही है। विवाह आदि होटलों में होने लगे हैं। वहाँ शाकाहार का प्रबन्ध बताया जाता है, पर स्पष्ट देखा जा सकता है कि इन होटलों में भोजन बनाने, परोसने आदि के बर्तनों में भेद नहीं होता। इस प्रकार आचारहीनता की वृद्धि धर्मलोप का स्पष्ट संकेत दे रही है। यदि ऐसी बुराइयों को न रोका गया तो वह दिन भी हमें देखना पड़ सकता है कि यह पूछने पर मजबूर होना पड़े कि—क्या आप शाकाहारी जैन हैं ?

यदि आचारवान त्यागी, विद्वान्, नेता इस ओर लक्ष्य दें और पत्रिकाएँ ध्यान देकर निष्पक्ष ईमानदारी से प्रचार करें तो जैन का रक्षण संभव है। क्या कहें पत्रिकाओं के बारे में ? प्रायः कई पत्र-पत्रिकाएँ पक्षों को खींचातानी में फँसी है। ऐसा भी व्यक्तिगत पत्रिकाएँ हैं जो निजी स्वार्थ और टेक-संरक्षण में सार्वजनिक संस्थाओं पर भी व्यर्थ के मिथ्या कुठाराघात करती हैं।

पिछले दिनों 'तीर्थंकर' पत्रिका ने ही संस्था वीर सेवा मन्दिर को बदनाम करने के लिए कई लेख प्रकाशित किए और जब उन्हें वीर सेवा मन्दिर से रजिस्टर्ड पोस्ट द्वारा सप्रमाण स्पष्टीकरण छपाने के लिए भेजा गया तो वे आज तक मुँह छुपाए हुए हैं—हमारा स्पष्टीकरण नही छाप सके। हालाँ कि संपादक महोदय शाकाहार के प्रचार में लग्न हैं, पर हमें तो विशेष खेद हुआ 'तीर्थंकर' अगस्त ९२ के अंक में छपे अनुत्तर-योगी संबंधी सामग्री के बेतुके कोकशास्त्र जैसे अश्लील अंशों को पढ़कर। कई लोगों ने हमें कहा भी और कइयों ने तो अंक के पृष्ठ २४-२५ ही फाड़ फेंके। (पाठक उन्हें पढ़कर देखें)।

हमारा उद्देश्य किसी को बदनाम करना नहीं और ना ही 'तीर्थंकर' की तरह कोई प्रतिशोध। ये तो एक हकीकत है जिसके प्रति खेद होना चाहिए। नेताओं, त्यागियों, प्रचारकों व धर्म प्रेमियों और पत्रकारों आदि को संयम व सचाई वृद्धि की दिशा में निःस्वार्थ भाव से सावधान हो, प्रवर्तन करना चाहिए। तभी विसंगतियाँ दूर हो सकती हैं।

महासचिव : वीर सेवा मन्दिर

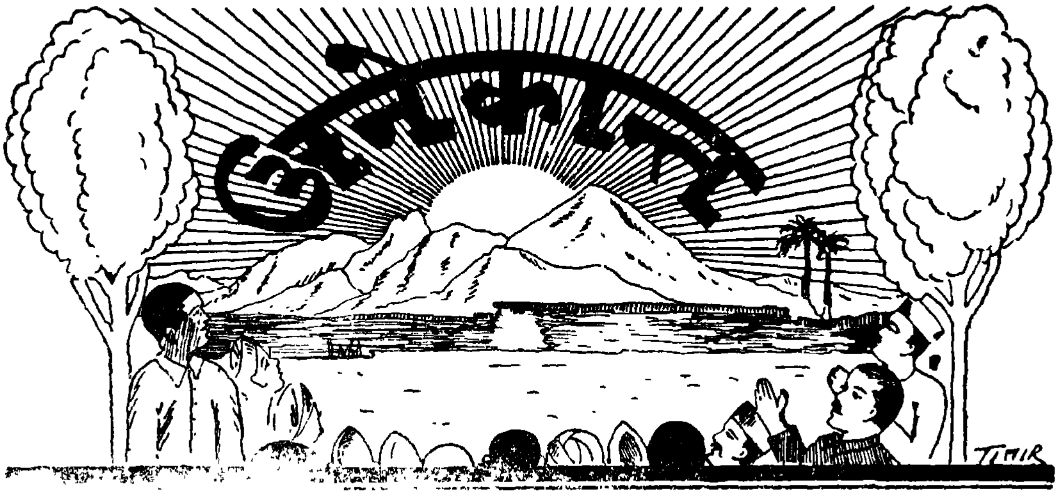

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष ४५ किरण ३ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
वीर-निर्वाण संवत् २५१८, वि० सं० २०४९ | जुलाई-सितम्बर १९९२

उपदेशी-पद

मत राचो धी-धारी।
भव रंभ-थंभ सम जानके, मत राचो धी-धारी।
इन्द्रजाल को ख्याल मोह ठग विभ्रम पास पसारी ।।
चहुंगति विपतिमयी जामें जन, भ्रमत भरत दुख भारी।
रामा मा, मा बामा, सुत पितु, सुता श्वसा, अवतारी ।।
को अचंभ जहाँ आप आप के पुत्रदशा विस्तारी।
घोर नरक दुख ओर न छोर न लेश न सुख विस्तारी ।।
सुर नर प्रचुर विषय जुर जारे, को सुखिया संसारी।
मंडल ह्वै अखंडल छिन में, नृप कृमि, सधन भिखारी।
जा सुत-विरह मरी ह्वै बाघिनि, ता सुत देह विदारी ।।
शिशु न हिताहित ज्ञान, तरुन उर मदन दहन परजारी।
वृद्ध भये विकलंगी थाये, कौन दशा सुखकारी ।।
यों असार लख छार भव्य झट भये मोख-मग चारी।
यातें होहु उदास 'दौल' अब, भज जिनपति जगतारी ।।

गतांक से आगे :

अकलङ्कदेव की मौलिक कृति तत्त्वार्थवार्तिक

□ डॉ रमेशचन्द्र जैन, बिजनौर

वेद समीक्षा—प्रथम अध्याय के दूसरे सूत्र की व्याख्या में "पुरुष एवेदं सर्वम्" इत्यादि ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त की पंक्ति उद्धृत करते हुए कहा गया है कि ऋग्वेद मे पुरुष ही सर्व है, वही तत्त्व है। उसका श्रद्धान सम्यग्-दर्शन है। यह कहना उचित नहीं है; क्योंकि अद्वैतवाद मे क्रिया-कारक आदि समस्त भेद-व्यवहार का लोप हो जाता है[1]।

आठवें अध्याय के प्रथम सूत्र की व्याख्या में बादरायण, वसु, जैमिनि आदि श्रुतविहित क्रियाओं का अनुष्ठान करने वालों को अज्ञानी कहा है; क्योंकि इन्होंने प्राणिवध को धर्म का साधन माना है। समस्त प्राणियों के हित के अनुशासन में जो प्रवृत्ति कराता है, वही आगम हो सकता है, हिंसाविधायी वचनों का कथन करने वाले आगम नही हो सकते, जैसे दस्युजनों के वचन[1]। अनवस्थान होने से भी ये आगम नहीं हैं अर्थात् कही हिंसा और कही अहिंसा का परस्पर विरोधी कथन इनमे मिलता है। जैसे पुनर्वसु पहला है पुष्प पहला है, ये परस्पर विरोधी वचन होने से अनवस्थित एवं अप्रमाण है, उसी प्रकार वेद भी कही पर पशुवध को धर्म का हेतु कहा है जैसे एक स्थान पर लिखा है कि पशुवध से सर्व इष्ट पदार्थ मिलते है। यज्ञ विभूति के लिए है, अतः यज्ञ में होने वाला वध अवध है। दूसरी जगह लिखा है कि 'अज', जिनमे अकुर उत्पन्न होने की शक्ति न हो, ऐसे तीन वर्ष पुराने बीज से पिष्टमय बलिपशु बनाकर यज्ञ करना चाहिए, इस प्रकार हिंसा का खण्डन किया गया है। इस प्रकार ये वचन परस्पर विरोधी हैं, अतः अव्यवस्थित तथा विरोधी होने से वेदवाक्य प्रमाण नहीं हो सकते[1]। इस तरह वेदवाक्य की प्रमाणता का तत्त्वार्थवार्तिक में विस्तृत खडन किया गया है[1]।

बौद्धदर्शन समीक्षा—अन्य दर्शनों की समीक्षा करते समय अकलङ्कदेव ने प्रायः बौद्ध, न्याय-वैशेषिक और सांख्य को दृष्टि मे रखा है, किन्तु इनमे भी बौद्ध मन्तव्यों की उन्होंने जगह-जगह आलोचना की है। इसका कारण यह है कि उनके समय बौद्धधर्म जैनधर्म का प्रबल विरोधी धर्म था। बौद्धधर्म का मर्मस्पर्शी अध्ययन करने हेतु अकलङ्कदेव को छिपकर बौद्ध मठ मे रहना पड़ा था। इस हेतु उन्हे अनेक कष्टो का सामना करना पड़ा, किन्तु वे दुःखों के बीच रहकर भी घबराए नहीं। बौद्ध शास्त्रों का अध्ययन कर उन्होंने जगह-२ उनसे शास्त्रार्थ कर जैन दर्शन की विजय दुन्दुभी बजायी। उनकी तर्कपूर्ण प्रतिभा को देखते हुए उन्हें अकलङ्क ब्रह्म कहा जाने लगा। तत्त्वार्थवार्तिक के कतिपय स्थल हम उदाहरण रूप में प्रस्तुत करते हैं। जिससे उनकी बौद्धविद्या में गहरी पैठ की जानकारी प्राप्त होती है।

प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र की व्याख्या मे कहा गया है कि यद्यपि बौद्ध रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान इन पाँच स्कन्धों के निरोध से आत्मा के अभाव रूप मोक्ष के अन्यथा लक्षण की कल्पना करते हैं[1]। तथापि कर्म-बन्धन के विनाश रूप मोक्ष के सामान्य लक्षण मे किसी भी वादी का विवाद नहीं है। बौद्ध कहते हैं कि अविद्या प्रत्यय संस्कार के अभाव से मोक्ष होता है[1]। जैनों का कहना है कि संस्कारों का क्षय ज्ञान से होता है कि किसी कारण से? यदि ज्ञान से संस्कारों का क्षय होगा तो ज्ञान होते ही संस्कारों का क्षय भी हो जायगा और शीघ्र मुक्ति हो जाने से प्रवचनोपदेश का अभाव होगा। यदि सस्कार क्षय के लिए अन्य कारण अपेक्षित है तो चारित्र के सिवाय दूसरा कौन सा कारण है? यदि संस्कारों का क्षय चारित्र से होता है तो ज्ञान से मोक्ष होता है, इस प्रतिज्ञा की हानि होगी[1]।

पाँचवें अध्याय के नौवें सूत्र की व्याख्या में कहा गया

है कि बौद्ध लोकधातुओं को अनन्त मानते हैं[८]। अतः आकाश के प्रदेशों को जैनों द्वारा अनन्त माने जाने मे कोई विरोध नहीं है।

पाँचवें अध्याय के सत्रहवें सूत्र की व्याख्या मे कहा गया है कि कोई बौद्ध मानते है कि रूपण, अनुभवनिमित्त ग्रहण, संस्कृताभिसंस्करण, आलम्बन और प्रज्ञप्तिस्वभाव लक्षण रूप—वेदना, संज्ञा, सस्कार और विज्ञान ये पाँच स्कन्ध हैं। उन भिन्न लक्षण वाले स्कन्धों में यदि एक स्कन्ध के ही सर्व धर्मों की कल्पना करते है। यदि विज्ञान के नही होने पर भी अनुभव आदि नहीं होते है, विज्ञान के ही अनुभव आदि होते हैं। अतः एक विज्ञान को ही मानना चाहिए। उसी से ही रूपादि स्कन्धों का रूपण, अनुभवन, शब्द प्रयोग और सस्कारादि कार्य हो जायेंगे तो शेष स्कन्धों की निवृत्ति हो जाने पर निरालम्बन विज्ञान की भी स्थिति नहीं रह सकती अर्थात् विज्ञान की भी निवृत्ति हो जाने से सर्वशून्यता ही हाथ रह जायगी, परन्तु बौद्धों को पाँच स्कन्धों का अभाव इष्ट नहीं है[९]।

सभी वादी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष पदार्थ को स्वीकार करते हैं। इसके समर्थन मे कहा गया है कि कोई (बौद्ध) कहते हैं कि प्रत्येक रूप परमाणु अतीन्द्रिय है। उनका समुदाय, जो कि अनेक परमाणु वाला है, वह इन्द्रियग्राह्य है। चित्त और चैतसिक विकल्प अतीन्द्रिय[१०] है।

अमूर्त धर्म, अधर्म भी उपकारक होते हैं। इसके उदाहरण मे बौद्धों का यह सिद्धान्त उपस्थित किया गया है कि अमूर्त भी विज्ञान रूप की उत्पत्ति का कारण होता है। नाम रूप विज्ञान निमित्तक है[११]।

पाँचवें अध्याय के अठारहवें सूत्र की व्याख्या मे कहा गया है कि यदि कोई (बौद्ध) ऐसा कहे कि आकाश नाम की कोई वस्तु नही है, केवल आवरण का अभावमात्र है तो ऐसा कहना ठीक नही है। आकाश आवरण का अभाव मात्र नहीं है, अपितु वस्तुभूत है; क्योंकि नाम के समान उसकी सिद्धि है। जैसे नाम और वेदना आदि अमूर्त होने से अनावरण रूप होकर भी सत् हैं, ऐसा जाना जाता है, उसी प्रकार अमूर्त होने से अनावरण रूप होकर भी आकाश वस्तुभूत है, ऐसा जाना जाता है[१२]।

५वें अध्याय के १९वें सूत्र की व्याख्या में यह सिद्ध किया गया है कि विज्ञान मे सामर्थ्य का अभाव होने से मन विज्ञान नही है। क्षणिक वर्तमान विज्ञान पूर्व और उत्तर विज्ञानों से जब कोई सम्बन्ध नही रखता, तब गुण-दोष विचार और स्मरणादि व्यापार में कैसे सहायक बन सकता है[१३]।

पाँचवें अध्याय के २२वें सूत्र की व्याख्या मे कहा गया है कि क्षणिक एकान्तवाद मे प्रतीत्यवाद को स्वीकार करने से उसकी प्रक्रिया में जितना कारण होगा, उतना कार्य होगा, अतः उनके भी वृद्धि नही होगी। किं च सर्व के क्षणिक होने से अकुर का और उसके अभिमत कारण भौमरस, उदकरस आदि का विनाश होगा या पौर्वापर्य (क्रम) से। यदि कार्य और कारणों का युगपत् नाश होता है तो उनके द्वारा वृद्धि क्या होगी? क्योंकि वृद्धि के कारण जब स्वयं नष्ट हो रहे है, तब वे अन्य विनश्यमान पदार्थ की क्या वृद्धि करेंगे? अर्थात् विनश्यमान पदार्थ अन्य विनश्यमान पदार्थ की वृद्धि करते हुए लोक मे नही देखे जाते। यदि कार्य-कारण क्रमशः नष्ट होते है, तब भी नष्ट अकुर का भौमरस, उदकरस आदि क्या कर सकते है? अथवा विनष्ट रसादि. अकुर का क्या कर सकेंगे? अनेकान्तवाद में तो अकुर या भौमरसादि सभी पदार्थ द्रव्यदृष्टि से नित्य है और पर्यायदृष्टि से क्षणिक है। अतः वृद्धि हो सकती है[१४]।

कारणतुल्य होने से कार्यतुल्य होना चाहिए, ऐसा कहने मे आगम विरोध आता है; क्योंकि बौद्ध अविद्यारूप तुल्य कारणों से पुण्य-अपुण्य और अनुभय संस्कारों की उत्पत्ति मानते है[१५]।

सल्लेखना पर बौद्धो द्वारा आपत्ति किये जाने पर कहा है कि सभी पदार्थ क्षणिक हैं, इस प्रकार कहने वाले क्षणिकवादी के स्वसमय विरोध है, उसी प्रकार जब सत्त्व (जीव) सत्त्व सज्ञा (जीव का ज्ञान), वधक (हिंसक) और वधचित्त (हिंसा) इन चार चेतनाओ के रहने पर हिंसा होती है, ऐसा कहने वाले (इस मतवादी) के जब आत्म-वधक चित्त ही नही है, तब सल्लेखना करने वाले के आत्मघात होता है। ऐसा कहने वाले के असचेतित कर्म-बन्ध का अभाव है और उसमे भी आत्मघात का दोष देने पर स्वसमय (स्ववचन) विरोध आता है[१६]।

सातवें अध्याय के ३९वें सूत्र की व्याख्या में दान के प्रसंग में कहा गया है कि प्रतिग्रह आदि क्रियाओं में आदर विशेष विधिविशेष है। सर्व पदार्थों को निरात्मक मानने पर विधि आदि रूप का अभाव हो जाता है। जिस दर्शन में निरात्मक (क्षणिक) है, उस दर्शन में विधि आदि की विशेषता नहीं हो सकती। यदि विधि आदि की विशेषता है तो सर्वभाव निरात्मक हैं। इस सिद्धान्त के व्याघात का प्रसङ्ग आता है। क्षण मात्र आलम्बन रूप विज्ञान में इस बात की सिद्धि नहीं होती। जब ज्ञान सर्वथा क्षणिक है, तब तप, स्वाध्याय और ध्यान में परायण यह ऋषि मेरा उपकार करेगा। इसके लिए दिया गया दान, व्रत, शील, भावना आदि की वृद्धि करेगा, इसकी यह विधि है। इस प्रकार का अनुसन्धान-प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकता; क्योंकि पूर्वोत्तर क्षण विषयक ज्ञान, संस्कार आदि के ग्राहक एक ज्ञान का अभाव है। अतः इस पक्ष में दानविधि नहीं बन सकती[१७]।

प्रथम अध्याय के छठे सूत्र की व्याख्या में अनेकान्तवाद का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि विज्ञानाद्वैतवादियों के सिद्धान्त मे बाह्य परमाणु एक नही है, किन्तु तदाकार परिणत विज्ञान ही परमाणु संज्ञा को प्राप्त होता है। ये ग्राह्याकार, ग्राहकाकार और संवेदनाकार इन तीन शक्तियो का अधिकरण एक विज्ञान को स्वीकार करते हैं। इसलिए अनेक धर्मात्मक एक वस्तु में विरोध नही है[१८]।

अन्यत्र कहा गया है कि जिसके सिद्धान्त से आत्मा ज्ञानात्मक ही रहता है—उसके सिद्धान्त में आत्मा के ज्ञानरूप परिणमन का अभाव होगा; क्योंकि ज्ञानरूप से वह स्वयं परिणत है ही, परन्तु जैन सिद्धान्त मे किसी पर्याय की अपेक्षा अन्य रूप से ही आत्मा का परिणमन माना जाय वा इतर रूप से ही परिणमन माना जाय तो फिर उस पर्याय का कभी विराम नही हो सकेगा। यदि विराम होगा तो आत्मा का भी अभाव हो जायगा[१९]।

अद्वैतवाद समीक्षा—जो (अद्वैतवादी) द्रव्य को तो मानते हैं, किन्तु रूपादि को नहीं मानते। उनका यह कहना विपरीत्त है। यदि द्रव्य ही हो, रूपादि नही हो तो द्रव्य का परिचायक लक्षण न रहने से लक्ष्यभूत द्रव्य का ही अभाव हो जायगा। इन्द्रियों के द्वारा सन्निकृष्यमाण द्रव्य का रूपादि के अभाव में सर्व आत्मा (अखण्ड रूप से) ग्रहण का प्रसङ्ग आएगा; और पाँच इन्द्रियों के अभाव का प्रसङ्ग आएगा; क्योंकि द्रव्य तो किसी एक भी इन्द्रिय से पूर्ण रूप से गृहीत हो ही जायगा। परन्तु ऐसा मानना न तो इष्ट ही है और न प्रमाण प्रसिद्ध ही है अथवा जिनका सिद्धान्त है कि रूपादि गुण ही हैं, द्रव्य नहीं है। उनके मत में निराधार होने से रूपादि गुणों का भी अभाव हो जायगा[२०]।

उपर्युक्त वादों की समीक्षा के साथ जैन दार्शनिक मान्यताओं का समर्थन अकलङ्कदेव ने प्रवल युक्तियों द्वारा किया है। इस दृष्टि से प्रथम अध्याय के छठे सूत्र की व्याख्या में सप्तभङ्गी का निरूपण, ९वें से १३वें सूत्र तक ज्ञानविषयक विविध विषयो की आलोचना, अन्तिम सूत्र की व्याख्या में ऋजुसूत्र का विषयनिरूपण, द्वितीय अध्याय के ८वें सूत्र की व्याख्या में आत्मनिषेधक अनुमानों का निराकरण, चतुर्थ अध्याय के अन्त मे अनेकान्तवाद के स्थापनपूर्वक नयसप्तभङ्गी और प्रमाणसप्तभंगी का विवेचन, पाँचवें अध्याय के २४वें सूत्र की व्याख्या मे स्फोटवाद का निराकरण, २२वें सूत्र की व्याख्या में अपरिणामवादियों द्वारा परिणामित्व पर आए दोषों का निराकरण, व्यासभाष्य के परिणाम के लक्षण की आलोचना तथा क्रिया को ही काल मानने वालों का खण्डन दर्शनशास्त्र के महत्त्वपूर्ण विषय हैं[२१]।

आगमिक वैशिष्ट्य

तत्त्वार्थसूत्र में आगमिक मान्यताओ को निबद्ध किया गया है। टीकाकारो ने इन सूत्रों की व्याख्या युक्ति और शास्त्र के आधार पर की है। अकलङ्कदेव का तत्त्वार्थवार्तिक भी इसका अपवाद नहीं है। प्रथम अध्याय के ७वें सूत्र की व्याख्या मे निर्देश, स्वामित्व आदि की योजना की गई है। प्रथम अध्याय के २०वें सूत्र की व्याख्या में द्वादशांग के विषयों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। आगम में ३६३ मिथ्यामत बतलाए गए हैं। तत्त्वार्थवार्तिक मे ८वें अध्याय के प्रथम सूत्र की व्याख्या में ३६३ मतों का प्रतिपादन इस प्रकार है—

परोपदेश से होने वाला मिथ्यादर्शन क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानी और वैनयिक मत के भेद से चार प्रकार का है। कौक्कल, काण्ठेविद्धि, कौशिक, हरि, श्मश्रुवान्, कपिल, रमेश, हारित, अश्वमुण्ड, आश्वलायन आदि के विकल्प से क्रियावादी मिथ्यादृष्टियों के चौरासी भेद हैं। मरीचि, कुमार, उलूक, कपिल, गार्ग्य, व्याघ्रभूति, वाट्ठलि, माठर, मौद्गल्यायन आदि दर्शनों के भेद से अक्रियावादियों के १८० भेद हैं। साकल्य, वाष्कल, कुथुमि, सात्यमुग्नि, चारायण, काठ, माध्यन्दिनी, मोद, पैप्पलाद, बादरायण, स्विष्टिकृत, ऐतिकायन, वसु, जैमिनि आदि मतों के भेद से अज्ञानवाद मिथ्यात्व के सडसठ भेद हैं। वशिष्ठ, जतुकर्ण, वाल्मीकि, रोमहर्षिण, सत्यदत्त, व्यास, ऐलपुत्र, उपमन्यव, इन्द्रदत्त, अयस्थूलादि मार्ग के भेद से वैनयिक मिथ्यात्व के बत्तीस भेद हैं। इस प्रकार ३६३ मिथ्या मतवाद है[१२]।

यही कहा गया है कि आगम प्रमाण से प्राणिवध को धर्म का हेतु सिद्ध करना उचित नही है; क्योंकि प्राणिवध का कथन करने वाले ग्रन्थ के आगमत्व की असिद्धि है[१३]। १-२१-२२ की व्याख्या मे अवधिज्ञान का विषय, २-७ की व्याख्या मे सन्निपातिक भावो की चर्चा, २-४९ की व्याख्या में शरीरों का तुलनात्मक विवेचन, तीसरे अध्याय की व्याख्या मे अधोलोक और मध्यलोक का विस्तृत वर्णन, ४-१९ की व्याख्या मे स्वर्गलोक का विवेचन, पाँचवें अध्याय की व्याख्या में जैनो के षट्द्रव्यवाद का निरूपण, छठे अध्याय में आस्रव, सातवे में जैनाचार, आठवें मे कर्मसिद्धान्त, नवे मे मुनि आचार तथा ध्यान तथा दसव मे मोक्ष का विवेचन अवलोकनीय है[१४]।

व्याकरणिक वैशिष्ट्य

अकलङ्कदेव व्याकरण शास्त्र के महान् विद्वान् थे। पाणिनीय व्याकरण तथा जैनेन्द्र व्याकरण का उन्होंने भली भाँति पारायण किया था। व्युत्पत्ति और कोश ग्रन्थों का उनका अच्छा अध्ययन था। तत्त्वार्थवार्तिक में स्थान-स्थान पर सूत्रो एवं उसमे आगत शब्दो का जब वे व्याकरण की दृष्टि से औचित्य सिद्ध करते है, तब ऐसा लगता है, जैसे वे शब्दशास्त्र लिख रहे हो। इस प्रकार के सैकड़ों स्थल प्रमाण रूप मे उद्धृत किए जा सकते हैं। जैसे—

ज्ञानवान् में मतुप् प्रत्यय प्रशंसा अर्थ में है; क्योंकि ज्ञानरहित कोई आत्मा नही है। जैसे कहा जाता है कि यह रूपवान् है। रूप में मतुप् प्रत्यय प्रशंसा अर्थ में है; क्योंकि रूपरहित कोई पुद्गल नही है[१५]।

विभक्त कर्त्ता और अविभक्त कर्त्ता के भेद से करण दो प्रकार के हैं। जिसमे करण और कर्त्ता पृथक्-पृथक् होते हैं, उसे विभक्त कर्तृक (करण) कहते है। जैसे—

"देवदत्त परशु से वृक्ष को काटता है", इसमे परशु (कुल्हाडी) रूप करण देवदत्त रूप कर्त्ता से भिन्न है। जिसमें कर्त्ता से अभिन्न करण होता है, उसको अविभक्त कर्तृक (करण) कहते हैं। जैसे उष्णता से अग्नि ईंधन को जलाती है इसमे उष्णता रूप करण अग्नि रूप कर्त्ता से अभिन्न है। इसी प्रकार आत्मा ज्ञान के द्वारा पदार्थों को जानता है—यह अविभक्तकर्तृक करण है; क्योंकि उष्णता की अग्नि से और ज्ञान की आत्मा से पृथक् सत्ता ही नहीं है अथवा कुशूल के स्वातन्त्र्य के समान दृष्टान्त से जाना जाता है। जैसे देवदत्त कुशूल को तोड रहा है—इसमे कुशूल की भेदन क्रिया मे जब स्वतन्त्रता की विवक्षा की जाती है, तब कुशूल स्वय ही नष्ट हो रहा है; क्योंकि भेदन क्रिया तो कुशूल मे हो रही है, तब कुशूल स्वयं ही कर्त्ता और स्वयं ही करण बन जाता है। उसी प्रकार आत्मा ही ज्ञाता और ज्ञान होकर कर्त्ता एव करण रूप बन जाता है। अर्थात् आत्मा ज्ञान के द्वारा जानता है, इसमे अभिन्न कर्त्ता-करण है[१६]

आत्मा और ज्ञान में कर्त्तापना मान लेने पर लक्षण का अभाव होगा—ऐसा कहना उचित नहीं है—बाहुलकता होने से।

प्रश्न—कर्त्ता और कर्म मे एकता मानने पर लक्षण का अभाव होगा; क्योंकि 'युट्' प्रत्यय होता है।

उत्तर—ऐसा कहना योग्य नही है; क्योंकि व्याकरण शास्त्र में कहे गये 'युट्' और 'णिच्' प्रत्यय कर्त्ता आदि सभी साधनो से पाये जाते हैं। भाव कर्म में कहे गये 'त्य' प्रत्यय करणादि मे देखे जाते हैं। जिससे स्नान करता है—स्नानीय चूर्ण, जिसके लिए देता है—वह दानीय अतिथि, समावर्तन किया जाता है, वह समावर्तनीय गुरु कहलाता

है। इसी प्रकार करणाधिकरण और कर्मादि में युट् प्रत्यय देखा जाता है। जैसे—खाता है, वह निरदन, प्रस्कन्दन जिससे होता है वह प्रस्कन्दन इसी प्रकार सातों ही विभक्ति से होने वाले शब्दों में युट् प्रत्यय होता है[१७]।

एक ही अर्थ मे शब्दभेद होने से व्यक्तिभेद देखा जाता है। जैसे कि 'गेहं कुटी मठः' यहाँ एक ही घर रूप अर्थ में विभिन्न लिंग वाले शब्दों का प्रयोग है। 'पुष्यः, तारका, नक्षत्रम्', यहाँ एक ही तारा रूप अर्थ मे विभिन्न लिंगक और विभिन्न वचन वाले शब्दों का प्रयोग है। इसी प्रकार ज्ञान शब्द विभिन्न लिंग वाला होते हुए भी आत्मा का वाचक है[१८]।

'दर्शन ज्ञान चारित्राणि' में तीनो की प्रधानता होने से बहुवचन का प्रयोग किया गया है। जैसे—'प्लक्षन्न-ग्रोधपलाशाः' इसमे अस्ति आदि समान काल क्रिया वाले प्लक्षादि के परस्पर अपेक्षा होने से और सर्व पदार्थ प्रधान होने से इतरेतर योग मे द्वन्द्व समास और बहुवचन का प्रयोग है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र मे अस्ति आदि समान क्रिया, काल और परस्पर सापेक्ष होने से इतरेतर द्वन्द्व और सर्वपदार्थ प्रधान होने से बहुवचनान्त का प्रयोग किया गया है[१९]।

'भुजि' के समान सम्यक् विशेषण की परिसमाप्ति प्रत्येक के साथ लगाना चाहिए अर्थात् द्वन्द्व समास के साथ कोई भी विशेषण चाहे वह आदि मे प्रयुक्त हो या अन्त मे, सबके साथ जुड़ जाता है। जैसे—गुरुदत्त, देव-दत्त, जिनदत्त को भोजन कराओ, इसमे भोजन क्रिया का तीनों मे अन्वय हो जाता है। वैसे ही प्रशंसावचन सम्यक् शब्द का अन्वय दर्शनादि तीनो के साथ होता है—सम्यग्-दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र[२०]।

उपर्युक्त उदाहरण प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र के हैं। पूरे तत्त्वार्थवार्तिक मे इस प्रकार की सैकड़ो चर्चायें हैं। विशेष अध्ययन करने वालों को इन्हें ग्रन्थ से देखना चाहिए। इससे अकलङ्कदेव का व्याकरण के सभी अङ्गों का तलस्पर्शी ज्ञान सूचित होता है।

शब्दों के अनेक अर्थ

शब्दों के अनेक अर्थ होते हैं, इसके उदाहरण तत्त्वार्थ-वार्तिक में अनेक मिल जायेंगे। जैसे—प्रथम अध्याय के आठवें सूत्र की व्याख्या में अन्तर शब्द के अनेक अर्थ दिये गये हैं। अन्तर शब्द छेद, मध्य, विरह आदि अनेक अर्थों में हैं। उनमे से अन्यतम ग्रहण करना चाहिए। अन्तर शब्द के अनेक अर्थ हैं। यथा—सान्तरं, काष्ठं में अन्तर छिद्र अर्थ में है अर्थात् छिद्र सहित काष्ठ है। 'द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभते' यहाँ अन्तर शब्द अन्य अर्थ में है अर्थात् द्रव्यान्तर का का अर्थ अन्य द्रव्य है। 'हिमवत्सागरान्तरे' इसमे अन्तर शब्द का अर्थ मध्य है अर्थात् हिमवान पर्वत और सागर के मध्य में भरत क्षेत्र है। क्वचित् समीप अर्थ मे अन्तर शब्द आता है। जैसे—स्फटिक शुक्लरक्ताद्यन्तर-स्थस्य तद्वर्णता, श्वेत और लाल रंग के समीप रखा हुआ स्फटिक। यहाँ अन्तर का अर्थ समीप है। कही पर विशेषता अर्थ मे भी अन्तर शब्द का प्रयोग आता है। जैसे—'घोड़ा, हाथी और लोहे में, 'लकड़ी, पत्थर और कपड़े मे', स्त्री-पुरुष और जल में अन्तर ही नही महान् अन्तर है। यहा अन्तर शब्द वैशिष्ट्यवाचक है। कही पर बहिर्योग में अन्तर शब्द प्रयुक्त होता है। जैसे—'ग्राम-स्यान्तरे कूपाः' मे बाह्यार्थक अन्तर शब्द है अर्थात् गाँव के बाहर कुयें हैं। कहीं उपसंख्यान अर्थात् अन्तर्वस्त्र के अर्थ में अन्तर शब्द का प्रयोग होता है, यथा 'अन्तरे शारकाः'। कही विरह अर्थ मे अन्तर शब्द का प्रयोग होता है। जैसे—'अनभिप्रेत श्रोतृ जनान्तरे मन्त्रयते' अर्थात् अनिष्ट व्यक्तियों के विरह में मन्त्रणा करता है। इस प्रकरण मे छिद्र, मध्य और विरह में से कोई एक अर्थ लेना।

अनुपहत वीर्य का अभाव होने पर पुनः उसकी उद्-भूति होना अन्तर है। किसी समर्थ द्रव्य की किसी निमित्त से अमुक पर्याय का अभाव होने पर निमित्तान्तर से जब तक वह पर्याय पुनः प्रकट नही होती, तब तक के काल को अन्तर कहते हैं[२१]।

अन्त शब्द के अनेक अर्थ होने पर भी 'वनस्पत्यन्ता-नामेकम्' में विवक्षा वश समाप्ति अर्थ ग्रहण करना चाहिए। यह अन्त शब्द अनेकार्थवाची है। कहीं अन्त शब्द अवयव अर्थ में आता है। जैसे—वस्त्र का अन्त अर्थात् वस्त्र का एक अंश। कही सामीप्य अर्थ मे आता है। 'उदकान्तं गतः' पानी के समीप गया। कही अवसान

में आता है। जैसे—'संसारान्तं गतः' ससार का अन्त हो गया[22]।

अक्ष शब्द भोजन, सेवन तथा खेलने के अर्थ में आता है[23]।

प्रत्यय शब्द के अनेक अर्थ होने पर भी 'लब्धिप्रत्ययं च' सूत्र में हेतु अर्थ में लेना चाहिए। क्वचित् ज्ञान अर्थ मे प्रत्यय शब्द आता है। जैसे—'अर्थाभिधान प्रत्यया—अर्थ का ज्ञान। कहीं सत्यता में आता है। जैसे—'प्रत्ययं कुरु' इसमें सत्य करो, यह अर्थ होता है। क्वचित् कारण अर्थ मे प्रत्यय शब्द आता है—'मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये प्रत्यय हैं अर्थात् कर्मादान में कारण हैं। इस सूत्र मे प्रत्यय शब्द कारण का पर्यायवाची जानना चाहिए[24]।

—बिजनौर (उ० प्र०)

सन्दर्भ-सूची

१. तत्त्वार्थवार्तिक १।२।२४.
२. वही ८।१।१३.
३. वही ८।१।१२-१४.
४. वही ८।१।१५-२७.
५. अन्ये अन्यथालक्षणं मोक्षं परिकल्पयन्ति—रूपवेदना संज्ञा सस्कार विज्ञान पञ्चस्कन्धनिरोधादभावो मोक्षः इति। त० वार्तिक।
६. अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः इत्यादिवचनं केषाञ्चित्। वही १।१।४६.
७. तत्त्वार्थवार्तिक १।१।५२.
८. केचित्तावदाहुः 'अनन्ता लोकधातवः' वही ५।६।४.
९. वही ५।१७।२३.
१०. वही ५।१७।३४।
११. वही ५।१७।४१.
१२. वही ५।१८।११.
१३. वही ५।१९।३२.
१४. वही ५।२२।१५.
१५. वही ६।१०।११.
१६. वही ७।२२।१०.
१७. वही ७।३६।७-८.
१८. वही १।६।१४.
१९ वही २।८।१२.
२०. वही १।३२।३.
२१. न्याय कुमुदचन्द्र : प्रस्तावना पृ० ४४.
२२. तत्त्वार्थ वा. ८।१।८-१२.
२३. वही ८।१।१३.
२४. न्यायकुमुदचन्द्र : प्रस्तावना पृ. ४४.
२५. तत्त्वार्थवार्तिक १।१।३.
२६. वही १।१।२१-२२.
२७. वही १।१।२५.
२८. वही १।१।२७.
२९. वही १।१।३४.
३०. वही १।१।३५.
३१. वही १।८।७-८.
३२. वही १।२२।१.
३३. वही २।२३।४.
३४. वही २।४७।१.

गतांक से आगे :

संस्कृत जैन-चम्पू और चम्पूकार

☐ डॉ० कपूरचन्द जैन

सूक्त्ये तेषां भवभीरवों ये, गृहाश्रमस्याश्चरितात्मधर्माः ।
त एव शेषाश्रमिणां सहाय्या, धन्याः स्युराशाधरसूरिमुख्याः ।।

उक्त पद्य के आधार पर डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने लिखा है कि 'इस पद्य में' प्रकारान्तर से आशाधर की प्रशंसा की गई है और बताया गया है कि गृहस्थाश्रम मे रहते हुए भी वे जैन धर्म का पालन करते थे तथा अन्य आश्रमवासियों की सहायता भी किया करते थे। इस पद्य में आशाधर की जिस परोपकार वृत्ति का निर्देश किया गया है, उसका अनुभव कवि ने सम्भवतः प्रत्यक्ष किया है और प्रत्यक्ष में कहे जाने वाले सद्वचन भी सूक्ति कहलाते हैं, अतएव बहुत सम्भव है कि अर्हद्दास आशाधर के समकालीन हों[1]। कैलाश चन्द्र शास्त्री ने भी उक्त आधार पर अर्हद्दास का आशाधर के लघु-समकालीन होने का अनुमान किया है[2]। किन्तु इस सन्दर्भ मे प० नाथूराम प्रेमी और प० हरनाथ द्विवेदी के मतों को दृष्टि ओझल नहीं किया जा सकता। प्रेमी जी ने लिखा है कि 'इन पद्यो मे स्पष्ट ही उनकी सूक्तियों या उनके सद्ग्रन्थो का ही संकेत है, जिनके द्वारा अर्हद्दास जी को सन्मार्ग की प्राप्ति हुई थी। गुरू शिष्यत्व का नहीं[3]। इसी प्रकार माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित 'पुरुदेव चम्पू' के सम्पादक पं० जिनदास शास्त्री फडकुले के मत पर कटाक्ष करते हुए प० हरनाथ द्विवेदी ने लिखा है—"पुरुदेव चम्पू" के विज्ञ सम्पादक फडकुले महोदय ने अपनी पाण्डित्यपूर्ण भूमिका मे लिखा है कि उल्लिखित प्रशस्तियो से कविवर अर्हद्दास पण्डिताचार्य आशाधरजी के समकालीन निर्विवाद सिद्ध होते है। किन्तु कम से कम मै आपकी इस समय निर्णायिक सरणी से सहमत हो, आपकी निर्विवादिता स्वीकार करने मे असमर्थ हूं। क्योंकि प्रशस्तियों से यह नहीं सिद्ध होता कि आशाधर जी की साक्षात्कृति अर्हद्दास जी को थी कि नही। सूक्ति और उक्ति की अधिकता से यह अनुमान करना कि साक्षात् आशाधर सूरि से अर्हद्दास जी ने उपदेश ग्रहण कर उन्हें गुरू मान रखा था, यह प्रामाणिक प्रतीत नहीं होता। क्योंकि सूक्ति और उक्ति का अर्थ रचना-बद्ध ग्रन्थ-सन्दर्भ का भी हो सकता है[4]।

हमारे अनुमान से यह उचित प्रतीत होता है कि आशाधर के अन्तिम समय अर्थात् वि० स० १३०० में अर्हद्दास आशाधर जी के पास पहुंचे होंगे और एक-दो वर्ष साक्षात् शिष्यत्व प्राप्त कर उनके धर्मामृत से प्रभावित होकर काव्य रचना में प्रवृत्त हुए होंगे।

अर्हद्दास के काल निर्धारण में भी आशाधर और अजितसेन (अलकार चिन्तामणि के कर्ता अजितसेन) महत्वपूर्ण मानदण्ड है। अर्हद्दास ने अपनी कृतियों मे आशाधर का नामोल्लेख जिस सम्मान और श्रद्धा से किया है उससे तो इस अनुमान के लिए पर्याप्त आधार मिलता है कि वे आशाधर के साक्षात् शिष्य रहे होंगे। किन्तु आशाधर ने अपने ग्रन्थों में जिन आचार्यों और कवियो का उल्लेख किया है, उनमे अर्हद्दास का उल्लेख नही है। यहाँ तक कि उनकी अन्तिम रचना 'अनगार धर्मामृत की टीका' मे अर्हद्दास या उनके किसी ग्रन्थ का कोई उल्लेख नहीं है[5]।

इससे इतना तो निर्विवाद सिद्ध है कि वे आशाधर के पश्चात्वर्ती हैं। साथ ही आचार्य अजितसेन ने अपनी 'अलकार चिन्तामणि' मे जिनसेन, हरिचन्द्र, वाग्भट आदि के साथ ही अर्हद्दास के 'मुनिसुव्रत काव्य' के अनेक श्लोक उदाहरण स्वरूप दिये हैं। मुनिसुव्रत काव्य के प्रथम सर्ग का दूसरा श्लोक अलकार चिन्तामणि (भारतीय ज्ञानपीठ सस्करण) के पृष्ठ १२३, १५३ तथा २६६ पर उदाहरण स्वरूप दिया गया है। इसी प्रकार १/३४, २/३१, २/३२ तथा २/३३ श्लोक अलकार चिन्तामणि के क्रमशः पृष्ठ २०५, २२८ तथा २११ पर दिये गये हैं।

इससे यह स्पष्ट है कि अर्हद्दास आचार्य अजितसेन से पूर्ववर्ती हैं[6]।

सौभाग्य से आशाधर के काल निर्धारणार्थ अधिक नहीं भटकना होगा, उन्होने अपनी अन्तिम रचना 'अनगार धर्मामृत की टीका' वि० सं० १३०० मे पूर्ण की थी[६]। अत: उनका रचना काल ई० की १३वीं शती का पूर्वार्द्ध निश्चित है। अजितसेन का रचना काल डा० नेमिचन्द्र शास्त्री[७] ने वि० स० १३०७-१३१७ तथा डा० ज्योतिप्रसाद जैन[८] ने १२४०-१२७० ई० (१२९९-१३२७ वि० स०) माना है।

आशाधर और अजितसेन के मध्यवर्ती होने के कारण अर्हद्दास का समय १३वी शताब्दी ई० का मध्यभाग मानना समीचीन होगा।

पुरुदेव चम्पू के १० स्तबको में तीर्थंकर ऋषभनाथ और उनके पूर्व भवों का चित्रण है। प्रारम्भ के तीन स्तबकों मे उनके १० पूर्वभवों का चित्रण है। अन्तिम कुलकर नाभिराय का ऋषभदेव पुत्र हुआ। (चतुर्थ स्तबक) देवताओं ने जन्मकल्याणक मनाया (पचम स्तबक) यशस्वती और सुनन्दा से उनका विवाह हुआ तथा १०१ पुत्र व २ पुत्रियाँ दोनो रानियों से हुईं। (षष्ठ स्तबक) पुत्रो को यथायोग्य उपदेश देकर उन्होने दीक्षा ले ली, (सप्तम स्तबक) १ वर्ष की कठोर साधना के बाद हस्तिनापुर में राजा श्रेयांश ने उन्हें सर्वप्रथम इक्षुरस का आहार दिया। (अष्टम स्तबक) पुत्र भरत ने दिग्विजय यात्रा की। (नवम स्तबक) भरत बाहुबलि का युद्ध हुआ तथा बाहुबलि, भगवान, भरतादि ने मोक्षपद पाया। अन्तिम मगल के साथ काव्य समाप्ति (दशम स्तबक)।

दयोदय चम्पू[९] :—

दयोदय चम्पू के रचयिता मुनि श्री ज्ञानसागर महाराज का गृहस्थावस्था का नाम भूरामल था। पिता का नाम चतुर्भुज और माता का नाम धृतवरी देवी था[१०]। जन्म जयपुर के समीप राणोली (वर्तमान सीकर जिला) ग्राम में छावडा गोत्रीय खण्डेलवाल जैन परिवार मे हुआ था। ये पाँच भाई थे। पिता चतुर्भुज की मृत्यु के समय वि० सं० १९५९ में भूरामल की आयु १० वर्ष की थी। अत: इनका जन्म समय १९४८ वि० सं० है ऐसा सटीक 'जयोदय[११] 'दयोदय'[१२] 'वीरोदय'[१३] आदि ग्रन्थों से पता चलता है। किन्तु मूल 'जयोदय' जो ब्रह्मचारी सूरजमल जैन (वीरसागर महाराज संघस्थ) ने वीर नि०सं० २४७६ में प्रकाशित किया है, के प्राक्कथन में तत्कालीन जैन गजट के सम्पादक प० इन्द्रलाल जैन ने पिता की मृत्यु के समय उनकी आयु ७ वर्ष बताती है[१४] जो भ्रान्त है। यत: लेखक स्वय मुनि ज्ञानसागर ग्रन्थमाला ब्यावर के प्रकाशक पं० प्रकाशचन्द जैन से मिला और उन्होंने १० वर्ष की अवस्था ही ठीक बताई।

पिता की मृत्यु के बाद इन्हें जीविकोपार्जनार्थ बाहर जाना पड़ा। वे बड़े भाव के साथ गया जाकर काम सीखने लगे, यहीं बनारस के कुछ छात्रों से परिचय हो जाने से आप स्याद्वाद महाविद्यालय में आ गये और बिना परीक्षा के ही सभी महत्वपूर्ण ग्रन्थों को पढ़ डाला, वे शाम को गमछे बेचकर विद्यालय में अपना भोजन खर्च जमा कराते थे[१५]।

अध्ययनोपरांत गाँव में दुकानदारी करते हुए जैन पाठशाला में नि.शुल्क पढ़ाया तथा आजीवन ब्रह्मचारी रहे। वि० सं० २००४ में मुनिदीक्षा ग्रहण की। २०२९ मे नसीराबाद (राजस्थान) मे समाधिमरण पूर्वक स्वर्गवास हुआ। नसीराबाद में आपकी स्मृति में एक स्मारक बनाया गया है।

मुनि श्री विलक्षण प्रतिभा के धनी थे उन्होंने हिन्दी और संस्कृत में लगभग २१ ग्रन्थों का प्रणयन किया। सस्कृत रचनाओ मे ३ महाकाव्य, १ खण्डकाव्य, १ चम्पू, १ शतक तथा १ छायानुवाद है।

महाकाव्य	जयोदय	जयकुमार सुलोचना की कथा
"	वीरोदय	भगवान महावीर की कथा
"	सुदर्शनोदय	सेठ सुदर्शन की शील कथा
खण्ड काव्य	भद्रोदय[१६]	सत्य का प्रभाव दिखाने वाली सत्यघोष की कथा।
चम्पूकाव्य	दयोदय	मृगसेन धीवर की कथा
शतक	मुनि मनोरजन शतक	मुनियों के कर्तव्य
छायानुवाद	प्रवचनसार (प्रतिरूपक)	कुन्दकुन्द के उक्त ग्रन्थ का श्लोक बद्ध अनुवाद।

दयोदय की कथावस्तु ७ लम्बों में बँटी है, धार्मिक काव्यों की तरह इसका उद्देश्य भी कथा के बहाने अहिंसा

का महत्व बताना है। कथा का मूल यद्यपि 'यशस्तिलक' तथा वृहत्कथाकोष में पाया जाता है पर उसमें पर्याप्त परिवर्तन और परिवर्धन है। अंगी रस शान्त है और नैषध की तरह प्रत्येक लम्ब के अन्त में लम्ब-प्रशस्ति दी गई है। विषय के आधार पर सर्गों के नाम भी दिये गये हैं।

महाराज श्री प्रखर पाण्डित्य के धनी थे। दयोदय में स्थान-स्थान पर वेद उपनिषदादि के दिये गये प्रमाणो से यह स्पष्ट है, सूक्तियों का तो यह भण्डार है। कुछ नवीन रागों की रचना भी महाराज श्री ने की है[१७]। पचतन्त्रादि की कथाएँ भी यहाँ देखी जा सकती है।

कथावस्तु इस प्रकार है। उज्जयिनी में गुणपाल सेठ रहता था, जिसकी पुत्री का नाम विषा था। दो मुनिराजों ने एक बालक (सोमदत्त) को कूड़े के ढेर के पास देखा, बड़े मुनि ने कहा कि यह विषा का पति होगा। तथा उसकी कथा इस प्रकार कही—यह पहले मृगसेन धीवर था, मुनि से पहली मछली न पकड़ने के व्रत से यहाँ के सेठ का पुत्र हुआ है मृगसेन की पत्नी विषा हुई है (प्रथम द्वितीय लम्ब) गुणपाल ने यह सुना तो उसे मारने का प्रयत्न करने लगा। पहले उसने चाण्डाल के द्वारा (तृतीय लम्ब) फिर पत्र भेजकर (चतुर्थ लम्ब) अनन्तर चण्डी के मन्दिर में मरवाने का प्रयत्न किया, पर सोमदत्त बचा रह गया, उल्टे उसका सगा पुत्र मारा गया और विषा का विवाह भी सेठ की अनुपस्थिति मे उसके पुत्र ने सोमदत्त से कर दिया (पंचम लम्ब)।

सेठ सेठानी ने विषमिश्रित लड्डुओं से उसे मारना चाहा पर बदले में वे दोनों मारे गये (षष्ठ लम्ब) रहस्य खुलने पर राजा ने भी अपनी पुत्री और आधा राज्य सोमदत्त को दिया। अन्त में सोमदत्त ने दीक्षा लेकर मोक्ष पद पाया। अन्तिम मंगल के साथ काव्य समाप्ति।

महावीर तीर्थंकर चम्पू[१८] :—

महावीर तीर्थङ्कर चम्पू के रचयिता श्री परमानन्द वैद्यरत्न (पाण्डेय) हैं। महावीर के २५००वें निर्वाणोत्सव पर पाण्डेय जी ने यह काव्य रचा है। श्री पाण्डेय का परिवार राजकुल से सम्बन्धित रहा। बदरिकाश्रम (गढ़वाल) के जैन मन्दिर में आने जाने के कारण वे जैन धर्म से प्रभावित हुए[१९]। वर्तमान में वे दिल्ली वासी हैं। श्री पाण्डेय मुनि विद्यानन्द जी के साथ बदरीनाथ की यात्रा में गये थे। लेखक ने आयुर्वेद सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ लिखे हैं[२०]। उनकी महत्वपूर्ण चम्पू रचना 'गणराज्य चम्पू' है, जो भारतीय गणतन्त्र की रजत जयन्ती के उपलक्ष्य में लिखा गया था।

उक्त चम्पू मे संस्कृत के साथ ही हिन्दी अनुवाद (गद्य-पद्यमय) दिया गया है। कथावस्तु को यद्यपि कवि ने बांटा नहीं है पर प्राक्कथन लेखक डा० कर्णसिंह के अनुसार इसके पूर्वार्ध में २४ तीर्थङ्करों और उत्तरार्ध में महावीर का चरित्र वर्णित है।

ग्रन्थारम्भ में दिल्ली मे लाल किले पर २५००वें निर्वाणोत्सव पर हुई दिगम्बरो और श्वेताम्बरों, स्थानकवासियों की गोष्ठी की चर्चायें हैं। आगे, दिल्लीस्थ लाल-किले की स्थापना, तीर्थङ्करों का तीर्थङ्करत्व एवं उनका संक्षिप्त परिचय दिया गया है। पुस्तक के १/३ भाग में मात्र कथा की उपस्थापना है। आगे १/३ भाग मे महावीर का चरित्र चित्रित है। शैली आधुनिक है तथा दिगम्बर और श्वेताम्बरों के मतभेदो का भी जगह-जगह उद्घाटित किया गया है। आधुनिक संस्कृत गीतिकाओ के लगभग ५ गीत दिये गये हैं तथा सुकरात, जरथुस्त, कन्फ्यूशियष आदि के समान महावीर को क्रान्तिवाहक बताया गया है।

आगे १/३ भाग में जैनधर्म, देशभूषण महाराज सुपार्श्वनाथ पंचक, मुनि विद्यानन्द, सुशीलकुमार, ब्र० कुमारी कौशल आदि का परिचय दिया गया है। अन्त में कहा गया है कि महावीर की शान्ति क्रान्ति के बिना देश का कल्याण नहीं हो सकता।

भाषा सरल-सरस और समास रहित है। अनुप्राश की छटा दर्शनीय है। साधारण पाठक भी इसे समझ सकता है। अध्ययन से पता चलता है कि लेखक ने श्वेताम्बर साहित्य का अध्ययन अधिक किया है। परम्परा भेद स्पष्ट कर दिया गया है, यह अच्छी बात है, अनेक चित्र भी है। रचना प्रशंसनीय एवं अनुकरणीय है।

वर्धमान चम्पू :—

वर्तमान में रचित जैन चम्पू काव्यों में वर्धमान चम्पू

महत्त्वपूर्ण चम्पू रचना है। यह कृति श्री महावीर जी से प्रकाशित है। इसके रचयिता स्व० श्री मूलचन्द्र शास्त्री का जन्म मालथोन (सागर म० प्र०) लगभग १६०५ ई० में हुआ था। पिता का नाम सटोले और माता का नाम सल्लो था। ऐसी उनकी दूसरी कृति 'वचनदूतम' से पता चलता है[१९]। आपने 'न्यायरत्न' नामक सूत्र ग्रन्थ 'लोकाशाह' महाकाव्य 'वचनदूतम' दूतकाव्य की रचना की है, अनेक स्तोत्रो की समस्या पूर्ति और तीन ग्रन्थो का हिन्दी अनुवाद किया है।

वर्धमान चम्पू में महावीर के पांचों कल्याणकों का चित्रण किया है। रचना सरल और सरस है।

भारत चम्पू :—

भारत चम्पू का उल्लेख श्री मुख्तार ने किया है। उन्होंने लिखा है 'जयनन्दी नाम के यों तो अनेक मुनि हो गये हैं, परन्तु आशाधर जी से जो पहले हुए हैं, ऐसे एक ही जयनन्दी मुनि का पता मुझे अभी तक चला है। जो कि कन्नडी भाषा के प्रधान कवि आदिपम्प से भी पहले हो गये है। क्योंकि आदि पम्प ने अपने 'आदिपुराण' और 'भारत चम्पू' में, जिसका रचनाकाल शक स० ८६३ (वि०स० ६६८) है, उनका स्मरण किया है[११]। स्पष्ट है कि इसके लेखक आदिपम्प हैं, इसकी भाषा कन्नड़ है।

पुण्याश्रव चम्पू :—

इसके रचयिता श्री नागराज हैं, जिन्होंने शक स० १२५३ में बक्त चम्पू रचा। श्री जुगलकिशोर मुख्तार को समन्तभद्र भारती का एक स्तोत्र दक्षिण भारत मे प्राप्त हुआ है जो श्री नागराज की रचना है। इस सन्दर्भ मे पादटिप्पण मे श्री मुख्तार ने लिखा है—'नागराज नाम के एक कवि शक स० १२५३ मे हो गये हैं, ऐसा 'कर्णाटक कवि चरित्र' से मालूम होता है। बहुत सम्भव है कि यह स्तोत्र उन्ही का बनाया हुआ हो वे 'उभयकविता विलास' उपाधि से भी युक्त थे। उन्होने उक्त संवत् मे अपना पुण्याश्रव चम्पू बनाकर समाप्त किया था[२१]। इसकी प्रति क्या है? और वर्ण्यविषय क्या है, इसका उल्लेख श्री मुख्तार ने नही किया है। सम्भव है, इसमें किसी पुण्य के महत्व वाली कथा वर्णित हो।

भरतेश्वराभ्युदय चम्पू :—

इसके रचयिता पं० आशाधर जी हैं जिनके सम्बन्ध मे हम पीछे लिख आये हैं इसे अनेक विद्वान महाकाव्य मानते हैं, पर डा० राजवंश सहाय हीरा[१४] और डा० छविनाथ त्रिपाठी[२१] ने इसे चम्पू माना है। प्रेमी जी ने सोनागिर में इसकी प्रति होने का उल्लेख किया है[११]। प्रयत्न करने पर भी यह वहां नही मिली। इसका विवरण मद्रास कैटलाग संख्या १२४४४ मे है। नामानुरूप इसमें भरत के अभ्युदय का वर्णन है।

जैनाचार्यविजय चम्पू—

इसका लेखक अज्ञात है। डा० त्रिपाठी ने गवर्नमेन्ट ओरियन्टल लाइब्रेरी मद्रास मे इसकी प्रति होने का उल्लेख किया है, इसमे ऋषभदेव से लेकर मल्लिषेण तक अनेक जैनाचार्यों की विद्वत्ता एवं उनकी वादप्रियता के साथ उनकी अन्य सम्प्रदायों पर प्राप्त विजयो का वर्णन है[१७]।

इस प्रकार जैन चम्पू काव्यों की परम्परा अविछिन्न रूप से चली। यद्यपि संख्या की दृष्टि से अत्यल्प ही जैन चम्पू काव्यों का सृजन हुआ, पर गुणवत्ता और महत्व की दृष्टि से जैन चम्पूकाव्य पीछे नही है। 'यशस्तिलक' संस्कृत चम्पू काव्यों का मेरु है। 'जीवन्धर चम्पू' जहां कथा तत्व की दृष्टि से अपनी सानी नही रखता, वही 'पुरुदेव चम्पू' काव्य कला, विशेषता श्लेष प्रधान चम्पुओं मे अग्रगण्य है। 'दयोदय' आधुनिक शैली पर लिखे जाने से स्वत: ही हृदयग्राही बन गया है, फिर इसका कथानक इतना सुन्दर है कि, पाठक एक बार पढ़ना प्रारम्भ कर उसे सहज ही बीच मे नही छोड़ पाता। 'महावीर ती० च०' अन्य तीर्थंकरों का भी वर्णन करने से निश्चय ही उपादेय है। वर्धमान चम्पू का भी विद्वत्समाज मे समुचित आदर होगा, ऐसी आशा है।

उपर्युक्त चम्पुओं की महत्ता, वर्णन विशालता गुणवत्ता, सहृदयहारिता, काव्यात्मकता आदि के आधार पर यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि अप्रकाशित 'पुण्याश्रव', 'भारत', 'भरतेश्वराभ्युदय' और 'जैनाचार्यविजय चम्पू' भी निश्चय ही महत्वपूर्ण जैन चम्पू होगे।

—निदेशक, प्राकृत एवं जैन विद्या शोधप्रबन्ध सग्रहालय, खतौली (उ० प्र०)

सन्दर्भ

१. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ४, पृ. ५० ।

२. भव्यजन कण्ठाभरण, प्रस्तावना पृ० १० ।

३. जैन साहित्य और इतिहास, पृ. १४२ ।

४. मुनि सुव्रत काव्य, आरा, भूमिक पृ० ख ।

५. अनगार धर्मामृत, ज्ञानपीठ, देखिए प्रस्तावना ।

६. नलकच्छपुरे श्रीमन्नेमिचैत्यालयेऽसिधत् ।
विक्रमाब्दशतेष्वेषा त्रयोदशसु कार्तिके ।।
अनगारधर्मामृत की टीका प्रशस्ति २१ ।

७. अलंकार चिन्तामणि, ज्ञानपीठ, प्रस्तावना पृ० ३४ ।

८. व्यक्तिगत पत्र दिनांक २७-६-८२ के आधार पर ।

९. मुनि ज्ञानसागर ग्रन्थमाला ब्यावर (राजस्थान) से १९६६ ई० में प्रकाशित ।

१०. दयोदय चम्पू, प्रथम लम्ब, लम्ब प्रशस्ति ।

११. जयोदय महाकाव्य, ब्यावर, ग्रन्थकर्ता परिचय पृ. ६ ।

१२. जयोदय चम्पू, ब्यावर, ग्रन्थकर्ता परिचय पृ० ङ ।

१३. वीरोदय महाकाव्य, ब्यावर, प्रकाशकीय ।

१४. जयोदय (मूलमात्र) प्रकाशक ब्रह्मचारी सूरजमल, प्राक्कथन, पृ० २ ।

१५. जयोदय महाकाव्य, ब्यावर, ग्रन्थकर्ता का परिचय पृ० १० ।

१६. यद्यपि इसमे ६ सर्ग हैं, पर 'दो शब्द' मे प्रकाशक पं० विद्याकुमार सेठी ने इसे खंडकाव्य ही कहा है ।

१७. यथा दयोदय चम्पू ७/२७ ।

१८. महावीर तीर्थंकर चम्पू प्रकाशक—राजेश पांडेय जयकृष्ण कुटी १७०१ चादनी चौक दिल्ली ।

१९. वही, प्राक्कथन ।

२०. जैन सन्देश (मथुरा) २३ व ३० जून १९८३ ।

२१. वचनदूतम, महावीर जी, प्रशस्ति ।

२२. जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश पृ. १९३ ।

२३. वही पृ. ४८९ ।

२४. संस्कृत साहित्य कोष, चौखम्बा, पृ. ३३० ।

२५. च० आ० एवं ऐतिहासिक अध्ययन, पृ. १२१ ।

२६. जैन साहित्य और इतिहास, पृ. १३७ ।

२७. च० आ० एवं ऐतिहासिक अध्ययन, पृ. २४७, २६७ ।

एको मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिरामावा सव्वे संजोगलक्खणा ।।

अथ मम परमात्मा शाश्वतः कश्चिदेकः,
सहजपरमचिच्चिन्तामणिनित्यशुद्धः ।
निरवधिनिजदिव्यज्ञानदृग्भ्यांसमृद्धः,
किमिह बहुविकल्पे मे फलं बाह्यभावैः ।।

निश्चय से मेरा आत्मा नित्य, एक, अविनाशी है। ज्ञान-दर्शन लक्षण का धारी है। मेरे आत्मीक भाव के सिवाय अन्य सर्वभाव मुझसे बाह्य हैं तथा सर्व ही भाव संयोग लक्षण हैं अर्थात् पर-द्रव्य के संयोग से उत्पन्न हुए हैं।

सांख्य और जैन दर्शन में ईश्वर

□ डॉ० सुदर्शन लाल जैन

'ईश्वर' शब्द को सुनते ही हमारे मन में यह विचार-धारा आती है कि इस जगत् को बनाने वाला, पालन करने वाला हमारे पाप-पुण्यरूप कर्मों का फल देने वाला, जीवो पर अनुग्रहादि करने वाला, सर्वैश्वर्यशाली, अनादि मुक्त, सर्वशक्तिसम्पन्न, अनन्त आनन्द मे लवलीन, व्यापक तथा चैतन्यगुणयुक्त एक प्रभु है जिसकी इच्छा के बिना इस जगत् का पत्ता भी नहीं हिल सकता है[1]। यह आत्मा से पृथक् तत्त्व है। ऐसा ईश्वर भारतीय दर्शन मे केवल न्याय दर्शन ही स्वीकार करता है। अन्य भारतीय दार्शनिक जिन्होने ईश्वर को स्वीकार किया है उनकी मान्यता कुछ भिन्न है।

ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी दर्शन-परम्परायें :

भारतीय दर्शन में चार्वाक, बौद्ध, जैन, सांख्य, वैशेषिक और मीमांसा मूलत: अनीश्वरवादी दर्शन माने जाते हैं परन्तु परवर्तीकाल में चार्वाक को छोड़कर ये दर्शन भी किसी न किसी रूप में ईश्वरवादी बन गए। इनका ईश्वर वैसा नही है जैसा कि ऊपर ईश्वर का स्वरूप बतलाया गया है। मूलत: ईश्वरवादी वेदान्त और योगदर्शन का ईश्वर भी वैसा नहीं है जैसा कि न्यायदर्शन का ईश्वर है।

वेदान्त—इस दर्शन मे नित्य, अनादि, अनन्त तथा शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप एकमात्र निर्गुण ब्रह्मतत्त्व को स्वीकार किया गया है। इसके अतिरिक्त समस्त जगत् इसी का विवर्त (भ्रम) है। अर्थात् समस्त जगत् मे एकमात्र ब्रह्म तत्त्व है वह जब मायोपाधि से युक्त होकर सगुणरूप को धारण करता है तब वह कथंचित् न्यायदर्शन के ईश्वर के तुल्य हो जाता है। न्यायदर्शन का ईश्वर तो मात्र जगत् का निमित्त कारण है जबकि वेदान्त का सगुण ब्रह्मरूप ईश्वर जगत् का निमित्त और उपादान दोनों कारण है। न्याय की दृष्टि से जगत् वास्तविक है और वेदान्त की दृष्टि से जगत् भ्रमात्मक या मायात्मक है। इस तरह वेदान्त की दृष्टि से परमब्रह्म ही सत्य है और उस परमब्रह्म का मायारूप ईश्वर है, जो परमसत्य नहीं है।

योगदर्शन—योगदर्शन सांख्यदर्शन का पूरक दर्शन है। इसमें प्रकृति (अचेतन) और पुरुष (चेतन) ये दो मुख्य तत्त्व हैं। पुरुष (चेतन आत्मा) संख्या मे अनेक हैं। एक पुरुष-विशेष को ईश्वर कहा है जो अनादिमुक्त, क्लेशादि (शुभाशुभ कर्मों) से सर्वथा मुक्त, विपाक (कर्मों के फलोपभोग) तथा (नाना प्रकार के संस्कार) से सर्वथा अस्पृष्ट है[2]। यह प्राणियो पर अनुग्रहादि करता है। इस तरह इस दर्शन का ईश्वर एक पुरुषविशेष है और वह सत्यरूप है।

सांख्यदर्शन—इस दर्शन मे प्रकृति और पुरुष ये दो ही तत्त्व है। प्रकृति और पुरुष का संयोग होने पर प्रकृति मे क्षोभ पैदा होता है और महदादिक्रम से प्रकृति से इस जगत् की सृष्टि होती है। इसमे ईश्वर (पुरुषविशेष) की कोई आवश्यकता नही है। सृष्टि स्वाभाविक प्रक्रिया से होती है। जैसे वत्सविवृद्धि के लिए दूध की प्रवृत्ति स्वत: होती है[3]।

जैनदर्शन—जैनदर्शन मे छः द्रव्यों की सत्ता मानी गई है—पुद्गल रूपी (अचेतन), जीव (चेतन = आत्मा), धर्म (गति–हेतु), अधर्म (स्थिति-हेतु), आकाश (अवगाह-हेतु) और काल (वर्तना या परिवर्तन हेतु)[4]। इनसे ही स्वाभाविक रूप से सृष्टि होती है[5]। इसका संचालक कोई ईश्वर नही है। इतना अवश्य है कि जीवन्मुक्तों और विदेहमुक्तों को (ईश्वर) परमात्मा शब्द से सम्बोधित किया गया है। परन्तु वे वीतरागी होने से अनुग्रहादि कुछ भी कार्य नहीं करते। वे केवल आदर्श पुरुष मात्र हैं।

समीक्षा :—सांख्यदर्शन और जैनदर्शन दोनों ही

मूलतः अनीश्वरवादी दर्शन हैं, परन्तु परवर्ती काल में सांख्यदर्शन ईश्वरवादी दर्शन बन गया। सांख्यदर्शन को ईश्वरवादी दर्शन बनाने मे सर्वप्रमुख भूमिका आचार्य विज्ञानभिक्षु की है। सांख्यदर्शन के उपलब्ध सर्वप्राचीन ग्रन्थ सांख्यकारिका तथा उसकी सभी प्राचीन टीकाओं में कही भी ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नही किया गया है। गौडपादभाष्य आदि टीकाओं में सृष्टिकर्ता ईश्वर के अस्तित्व का खण्डन अवश्य मिलता है। श्रीबालगङ्गाधर तिलक का विचार है कि ईश्वर कृष्ण की ६१वीं कारिका लुप्त हो गई है जिसकी रचना उन्होने गौडपादभाष्य के आधार पर करते हुए अनीश्वरवाद की स्थापना की है[७]।

सांख्यकारिका की प्रसिद्ध टीका युक्तिदीपिका मे स्पष्ट शब्दों मे प्रकृति की प्रवृत्ति में ईश्वरप्रेरणा का निषेध किया गया है[८]। गौडपादकार भी ईश्वर को सृष्टि का कारण मानने के मत को अस्वीकार करते हुए कहते हैं कि ईश्वर जब निर्गुण है तो उससे सत्व आदि गुणों वाली (सगुण) प्रजा की सृष्टि कैसे हो सकती है[९]? वाचस्पति मिश्र का कहना है कि जगत् की सृष्टि या तो स्वार्थवश सम्भव है या करुणावश। ईश्वर जब आप्तकाम है तो उसके स्वार्थ का कोई प्रश्न ही उपस्थित नही होता। करुणावश भी सृष्टि सम्भव नही है, क्योकि सृष्टि से पूर्व शरीर इन्द्रियादि के अभाव होने से दुःखभाव होगा फिर ईश्वर की करुणा कैसी? करुणाभाव तो दूसरो के दुःखो के निवारण की इच्छा है। सृष्टि के पश्चात् प्राणियों को दुःखी देखकर करुणा मानने पर अन्योन्याश्रय दोष होगा। किञ्च, करुणा से सृष्टि मानने पर उसे सभी को सुखी ही उत्पन्न करना चाहिए, दुःखी नही। अतः अचेतन प्रकृति की स्वतः प्रवृत्ति मानना ही उचित है[९]।

वृत्तिकार अनिरुद्ध ने ईश्वरकर्तृत्व का खण्डन करते हुए कहा है कि ईश्वर की सिद्धि करने वाला कोई प्रमाण नही है[१०]। ईश्वर के जगत्कर्तृत्व में निमित्तकारणता का खण्डन करते हुए वे कहते हैं कि ईश्वर के न तो सशरीरी होने पर और न अशरीरी होने पर सृष्टि सम्भव है[११]। यदि ईश्वर स्वतन्त्र होकर भी जीवो के कर्मानुसार उनकी सृष्टि करता है तो उसकी आवश्यकता ही क्या है? क्योंकि वह कार्य कर्म से ही हो जायेगा। किञ्च राग के अभाव में वह सृष्टि कर ही नहीं सकता। इसी तरह अन्य तर्कों के द्वारा अनिरुद्ध सांख्यसूत्रों की वृत्ति करते हुए सांख्य को अनीश्वरवादी सिद्ध करते हैं। जैनदर्शन मे भी कुछ इसी तरह की युक्तियों के द्वारा जगत्कर्ता ईश्वर का खण्डन किया गया है।

इसके विपरीत आचार्य विज्ञानभिक्षु ने सांख्यप्रवचन-भाष्य में सांख्य शास्त्र के उपदेश कपिलमुनि को ईश्वर का अवतार[१२] तथा ईश्वर को मोक्ष प्रदाता बतलाया है[१३]। इस तरह इन्होंने सांख्य की निरीश्वरवादी-परम्परा में नया मोड़ दिया और कहा कि ईश्वर की सिद्धि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से न होने के कारण उसका अभाव नही माना जा सकता। इसीलिए सांख्यसूत्र मे 'ईश्वरासिद्धेः' (१/९२) कहा है। 'ईश्वराभावात्' (सा०प्र०भा०) १/९२) नहीं, परन्तु विज्ञानभिक्षु का यह तर्क अनुचित है। किञ्च सांख्यसूत्र परवर्ती रचना है। अभी तक उसके कपिलमुनि प्रणीत होने की सिद्धि नहीं हो सकी है। वस्तुतः विज्ञान-भिक्षु का ईश्वर वेदान्त और योगदर्शन का मिला-जुला रूप है।

पहले बतलाया जा चुका है कि सांख्यदर्शन का अनुगामी योगदर्शन क्लेशादि से अपरामृष्ट पुरुषविशेष को ईश्वर मानता है। योगदर्शन का यह ईश्वर सब प्रकार के बन्धनों से सर्वथा अछूता है। इसमे निरतिशय उत्कृष्ट तत्त्वशाली बुद्धि रहती है जिससे यह ऐश्वर्यसम्पन्न माना जाता है। ज्ञान और ऐश्वर्य का प्रकृष्टतम रूप जिसमे देखा जाता है वही नित्य ईश्वर है। प्रकृति पुरुष के विवेकज्ञानपूर्वक मुक्त होने वाले जीवन्मुक्त और विदेह-मुक्त ईश्वर नही हैं क्योकि वे पूर्व मे बन्धनयुक्त रहे है। किञ्च, यह ईश्वर अन्य पुरुषों (आत्माओ) से विशिष्ट है। सामान्यपुरुष अकर्ता है, परन्तु ईश्वर अकर्ता नही है। इस तरह योगदर्शन सांख्यानुगामी होकर भी पुरुषविशेष के रूप मे ईश्वर को स्वीकार करता है। वस्तुतः बुद्धि आदि प्रकृति के धर्म हैं तथा बुद्ध्यादि के रहने पर रहने वाले ऐश्वर्यादि गुणो का धारक पुरुषविशेष ईश्वर ऐश्वर्य सम्पन्न कैसे हो सकता है?

न्यायकुमुदचन्द्र[१४] आदि जैन ग्रन्थो मे योगानुसारी सांख्यदर्शन के इसी ईश्वरवाद का खण्डन किया गया है।

वस्तुतः जैसा कि पहले कहा जा चुका है—सांख्यदर्शन मूलतः जैनदर्शन की तरह अनीश्वरवादी है। डा० उर्मिला चतुर्वेदी ने सांख्यदर्शन और विज्ञानभिक्षु नामक शोधप्रबंध में विज्ञानभिक्षु का पक्ष लेते हुए सांख्य को ईश्वरवादी सिद्ध किया है। वस्तुतः सांख्यदर्शन के विकासक्रम को देखने से उसके तीन रूप दृष्टिगोचर होते हैं।

(१) उपनिषदों[१६], महाभारत[१७], गीता[१८] और पुराणों में प्रतिपादित सांख्य दर्शन।

(२) कपिलमुनि, वार्षगण्य[१९], अनिरुद्ध[२०], ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका और उसके टीकाकारों का सांख्यदर्शन।

(३) परवर्ती सांख्यदर्शन जिसका प्रतिनिधित्व विज्ञानभिक्षु करते हैं।

जब हम कपिल के सांख्यदर्शन से जैनदर्शन की तुलना करते हैं तो देखते हैं कि दोनों में बहुत साम्य है। दोनो में कहीं भी सर्वशक्तिसम्पन्न अनादि ईश्वर की आवश्यकता नहीं अनुभव की गई है परवर्ती काल मे जिस प्रकार सांख्यदर्शन मे ईश्वरकर्तृत्व का समावेश हुआ है उस प्रकार जैनदर्शन में नहीं हुआ है। यद्यपि जैनदर्शन में ईश्वरोपासना मिलती है परन्तु जैनदर्शन का ईश्वर कोई अनादिमुक्त पुरुषविशेष नही है अपितु सभी पुरुष (आत्मा) परमात्मा रूप हैं, उनमें से जो जीवन्मुक्त[२१] (अर्हत् या तीर्थंकर) और विदेहमुक्त[२२] (सिद्ध) है उन्ही को ईश्वररूप से उपासना की जाती है। जैनों के ये मुक्तपुरुष या ईश्वर उपासक पर न कृपा करते हैं और न निन्दक पर क्रोध। उपासना के द्वारा भक्त अपने आत्म परिणामों की निर्मलता से यश आदि को प्राप्त करता है। वस्तुतः जैनो के मुक्त तो सांख्यदर्शन की तरह साक्षी एवं तटस्थ हैं। वह शुद्ध चैतन्यरूप और साक्षी होने के साथ-साथ सर्वज्ञ, अनन्तशक्ति तथा अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द से भी सहित है जो सांख्यदर्शन के मुक्तपुरुष में नहीं है। ऐसे मुक्तात्माओं में ईश्वरत्व का आरोप निराधार नही है। यद्यपि निश्चय नय से ईश्वरकृपा नहीं है फिर भी व्यवहार से उसकी कृपा का उल्लेख मिलता है[२३]। वस्तुतः फल-प्राप्ति कर्मानुसार ही मानी जाती है। जैनदर्शन का कर्म-सिद्धान्त इतना व्यवस्थित है कि उसके रहते सृष्टिकर्ता ईश्वर की आवश्यकता नही अनुभव मे आती। इसके अतिरिक्त धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य के रहते ईश्वर को कोई कार्य नही बचता जिसके लिए सृष्टिकर्ता ईश्वर माना जाए। द्रव्य का स्वरूप उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक होने से भी किसी प्रेरक ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार सांख्यदर्शन में भी प्रकृति को स्वरूपतः सत्व, रजस् और तमस् (आवरक) रूप[२४] मानने से ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं है। सत्व, रजस् और तमस् ये तीन गुण प्रकृतिरूप है, भिन्न नहीं। कर्मों से सर्वथा अस्पृष्ट सर्वदृष्टा ईश्वर कथमपि सम्भव नहीं है जैसा कि आप्तपरीक्षा मे कहा है—

नास्पृष्टः कर्मभिः शश्वद् विश्वदृश्वास्ति कश्चन।
तस्यानुपायसिद्धस्य सर्वथाऽनुपपत्तितः ॥८॥

इस तरह हम देखते हैं कि अर्हत् पद अथवा सिद्धपद (जीवन्मुक्त या विदेहमुक्त) को प्राप्त जीव ही जैनदर्शन मे ईश्वर है। यद्यपि प्रत्येक जीव मे यह ईश्वरत्व शक्ति है परन्तु अनादिकाल से कर्मबन्ध के कारण वह शक्ति ढकी हुई है। इस तरह पुरुषविशेष ईश्वर तो है परन्तु वह कभी बन्धन मे नही था ऐसा जैनदर्शन को स्वीकार्य नहीं है। किञ्च, वह पुरुषविशेष जिसने कर्मबन्धनों को नष्ट करके अनन्तचतुष्टय (अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति) को प्राप्त किया है, ईश्वर तो है, परन्तु आप्तकाम और वीतरागी होने से सृष्टि के किसी भी कार्य में रुचि नही लेता है। इस दृष्टि से वह कथंचित् सांख्यों के मुक्तो की तरह साक्षी दृष्टा मात्र है। अनन्तज्ञान, अनन्त आनन्द आदि मानने से कथंचित् वेदान्त के ईश्वर तुल्य है। जैन ग्रन्थों में सांख्यदर्शन के ईश्वर का जो खण्डन मिलता है वह योगदर्शन की दृष्टि से है क्योंकि सांख्यदर्शन मूलतः अनीश्वरवादी है। जैनदर्शन मे ईश्वरत्व अथवा महानता का द्योतन भौतिक ऐश्वर्यों से नहीं किया गया है क्योंकि वह ऐश्वर्य अन्यो के भी सम्भव है। उनकी ईश्वरता का मापदण्ड कर्ममल से रहित आत्मा की शुद्ध

परिणति है। जैसा कि आप्तमीमांसा में आचार्य समन्तभद्र ने कहा है—

देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ।,१॥

दोषावरणयोर्हानिर्नि: शेषास्त्यतिशायनात्।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥४॥

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी

सन्दर्भ-सूची

१. अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं नरकमेव ॥
—उद्धृत, गौडपाद टीका ६१
आप्तपरीक्षा टीका पद्य २३, स्याद्वादमंजरी, पृ० ४१३—४१७.

२. क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष. ईश्वरः।
—योगसूत्र, १, २४.

३. सां० का० ५७.

४. तत्त्वार्थसूत्र, ५, १-३, ३६ तथा ५, १७-२२.

५. उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्। तत्त्वार्थसूत्र ५, ३०.

६. बालगंगाधरतिलककृत कारिका—
कारणमीश्वरमेके ब्रुवते काल परे स्वभाव वा।
कथं निर्गुणतो व्यक्तः कालः स्वभावश्च ॥
सांख्यकारिका मे मूलतः उपलब्ध कारिका—
प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति।
या दृष्टाऽस्मीति पुनर्नदर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥
—सां० का०, ६१.

७ तस्मायुक्तमेतत्पुरुषविमोक्षार्था प्रकृतेः प्रवृत्तिर्न चैतन्यप्रसग इति। युक्ति० ५७.

८. अत्र सांख्याचार्या आहुः—निर्गुण ईश्वरः सगुणानां लोकानां तस्मादुत्पत्तिरयुक्तेति। गौड० ६१.

६. सांख्यतत्त्वकौमुदी, ५७.

१० यदीश्वरसिद्धौ प्रमाणमस्ति, तदा तत्प्रत्यक्षचिन्ता उपपद्यते। तदेव तु नास्ति। अनि०, १/६२ तथा ५/१०-११.

११. अनि०, १/६२.

१२. नारायणः कपिलमूर्तिः। सां०प्र०भा०, मंगलाचरण २.

१३. दीयतां मोक्षदो वहिः। वही ६.

१४. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० १११-११४.

१५. श्वेताश्वतरोपनिषद्, १/६.

१६. महाभारत, १२/३०६/३६.

१७. मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
—गीता, ६/१०.
अह कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा। गीता ७/६.

१८. ब्रह्मपुराण, १/३३, विष्णुपुराण, १/२/२६.

१६. तथा च वार्षगणाः पठन्ति प्रधानप्रवृत्तिप्रत्यया पुरुषेणापरिगृह्यमाणादिसर्गे वर्तते। युक्ति० १६.

२०. पूर्वसिद्धमीश्वरासत्वम्। अनि०, ५/२.
यदीश्वरसिद्धौ प्रमाणमस्ति, तदा तत्प्रत्यक्षचिन्ता उपपद्यते। तदेव तु नास्ति। अनि०, १/६२.

२१. सांख्यकारिका, ५७ तथा उसकी टीकायें।

२२. केवलणाणदिवायर-किरणकलाउप्पणासिण्णाणो।
णवकेवलद्धुग्गमसुजणिय परमप्पववएसो ॥
—गो० जीव० ६३.
असहायणाणदंसणमहिओ इदि केवली हु जोगेण।
जुत्तोति सजोगिजिणो अणाइणिहणारिसे उत्तो ॥
—गो० जीव० ६४.

२३. अट्ठविहकम्मवियला सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा।
अट्गुणा किदकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा ॥
—गो० जीव०, ६८.

२४. सिद्धि मे दिसंतु। तीर्थङ्करभक्ति ८, तित्थयरा मे पसीयन्तु ॥ तीर्थ०, भक्ति ६.

२५. सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलञ्च रजः।
गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥
—सां० का०, १३.

नागदेव जैन मन्दिर नगपुरा

☐ श्री नरेश कुमार पाठक

मध्यप्रदेश के दुर्ग जिले में राजनांदगांव मार्ग पर शिवनाथ नदी के दूसरे तट पर १६ कि०मी० की दूरी पर नगपुरा ग्राम स्थित है। गाँव के बीच एक नवीन कमरा नुमा मढिया बनी है, जिसमे बीच में पीपल के पेड़ का चबूतरा बना है, उसमें कुछ प्रतिमा स्थापित है, जिसकी स्थानीय लोगों द्वारा पूजा की जाती है। इस मन्दिर में सबसे अच्छी हालत में सुन्दर प्रतिमा तेइसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ की है, पुरातत्वविद श्री वेदप्रकाश नगावच का मत है, कि सम्भवत: इसके ऊपर नागफण होने के कारण ही ग्रामवासी इसे नागदेव मन्दिर कहते हैं[1]। यह भी सम्भव है कि इस प्रतिमा के कारण ग्राम का नाम भी नगपुरा हुआ है। दुर्ग जिला गजेटियर मे इसे कलचुरि कालीन जैन मन्दिर लिखा है[2]। मन्दिर मे प्राप्त पुरावशेषो से स्पष्ट होता है कि, यहाँ एक जैन मन्दिर रहा होगा। मन्दिर ध्वस्त हो जाने के बाद मे श्रद्धालुओं ने इसी के ऊपर नवीन मन्दिर का निर्माण करवा दिया। यहां मन्दिर के दोनो द्वार शाखा रखी है। जिन पर नदी देवियो का अकन किया गया है। देवी एक हाथ में कलश लिए हुए है एवं मुकुट, चक्र, कुण्डल, हार, केयूर, बलय, मेखला व नूपुर पहने हुए है। नदी देवो के पार्श्व मे एक पुरुष प्रतिमा खड़ी है। नदी देवियों के अतिरिक्त चतुर्मुखी आसनस्थ गणेश, सर्प फण युक्त नाग प्रतिमा पैर युक्त प्रतिमा पादपीठ रखे हुए है। यहां पर जैन प्रतिमाओ की सख्या अधिक है जिसका विवरण निम्नानुसार है :—

पार्श्वनाथ—तेइसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ पद्मासन मे शेष आसन पर ध्यानस्थ बैठे हैं। अर्ध उन्मीलित नेत्र, सिर पर कुन्तलित केश, लम्बे कर्णचाप, कंधे तक फैली हुई जटाये हैं। वक्ष पर श्रीवत्स चिह्न का सानुपातिक अंकन हुआ है। पादपीठ से सर्प का घुमावदार अकन तीर्थङ्कर के पीछे होता हुआ सिर के ऊपर सप्तफण की मौलि बनी हुई है। वितान में विद्याधर गन्धर्व, अभिषेक करते हुए गणराज, त्रिछत्र, दुन्दुभिक का अंकन है। दोनों हाथ की हथेलियां एक-दूसरे पर रखी है और पैर के तलुओं से टिकी हुई हैं। ध्यान में लीन इस प्रतिमा का काल लगभग ७वीं-८वीं शती ई० प्रतीत होता है। सम्पूर्ण प्रतिमा काफी आकर्षक एवं मांसलता लिए है, प्रतिमा का आकार ८० × ६० × ३० से०मी० है।

तीर्थङ्कर—यहां से दो लांछन विहीन तीर्थङ्कर प्रतिमा प्राप्त हुई हैं। प्रथम प्रतिमा तीर्थङ्कर प्रतिमा का अर्धभाग जिसमें तीर्थङ्कर कुन्तलित केश, लम्बे कर्णचाप से अलंकृत है। बितान मे त्रिछत्र, दुन्दभिक अभिषेक करते हुए गजराज, ऊपर पद्मासन में तीर्थङ्कर प्रतिमा बैठी हुई है। जिनके ऊपर मालाधारी विद्याधर एव पीछे प्रभामंडल है। दोनों पार्श्व मे एक-एक कायोत्सर्ग मुद्रा में जिन प्रतिमा का अकन है। प्रतिमा का आकार ४२ × ३० × ७ से.मी. है। दूसरी तीर्थङ्कर प्रतिमा पर दो पद्मासन मे तीर्थङ्कर बैठे हुए अंकित है। प्रतिमा का आकार ४० × २५ × १५ से०मी० है। कालक्रम की दृष्टि से दोनों प्रतिमा ७वीं-८वी शती ई० की प्रतीत होती है।

तीर्थङ्कर प्रतिमा बितान—यहां से दो तीर्थङ्कर प्रतिमा वितान प्राप्त हुए हैं। प्रथम प्रतिमा तीर्थङ्कर प्रतिमा का वितान है, जिस पर छत्र, गणराज, विद्याधर युगल, प्रभामण्डल, आंशिक रूप से सुरक्षित है। ऊपर स्तम्भ युक्त गवाक्ष के अन्दर तीन पद्मासन मे तीन पद्मासन मे तीर्थङ्कर प्रतिमा बैठी है। मध्य के तीर्थङ्कर के नीचे पाच कायोत्सर्ग मे जिन प्रतिमा खड़ी हैं। दायें ओर के तीर्थङ्कर के नीचे दो पद्मासन मे एव चार कायोत्सर्ग में जिन प्रतिमा अकित है। बाँयी ओर तीर्थङ्कर प्रतिमा के नीचे एक पद्मासन मे एवं दो कायोत्सर्ग में तीर्थङ्कर प्रतिमा

(शेष पृ० १८ पर)

आचार्य कुन्दकुन्द और जैन दार्शनिक प्रमाण व्यवस्था

□ डॉ० कमलेश जैन, वाराणसी

ज्ञान एवं प्रमाणविषयक चिन्तन भारतीय दर्शनों का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय है। भारतीय दार्शनिक इतिहास को देखने से स्पष्ट होता है कि ज्ञान और प्रमाणमीमांसीय चिन्तन उत्तरोत्तर विकसित हुआ है। प्रारम्भ में ज्ञान मीमांसा पर ही अधिक बल दिया गया और ज्ञान सम्यक् (प्रमाण) है या मिथ्या (अप्रमाण), इसके निर्णय पर विस्तार से विचार किया गया। परन्तु तार्किक शैली के विकास के साथ ज्ञान। (प्रमाणविषयक) चिन्तन तार्किक पद्धति पर किया जाने लगा। इस प्रकार ज्ञानमीमांसा का क्रमशः विकास हुआ जो कि तार्किक युग में प्रमाणमीमांसा का प्रमुख आधार बना।

आचार्य कुन्दकुन्द रचित साहित्य में प्रमाणविषयक विवेचन नहीं है। 'प्रमाण' शब्द का प्रयोग कुन्दकुन्द के साहित्य में मात्र पांच स्थलों पर भिन्न-भिन्न प्रसगो मे हुआ है, परन्तु उन पांच स्थलों मे प्रयुक्त प्रमाण शब्द कही भी प्रमाणमीमांसीय सन्दर्भ से सम्बद्ध नहीं है, अपितु पांचों स्थानों पर प्रमाण का अर्थ परिमाण (परिमाप या समानता) से है। समयसार गाथा ४, प्रवचनसार गाथा १/२३-२४, मोक्षप्राभृत गाथा ६६।

कुन्दकुन्द के प्रायः सभी ग्रन्थों में ज्ञानसामान्य की चर्चा की गयी है। और आभिनिबोधिक/मत, श्रुति आदि के भेद से ज्ञान की पांच अवस्थाओ का विवेचन है। उनके प्रवचनसार में ज्ञानाधिकार नाम से एक स्वतंत्र अधिकार भी लिखा है। यहां पर ज्ञान का प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में विभाजन है। इस विभाजन का आधार लोक व्यवहार एवं जैनेतर धार्मिक-दार्शनिक परम्पराओं से सर्वथा भिन्न है। यह आधार है—आत्मसापेक्षता। जो ज्ञान अतीन्द्रिय एव आत्मसापेक्ष है, वह प्रत्यक्ष है। और जिस ज्ञान में इन्द्रिय, मन आदि की सहायता अपेक्षित होती है, वह परोक्ष है। यहाँ पर दोनो का अन्तर समझना आवश्यक है—

प्रत्यक्ष ज्ञान—यहाँ पर 'अक्ष' शब्द का अर्थ है—'आत्मा/अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा।'—सर्वार्थसिद्धि १/१२। केवलज्ञान आत्मा की योग्यता से प्रकट होता है। यह ज्ञान अतीन्द्रिय, आत्ममात्रसापेक्ष और स्वावलम्बी है। इसके प्रकट होने पर दूसरे किसी ज्ञान की स्थिति नहीं रहती, अतः अकेला रहने से 'केवल' कहलाता है। इसके होने में इन्द्रियादिक परद्रव्यों की सहायता

(पृ० १७ का शेषांश)

बैठी हैं, प्रतिमा का आकार ३४ × ३२ × ७ से०मी० है। द्वितीय प्रतिमा तीर्थङ्कर प्रतिमा वितान का बायां भाग है, इस पर स्तम्भ युक्त गवाक्ष के अन्दर पद्मासन में तीर्थंकर बैठे हैं। तीर्थङ्कर के बायें ओर एक पद्मासन में एवं दो कायोत्सर्ग में जिन प्रतिमा बैठी हैं। इसके अतिरिक्त इस खण्ड पर विभिन्न प्रकार की लता बल्लरियों का आलेखन है। प्रतिमा का आकार ३२ × ३३ × २० से० मी० है। तिथिक्रम की दृष्टि से दोनों प्रतिमा ७वीं-८वी शती ई० की प्रतीत होती है।

यद्यपि यह मन्दिर अपने प्राचीन अस्तित्व मे नही है, परन्तु यह दुर्ग जिले के जैन कला के विकास मे अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। —पुरातत्व संग्रहालय
रायपुर (म०प्र०)

---

१. नगायच वेदप्रकाश 'नागदेव मन्दिर' नगपुरा का निरीक्षण प्रतिवेदन दिनांक १४-१०-८७.

२. दुर्ग डिस्ट्रिक गजेटियर पृ० १८२ एवं शर्मा राजकुमार 'मध्य प्रदेश के पुरातत्व का संदर्भ ग्रंथ' भोपाल १९७४ पृ० २८३ क्रमांक १२३४.

३. शर्मा सीताराम 'भोरमदेव क्षेत्र पश्चिम-दक्षिण कोसल की कला' अजमेर १९९० पृ. १६२-१६३.

आवश्यक नहीं होती। अतः आत्मा की स्वशक्ति के आधार से प्रकट होने से, यह ज्ञान प्रत्यक्ष माना गया है। परमार्थतः जैनदर्शन में यही प्रत्यक्षज्ञान है —

—जदि केवलेण णाद हवदि हि जीवेण पच्चक्खं ॥

प्रवचनसार, गाथा १/५८.

परोक्ष ज्ञान—प्रकृत में अक्ष का अर्थ है— चक्षु। उपलक्षण से यहां पर चक्षु, कर्ण आदि पांचों इन्द्रियों तथा अनिन्द्रिय मन का ग्रहण होता है। चक्षु आदि इन्द्रियां परद्रव्य हैं, ये आत्मा का स्वभाव नहीं हैं। अतः परद्रव्यो—इन्द्रियादिक की सहायता से उत्पन्न होने वाला पदार्थों का विशेषज्ञान, परजनित होने से पराधीन है, इसलिए परोक्ष है। यह इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न ज्ञान पौद्गलिक इन्द्रियों द्वारा होता है, उनके आधीन होकर पदार्थ को जानता है, इन्द्रियां पराधीन हैं, अतः यह ज्ञान भी परोक्ष है, क्योंकि पराधीन ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। कहा भी गया है—

परदव्वं ते अक्खा णेव सहावो त्ति अप्पणो भणिदा।
उवलद्ध तेहि कध पच्चक्खं अप्पणो होदि ॥
ज परदो विण्णाणं तं तु परोक्ख त्ति भणिदमट्ठेसु।

—प्रवचनसार, गाथा १/५७-५८

ज्ञान जीव का निज गुण है, और गुण गुणी से पृथक् नही रह सकता। कर्मबन्ध से पूर्णतया मुक्त एव शुद्ध स्वरूप को प्राप्त जीव को यह ज्ञान गुण पूर्णरूप से प्रकट हो जाता है। ज्ञान स्वसवेद्य तथा स्व-पर प्रकाशक भी है, इसलिए वह ज्ञाता और ज्ञेय दोनों है। ससारी अवस्था मे कर्मबद्ध जीव के ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से ज्ञान का आवरण जैसे-जैसे कम होता है, वैसे-वैसे ज्ञान का क्रमिक विकास होता जाता है।

जैनपरम्परा ज्ञान को ही प्रमाण मानती है, परन्तु यहां यह विशेष ध्यानदेन योग्य है कि आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार ज्ञान की प्रमाणता (सत्यता-सम्यक्त्व) और अप्रमाणता (असत्यता-मिथ्यात्व) बाह्य पदार्थों को यथार्थ जानने अथवा अयथार्थ जानने पर आधारित नहीं है, अपितु जो ज्ञान आत्म-सशोधन मे कारण हैं, और अन्ततः मोक्षमार्ग मे उपयोगी—सहायक सिद्ध होते हैं, वे ज्ञान प्रमाण (सम्यक्) हैं। एव जो ज्ञान मोक्षमार्ग में अनुपयोगी हैं, वे अप्रमाण्य (मिथ्या) हैं—

आभिणिसुदोधिमणकेवलाणि णाणाणि पंचभेयाणि।
कुमदिसुदविभंगाणि य तिण्णि वि णाणेहिं संजुत्ते ॥

—पंचास्तिकाय, गाथ ४१

अतएक सम्यग्दृष्टि के सभी ज्ञान सम्यक् (प्रमाण) और मिथ्यादृष्टि के समस्त ज्ञान मिथ्या (अप्रमाण) कहे गये। आचार्य समन्तभद्र ने भी तत्वज्ञान (केवलज्ञान) को ही प्रमाण कहा है, क्योंकि वह एक साथ सबका ज्ञान कराने वाला होता है—

तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्।
क्रमभावी च यज्ज्ञान स्याद्वादनयसस्कृतम् ॥

—आप्तमीमांसा, कारिका १०१

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि लोकव्यवहार मे जिसे प्रत्यक्षज्ञान कहा जाता है। अथवा, जैनेतर न्याय-वैशेषिकादि दार्शनिक परम्पराओ मे जिन इन्द्रियजन्य ज्ञानो को प्रत्यक्ष माना गया, वे सभी ज्ञान कुन्दकुन्द तक जैन परपरा मे—परोक्षज्ञान के ही अन्तर्गत थे। मूलतः यही प्राचीन आगम सरम्परा है, परन्तु बाद में इसका क्रमशः विकास हुआ है। प्रमाण-न्याय युग मे जैनदार्शनिको मे भी प्रमाण-मीमासा के अनुरूप अनेक नये शब्दो को समाहित किया है।

इससे यह भी स्पष्ट होता है कि प्रमाणयुग मे उपर्युक्त प्रत्यक्ष ओर परोक्ष ज्ञानो को ही प्रमाण माना गया। तत्त्वार्थसूत्रकार ने मति, श्रुत आदि ज्ञान के पाँच भेदों का विवेचन किया ओर उन्ही पाच को प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप दो प्रमाणों के नाम से विभक्त किया। यही से जैन परम्परा मे ज्ञानमीमासा का प्रमाणमीमांसीय विवेचन प्रारम्भ हुआ है। परन्तु, यहा पर भी ज्ञान की प्रमाणता (सत्यता) ओर अप्रमाणता (असत्यता) का आधार पूर्ववत् रहा। लौकिक प्रत्यक्ष को परोक्ष मानने की परम्परा भी पहले की तरह स्थिर रही।

इस प्रकार कुन्दकुन्द ने जो ज्ञान का प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप मे विभाजन किया था, उसे ही बाद में एक नयी व्यवस्था दी गयी, और उसे प्रमाणरूप से विवेचित किया गया। (शेष पृ० २३ पर)

"कसायपाहुड़ सुत्त" [सम्पादक—पं० हीरालाल सि० शास्त्री]

—शुद्धि-पत्र—

निर्माता—ब्र० स्व० रतनचन्द एवं पं० नेमिचन्द मुख्तार, सहारनपुर

प्रेषक—जवाहरलाल जैन/मोतीलाल जैन, भीण्डर

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१८	२०	द्रव्यप्रेयनिक्षेप	द्रव्यप्रेयनिक्षेप
१६	२७	उपाघात	उपघात
३८	७	जिस प्रकार	विशेषार्थ—जिस प्रकार
४४	२५	जीव अल्प हैं। इसी क्रम से	जीव अल्प है और रागभाव के धारक उनसे विशेषाधिक है। इसी क्रम से [देखो ज.ध. १।३५८-५६]
५३	३०	हो जाने पश्चात्	हो जाने के पश्चात्
७४	१८	नाकषायों के	नो कषायो के
७८	२	उवड्ढपोग्गलपरियट्ट।	उवड्ढपोग्गलपरियट्टं।
७८	४	आदि-सान्त	सादि-सान्त
८१	१८	गया है,	है,
८१	२३	स्थितिबन्ध का	स्थिति सत्त्व का
८३	१२	अनुत्कृष्ट बन्धप्ररूपणा	अनुत्कृष्ट विभक्ति प्ररूपणा
८३	१८	अजघन्य बन्धप्ररूपणा	अजघन्यविभक्ति प्ररूपणा
८४	३	बन्ध प्ररूपणा	विभक्ति प्ररूपणा
८४	१६	बन्ध-काल प्ररूपणा	विभक्तिकालप्ररूपणा
८५	१०	होती है अजघन्यबन्ध	होती है और जघन्यस्थितिबन्ध नवमगुणस्थान के अन्तसमय में होता है। अजघन्यबन्ध
८५	१२	स्थितिबन्ध के	स्थितिविभक्ति के
८७	१	स्थिति के बन्धक	स्थितिविभक्ति वाले [देखो ज. ध. ३।५६-६०]
८८	१२	स्थिति बन्ध का	स्थिति विभक्ति का
८८	१६	बन्धकाल	विभक्तिकाल
१०३	१६	उत्कृष्ट बन्ध	उत्कृष्ट विभक्ति
११२	७	स्थितिबन्ध वाले	स्थिति विभक्ति वाले
१५६	२४	शैल समना	शैल समान
१५७	१६	दारुस्थनीय	दारुस्थानीय
१६६	१२	अर्थपद उसे	उसे अर्थपद
१८३	१२	इन	इस
१८८	२७	सुत्ताण्ण ज्जहा	सुत्ताण जहा
१६२	१४	अनुपाल कर	अनुपालन कर

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२१४	२३	उदहरण	उदाहरण
२२७	३०	निगादिया	निगोदिया
२३१	३३	उत्कष्ट	उत्कृष्ट
२४६	१६	'कदि'	'कदि
२४८	८	चूाण-सूत्र	चूर्णिसूत्र
२५२	६	अंकमो	असंकमो
२५६	१६	सम्यग्मिथ्यात्व से	सम्यग्मिथ्यात्व के
२५६	२६	सबके कम	सबसे कम
२८४	२७	बन्धस्थानों मे	बन्धस्थान मे
२६३	३	सेससु	सेसेसु
३१३	१५	प्रमाग एक समय	प्रमाण तो वही रहता है, किन्तु अतिस्थापना के प्रमाण मे एक समय
३१८	१०	अवर्तित	अपवर्तित
३३३	२०	संकमों	सक्रमो
३३४	१६	समय	समान
३४२	५	संकासया	संकामया
३५६	१३	अनुभाग संक्रमण का जघन्य अन्तर कहते है ॥२२३॥	जघन्य अनुभाग संक्रमण का अन्तर कहते हैं ॥१२३॥
३६१	१८	जब	अब
३७१	३	जहण्णाणुमाग	जहण्णाणुभाग
३७४	४	होइ ?	को होइ ?
४१५	१२	सम्मत्त	सम्मत्तस्स
४३५	१५	अन्तरकाल	अनन्तकाल
४४८	६	वड्ढिपूण	वड्ढिदूण
४५८	२३	सक्रस	संक्रम
४७१	२४	उदारणा	उदीरणा
४८२	२०	कहा गया है	कहा गया है)
४६३	१२	मरकर तेतीस	मरकर एक समय कम तेतीस
५५७	२	या	य
५५७	२६	वर्गगाए	वर्गणाए
५७०	१०	असंख्यात होते हैं। विवक्षित	असख्यात होते हैं। क्रोध के असख्यात अतिरिक्त अपकर्ष हो जाने पर एक बार मान अपकर्ष अधिक होता है। लोभ, माया, क्रोध व मान से उपयोग होने के पश्चात् लोभ से उपयुक्त होता है। फिर माया से उपयुक्त न होकर पुनः लौट-कर मान से उपयुक्त होता है। फिर लोभ का उल्लघन कर माया से उपयुक्त होता है। विवक्षित

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५६२	२७	॥ २८७-२८८ ॥	॥ २८७-२८९ ॥
५६५	४	सेढाओ	सेढोओ
६००	१७	द्वारा द्वारा	द्वारा
६०२	३	संधीदा	संधीदो
६०३	४	कहकम्मं	कोहकम्मं
६१४	५	जागे	जोगे
६१५	१०	उपशमम	उपशम
६३२	१७	सुत्त	सुप्त
६३५	१२	प्रथमोपशम सम्यक्त्व को	सम्यक्त्व को [यहां अनुवाद मे अनुवाद-कर्त्ता की बड़ी भूल हुई है।]
६३५	२७	प्रथमोपशम सम्यक्त्व	सम्यक्त्व

नोट—गाथा १०५ [पृ. १३५-३६] का अर्थ व विशेषार्थ गलत है। [देखो ज, ध. पु. १२ पृ. ३१७-१८]

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६७४	२४	वहां	यहाँ
७०३	१४	ऐसे	सेसे
७०६	१४	वह	यह
७२६	६	चढमाणस्स	माणस्स
७४२	२३	कोटिशतसहस्र	कोटि पृथक्त्व शतसहस्र
७४३	२८	पल्योपम के	जघन्य के
७५२	२०	और संज्वलन की	और क्रोध संज्वलन की
७६१	३२	चार	तीन
७६४	१	मूलणाहाए	मूलगाहाए
७६६	१०	यह पांचवीं भाषा गाथा	यह गाथा
७६६	१३	अथवा उससे पूर्व संसारावस्था मे वर्तमान	× × × × × ×
७६६	२५-२८	यहां पर पठित 'वा' शब्द समुच्चयार्थक ……………गया है। अतएव	× × × × × ×
७६७	१७	भी बध्यमान	बध्यमान
७६८	२१	॥१४३॥	॥१४२॥
७८८	३१	अणिनन्तगुत	अनन्तगुणित
७९०	२६	स्पर्धकवर्गरणा	स्पर्धक की आदिवर्गणा
७९७	२४	पूव	पूर्व
८००	२६	के अन्तर	के कृष्टि अन्तर
८०७	२७	समम से	समय से
८२०	१८	वेककाल	वेदक काल
८३८	३	९६४	९६५

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८४३	२७	यवमध्यपप्ररूपणा	यवमध्यप्ररूपणा
८५०	८	वेगस्स	वेदगस्स
८५५	६	अंतोमुहुत्तणा	अंतोमुहुत्तूणा
८५६	२३	प्रथम कृष्टि को	प्रथम संग्रह कृष्टि को
८९२	६	माण	मायं
८९३	६	बधगियराणं	बंधगियराणं ३
९००	१	पच्छिमक्खघो	पच्छिमक्खंधो

नोट :—(i) पृष्ठ ७६७ पर लिखित विशेषार्थ के अन्तर्गत निम्न ११ पंक्तियां पुन: देख लें—"समस्थिति में प्रवर्तमान पर प्रकृतिरूप सक्रमण··········· · · (दृष्टान्त दिया। इसी प्रकार"

नोट :—(ii) पृष्ठ ३९८ पर पक्ति १८-१९ मे "पश्चात् नियम से गिरता है और मिथ्यात्वी हो जाता है।" इस वाक्य का भी इस प्रकार सुधार करना चाहिए—:पश्चात् वेदक सम्यक्त्वी, सम्यग्मिथ्यात्वी हो अथवा मिथ्यात्वी हो जाता है। [कारण देखो—गा. १०३ पृ. ६३४-३५ तथा इसकी जयध. टीका]

(पृ० १९ का शेषांश)

इसके बाद तार्किक पद्धति से विकसित होने पर प्रत्यक्ष की उपर्युक्त परिभाषा मे भी परिवर्तन किये गये। लोकव्यवहार तथा जैनेतर धार्मिक-दार्शनिक परम्पराओं से सामञ्जस्य बैठाने के लिए आचार्य अकलङ्क, जिनभद्र आदि दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष के पुन: दो भेद किए—१. सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और २. पारमार्थिक प्रत्यक्ष। और दूसरा इन्द्रियजन्य ज्ञान को परोक्ष से प्रत्यक्ष मे स्थापित किया। परन्तु पारमार्थिक और सांव्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष मे व्याप्त प्रत्यक्षलक्षण विचारणीय रहा? तार्किक युग की चरम अवस्था में विशद और निश्चयात्मक ज्ञान को भी प्रत्यक्ष मान लिया गया।

निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि कुन्दकुन्द मूलत: आध्यात्मिक तथा आगमिक आचार्य हैं, प्रमाणशास्त्रयुगीन या नैयायिक नही। उनके साहित्य मे प्रमाण विषयक चर्चा नहीं है। दूसरे शब्दों में, जैन परम्परा मे आचार्य कुन्दकुन्द तक प्रमाणमीमांसा का प्रवेश नहीं है। कुन्दकुन्द ने आत्ममीमांसा और ज्ञानमीमांसा की विस्तृत एवं सूक्ष्मतम विवेचना की है, जिससे सर्वज्ञता का सिद्धान्त स्थापित हुआ।

उपर्युक्त से यह भी स्पष्ट होता है कि जैन परम्परा मे आरम्भ मे ज्ञानमीमांसा पर अधिक जोर दिया गया। ज्ञान सम्यक् है या मिथ्या, अथवा, ज्ञान प्रमाण है या अप्रमाण, इस विषय पर विस्तार से चिन्तन किया गया, और यही मूल आगमिक परम्परा है।

परन्तु, तार्किक शैली के विकास के साथ-साथ प्रमाण-विषयक चिन्तन क्रमश: तर्क पद्धति पर किया जाने लगा। भिन्न-भिन्न दार्शनिक सिद्धान्तो की समीक्षा एवं स्वपक्ष की स्थापना के फलस्वरूप प्रमाणमीमांसा का उत्तरोत्तर विकास भी हुआ। दूसरे शब्दों मे, ज्ञानविषयक प्राचीन चिन्तन की ही प्रमाणमीमांसीय व्याख्या प्रस्तुत की गयी।

—प्राकृत एवं जैनागम विभाग
संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी-२

जैन-मुनिचर्या

□ श्री बाबूलाल जैन, कलकत्ता वाले

सिंह सा पराक्रमी :—अगर पराक्रम सीखना हो तो सिंह से सीखना होगा। सिंह कैसा है? जिसे किसी सहारे की दरकार नही—जिसने सब सहारे छोड़ दिये हैं—बेसहारा, वनों और पहाड़ों में विचरना।

हाथी-सा स्वाभिमानी :—हाथी मे एक स्वाभिमान है, अहंकार नही। अपने बल पर भरोसा है परन्तु बल का दिखावा नही।

वृषभ-सा भद्र :—बैल जैसा भद्र परिणामी—कभी झगड़ा नहीं करता, उसका व्यवहार सज्जनोचित है।

मृग-सा सरल :—मृग की आँखो मे झांक कर देखो, सरलता-भरोसा दिखता है, जिसने कभी पाप नही जाना। जिसकी आंखो मे पाप की रेखा ही नहीं है। क्वांरी कन्या जैसा निष्पाप। मृग स्वभाव से ही सरल होता है। उसकी सरलता साधी हुई नही है स्वाभाविक है। सीधा छोटे बच्चा जैसा सरल। जहां न पाखण्ड न मायाचार और न दिखावा—मात्र सहज।

पशु-सा निरीह :—असहाय अवस्था, समस्त उपद्रवों से परे।

वायु-सा निःसंग :—हवा बहती रहती है परन्तु निःसंग - नदियो से गुजरती है, फूलो के ऊपर से गुजरती है परन्तु रुक नही जाती, निःसग भाव।

सूर्य-सा तेजस्वी :—कपट में, पाखंड में ज्योति बुझ जाती है। जैसे ही व्यक्ति सरल होता है, निःसंग होता है, भद्र होता है, निरीह होता है, अकेला होता है, वैसे ही उसके भीतर एक अगाध ज्योति जलने लगती है।

सागर-सा गंभीर :—गहरा गम्भीर जिसकी थाह नही।

मेरु-सा निश्चल :—गाड़ी का चाक घूमता है परन्तु कील थिर रहती है, चाक घूमता है परन्तु कील थिर है। अगर कील भी घूमने लगे तो गाड़ी गिर जायेगी। ऐसे ही जिसने अपने भीतर की कील को, केन्द्र को पहचान लिया है इसलिए बाहर में, भीतर मे परिवर्तन आता है परन्तु वह कील हमेशा मेरु की तरह निश्चल है। साधु भोजन करता है, बोलता है, जन्म लेता है, मरता है, परन्तु वह कील हमेशा निश्चल है, बोलते हुए भी नही बोलता। चलते हुए भी नहीं चलता। सभी दुःख-सुख, प्रीति-अप्रीति सभी चक्के पर है, कील सबसे बाहर है। साधु की सारी चेष्टा यही है कि अपनी कील को, ज्ञायक भाव को पकड़े रहे। ध्यान में, समाधि में यही एक है। जिसने कील का सहारा लिया वह जन्म-मरण, दुःख-सुख सबसे अछूता रह जाता है।

चन्द्रमा-सा शीतल : —चन्द्रमा में ताप नही है मात्र प्रकाश है। साधु का सानिध्य जलाता नही है शीतल करता है। जहाँ जाकर आश्वासन मिले, बल मिले, हिम्मत मिले, आशा बँधे कि मुझे भी मिल सकता है।

मणि-सा कांतिमान :—जैसे किसी मणि को देखकर सम्मोहित हो जाते है—उसी की तरफ देखते रह जाते हैं, नजर वहाँ से हटती ही नही, वैसा।

पृथ्वी-सा सहिष्णु :—कुछ भी हो जाए साधु नही डगमगाता। रोग में, निरोग अवस्था मे, सम्मान मे, अपमान में, जीवन में, मरण मे, हर हालत मे एक समान।

सर्प-सा अनियत-आश्रमी :—सर्प अपना घर नही बनाता। जहाँ जगह मिल गयी वही विश्राम कर लेता है। इसका अर्थ है कि कोई सुरक्षा का उपाय नही करता। भोजन के लिए चौके चलाना, बसें साथ रखना, रुपिया-पैसा रखना, किसी अन्य के पास रखना, यह सब सुरक्षा के साधन नही करता।

आकाश-सा निरावलंब :—कोई सहारा नही, आकाश जैसा बिना आधार, बिना खंभे। दिगम्बर का

(शेष पृ० ३२ पर)

श्री शांतिनाथ चरित सम्बन्धी साहित्य

□ कु० मृदुल कुमारी, बिजनौर

'श्री शान्तिनाथ पुराण' जैन वाङ्मय का अनुपम ग्रंथ है। इस ग्रन्थ मे महाकवि 'असग' ने जैन धर्म के सोलहवे तीर्थंकर भगवान् शान्तिनाथ का चरित्र वर्णित किया है।

भगवान् शान्तिनाथ का चरित्र जैन साहित्यकारों का प्रिय तथा प्रेरक विषय रहा है। दसवी शताब्दी मे महाकवि असग ने 'श्री शान्तिनाथ पुराण' की रचना की। जिसमे भगवान् शान्तिनाथ के पूर्व भवो का विस्तृत वर्णन मिलता है। उनके गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान, निर्वाण आदि पञ्चकल्याणको का वर्णन भी मिलता है। इन्होंने आचार्य गुणभद्र के उत्तर पुराण के बासठ-त्रेसठवें पर्व मे उल्लिखित भगवान् शान्तिनाथ के चरित को शान्तिनाथ पुराण के रूप मे प्रस्तुत किया है। इस पुराण मे १६ सर्ग है जिनमे कुल मिलाकर २३५० श्लोक है। इसकी रचना शक सवत् ९१० के लगभग हुई है। शान्तिनाथ पुराण के कवि प्रशस्ति पद्यो से स्पष्ट होता है कि असग ने साधुजनो का प्रकृष्ट मोह शात करने के लिए शान्ति जिनेन्द्र का यह 'शान्तिनाथ पुराण' रचा था[१]।

प्राकृत, सस्कृत, कन्नड, तमिल, मराठी आदि भारतीय भाषाओं मे इस चरित को आधार बनाकर लिखे गये अनेक कवियों के ग्रथ उपलब्ध होते है जिनका सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१. शान्तिनाथ पुराण : कन्नड़ कवि पोन्न—पोन्न कन्नड भाषा के प्रसिद्ध कवि हुए हैं। कवि चक्रवर्ती, उभय चक्रवर्ती, सर्वदेव कवीन्द्र और सौजन्य कुन्दांकुर आदि इनकी उपाधियां थी। इनके गुरु का नाम इन्द्रनंदि था। पोन्न तो बाण की बराबरी करते हैं। नयसेन ने अपने धर्मामृत के ३९वें पद्य के निम्न वाक्य 'असगन देसि पोन्नत महोत्तेन तिवेत्त वेडगुं' मे असग और पोन्न का नामोल्लेख किया है। पोन्न ने स्वयं शान्तिनाथ पुराण (९५० ई०) में कन्नड़ कविता में अपने को (कन्नड़ कवितेयोल असगम्) वाक्य द्वारा असग के समान होना बतलाया है।

यह महाकवि राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण तृतीय (ई. ९३९-९६८) के दरबारी कवि थे। इनकी रचना का काल ई० सन् ९५० के आसपास का रहा होगा। यह वेगिमण्डलान्तर्गत पुंगनूर के निवासी थे। वेगिमण्डल के पुंगनूर में नागमय्य नाम का एक जैन ब्राह्मण था। मल्लपय्य और पुन्नमय उसके दो पुत्र थे। वाणियवाडि के जिनचन्द्र देव इनके गुरु थे और अपने गुरु के गौरवार्थ विनयपूर्वक इन दोनों भाइयो ने १६वें तीर्थंकर शान्तिनाथ की जीवनी पर आधारित महाकवि पोन्न के द्वारा शान्तिनाथ पुराण की रचना कराई। इसका दूसरा नाम 'पुराण चूड़ामणि' है। मल्लपय्य की एक बेटी थी अत्तिमब्बे। 'दान चिन्तामणि' इस महिला की उपाधि थी। इसकी दानशीलता सर्वत्र विख्यात रही। इस देवी ने महाकवि पोन्न के शान्तिपुराण की एक हजार प्रतियां लिखवाकर रत्न एवं स्वर्ण की जिन प्रतिमाओं के साथ उनका सम्पूर्ण कर्नाटक मे दान किया[१]।

शान्तिनाथ पुराण के प्रारम्भ मे ९वें आश्वास तक तीर्थंकर शान्तिनाथ के ११ पूर्वभवो का वर्णन है। केवल अन्तिम तीन आश्वासो मे शान्तिनाथ का चरित्र प्रतिपादित है। पोन्न की इस शान्तिनाथ पुराण कथा मे और कमलभव (ई. १२३५) के शातिपुराण की कथा मे अनेक स्थलो पर अन्तर दृष्टिगोचर होता है, इसका क्या कारण है? यह स्पष्ट रूप से ज्ञात नही है। शांतिपुराण मे लोकाकार देशानिवेशन, चतुर्गतिस्वरूप आदि जैन पुराण के ८ लक्षणों के साथ महाकाव्यो के ९८ लक्षण भी मौजूद है। जहां तहां विविध रसोत्पत्ति की अनुपम रचनाएँ भी वर्तमान हैं फिर भी यह कहना पड़ेगा कि पप और रत्न की रचनाओ मे उपलब्ध वर्णन-सौंदर्य और पात्र रचना कौशल

पोन्न की कृतियों में नही है। हाँ, पोन्न का बन्ध प्रौढ़ है। वस्तुत: पारिभाषिक शब्द तथा संस्कृत भाषा का व्यामोह, इन दोनो ने महाकवि पोन्न की कृतियों की शैली को क्लिष्ट बना दिया है तथापि कविता मे स्वाभाविकता और पांडित्य विद्यमान है। कवि ने इसमे १६ छन्दो का उपयोग किया है। काव्य में चम्पू काव्य के अनुकूल सुप्रसिद्ध अक्षर-वृत्त एवं कन्द अधिक हैं उनमे भी शान्तरसाभिव्यक्ति के सहायक कन्द अत्यधिक है। इस पुराण मे कुल १६३६ पद्य, २ गुष्ठे एव त्रिपादियाँ भी है। इसमे यत्र तत्र सुन्दर कहावतें भी मौजूद है[४]। पोन्न के अनुसार असग कन्नड़ कवियो मे सौ गुने प्रतिभाशाली थे[५]।

२. शान्तिनाथ चरित : शुभकीति - शुभकीति आचार्य का रचनाकाल संवत् १४३६ है। इन्होंने अपनी गुरु परम्परा का उल्लेख नही किया है। प्रस्तुत शांतिनाथ चरित १६ संधियों मे पूर्ण हुआ है। इसकी एक मात्र कृति नागौर के शास्त्र भडार मे सुरक्षित है। इस ग्रथ में जैनियो के १६वें तीर्थंकर भगवान् शांतिनाथ का जीवन परिचय अंकित है। भगवान् शांतिनाथ ५वे चक्रवर्ती थे उन्होंने षट्खण्डो को जीतकर चक्रवर्ती पद प्राप्त किया था। अन्त मे अविनाशी पद प्राप्त किया। कवि ने इस ग्रथ को महाकाव्य के रूप मे बनाने का प्रयत्न किया है। काव्य कला की दृष्टि से यह भले ही महाकाव्य न माना जाए, परन्तु ग्रथकर्त्ता की दृष्टि उसे महाकाव्य बनाने की रही है। १५वी शताब्दी के विद्वान कवि शुभकीति ने अत मे ग्रंथ का रचनाकाल स. १४३६ दिया है जो एक पद्य से स्पष्ट होता है[६]।

कवि ने ग्रथ निर्माण मे प्रेरक रूपचन्द्र का परिचय देते हुए कहा है कि वे इक्ष्वाकुवंशी कुल मे आशाधर हुए, जो ठक्कुर नाम से प्रसिद्ध थे और जिन शासन के भक्त थे इनके धनवउ ठक्कुर नाम का पुत्र हुआ। उनकी पत्नी का नाम लोनावती था, जिसका शरीर सम्यक्त्व से विभूषित था, उससे रूपचन्द नाम का पुत्र हुआ, जिसने उक्त शांति-नाथ चरित का निर्माण कराया। कवि ने प्रत्येक संधि के अंत मे रूपचन्द की प्रशसा मे आशीर्वादात्मक अनेक पद्य दिए है[७]।

कवि ने शांतिनाथ चरित के विषय मे लिखा है कि शांतिनाथ का यह चरित वीर जिनेश्वर ने गौतम को कहा, उसे ही जिनसेन और पुष्पदत ने कहा वही मैंने भी कहा है[८]।

३. शान्तिनाथ चरित : कवि महाचन्द्र—कवि महाचन्द्र इल्लराज के पुत्र थे। प्रशस्ति मे काष्ठा संघ माथुरगच्छ पुष्करगण मे भट्टारक यशःकीर्ति और उनके शिष्य गुणभद्र सूरि थे।

कवि की एक मात्र कृति 'शांतिनाथ चरित' है जिसमे १३ संधियाँ अथवा परिच्छेद और २६० कड़वक हैं जिनको आनुमानिक श्लोक संख्या पांच हजार है। ग्रंथ की प्रथम संधि के १२ कड़वकों में मगध देश के शासक राजा श्रेणिक और रानी चेलना का वर्णन, श्रेणिक का महावीर के समवसरण मे जाना और महावीर को वंदन कर गौतम से धर्म कथा का सुनना।

दूसरी संधि के २१ कड़वकों में विजयार्ध पर्वत का वर्णन, अकलंक कीर्ति की मुक्तिसाधना और विजयांक के उपसर्ग निवारण करने का कथन है। तीसरी सधि के २३ कड़वको मे भगवान् शांतिनाथ की पूर्व भवावली का कथन है। चौथी सधि के २६ कड़वकों मे शांतिनाथ के भवान्तर बलभद्र के जन्म का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। पाचवी संधि के १६ कड़वकों में वज्रायुध चक्रवर्ती का सविस्तार कथन है और छठी संधि के २६ कड़वकों में मेघरथ की सोलह कारण भावनाओं की आराधना और सर्वार्थसिद्धि गमन है।

सातवी संधि के २५ कड़वको मे मुख्यत: भगवान् शांतिनाथ के जन्म-अभिषेक का वर्णन है। आठवीं संधि के २६ कड़वको में भगवान शांतिनाथ की कैवल्य प्राप्ति और समवसरण विभूति का विस्तृत वर्णन है। नवी संधि के २६ कड़वको मे भगवान् शांतिनाथ की दिव्य ध्वनि एव प्रवचनो का कथन है।

दसवी सधि के २० कड़वकों में त्रेसठ शलाका पुरुषो का चरित संक्षिप्त वर्णित है। ११वी संधि के ३४ कड़वको में भौगोलिक आयामो का वर्णन है। भरत क्षेत्र का ही नही, तीनों लोकों का सामान्य कथन है। १२वी सधि के १८ कड़वकों में भगवान्शांतिनाथ द्वारा वर्णित सदाचार का कथन है। और अन्तिम १३वी सधि के १७ कड़वको मे शांतिनाथ का निर्वाणगमन है।

यद्यपि इस ग्रंथ में कथावस्तु की दृष्टि से कोई नवीनता नहीं है, किन्तु काव्यकला और शिल्प की दृष्टि से रचना महत्वपूर्ण है। ग्रंथ का वर्ण्य विषय पौराणिक है इसी से उसे पौराणिकता के सांचे में ढाला गया है। आलोच्यमान रचना अपभ्रंश के चरित काव्यो की कोटि की है। चरित काव्यों के सभी लक्षण हैं। प्रत्येक संधि के आरभ मे कवि ने अग्रवाल श्रावक साधारण की शांतिनाथ से मंगल कामना की है[९]।

ग्रंथ रचना में प्रेरक जोयणिपुर (दिल्ली) निवासी अग्रवाल कुलभूषण गर्ग गोत्रीय साहू भोजराज के पांच पुत्रो मे से द्वितीय पुत्र ज्ञानचन्द्र का पुत्र साधारण था, जिसकी प्रेरणा से ग्रंथ की रचना की गई है। कवि ने प्रशस्ति मे साधारण के परिवार का विस्तृत परिचय कराया है। उसने हस्तिनापुर की यात्रार्थ संघ चलाया था और निज मन्दिर का निर्माण कराकर उसकी प्रतिष्ठा सम्पन्न कर पुण्यार्जन किया था। ज्ञानचन्द्र की पत्नी का नाम सउराजही था जो अनेक गुणों से विभूषित थी। उससे तीन पुत्र हुए थे। पहला पुत्र सारंग साहु था, जिसने सम्मेद शिखर की यात्रा की थी। उसकी पत्नी का नाम तिलोकाही था। दूसरा पुत्र साधारण बड़ा विद्वान् और गुणी था। उसने शत्रुंजय की यात्रा की, उसकी पत्नी सोवाही थी उससे चार पुत्र हुए थे—अभयचन्द्र, मल्लिदास, जितमल्ल और सोहिल्ल। उनकी चार पत्नियों के नाम चंदणही, भदासही, समदो और भीखणही। ये चारो ही पतिव्रता, साध्वी और धर्मनिष्ठा थी। इस तरह साहू साधारण ने समस्त परिवार के साथ 'शांतिनाथ चरित' का निर्माण कराया[१०]।

कवि ने इस ग्रंथ की रचना वि. सं. १५८७ की कार्तिक कृष्ण पंचमी के दिन मुगल बादशाह बाबर के राज्यकाल मे योगिनीपुर में बनाकर समाप्त की थी[११]।

४. शांतिनाह चरियं : देवचन्द्राचार्य—आचार्य गुणसेन के शिष्य और हेमचन्द्राचार्य के गुरु पूर्णतल्लगच्छीय देवचन्द्राचार्य कृत १६वें तीर्थंकर शांतिनाथ का चरित लिखा गया[१२]।

इसका परिणाम ग्रन्थाग्र १२००० है। इसकी रचना संवत् ११६० में हुई। यह प्राकृत भाषा में गद्य पद्यमय है। बीच-बीच में अपभ्रंश भाषा भी प्रयुक्त हुई है। इसकी रचना खम्भात में की गई। ग्रंथ की प्रस्तावना में कुछ आचार्यों के नामों का उल्लेख है—इन्द्रभूति (कविराज चक्रवर्ती) भद्रबाहु—जिन्होंने वासुदेव चरित लिखा (सवाय लक्खं बहुकहाकलियम्) हरिभद्र समराादित्य कथा के प्रणेता दाक्षिण्यचिह्न सूरि कुवलयमाला के कर्ता तथा सिद्धर्षि उपमितिभवप्रपंचा के कर्ता (यह अब तक अप्रकाशित है)।

इनकी एक कृति 'मूल शुद्धि प्रकरण टीका' है। इसके चौथे और छठे स्थानक मे आने वाले चन्दना कथानक तथा ब्रह्मदत्त कथानक को देखने से ज्ञात होता है कि इनमें आने वाली अधिकांश गाथाएं तथा कतिपय छोटे-बड़े गद्य सन्दर्भ शीलाकाचार्य के 'चउपन्नमहापुरिसचरिय' मे आने वाले 'वसुमइसविहाणय' के अवशिष्ट भागों में से कितना ही भाग अल्पाधिक शाब्दिक परिवर्तन के साथ चउपन्नमहापुरिमचरिय का ही ज्ञात होता है। अनुमान है सांतिनाहचरिय पर भी चउप्पन्न का प्रभाव हो। चूंकि अप्रकाशित होने से कहना कठिन है। शांतिनाथ पर इस विशाल रचना के अतिरिक्त प्राकृत में एक लघु रचना ३३ गाथाओं में भी जिन वल्लभ सूरि रचित तथा अन्य सोमप्रभ सूरि रचित का उल्लेख मिलता है[१३]।

५. शांतिनाथ चरित : दुलीचन्द्र—इसमें १६वें तीर्थंकर शान्तिनाथ का चरित्र वर्णित है[१४]। भगवान् शांतिनाथ तीर्थङ्कर के साथ चक्रवर्ती तथा कामदेव भी थे। इन सभी विशेषताओ का इस काव्य मे वर्णन है। काव्य मे १६ अधिकार हैं तथा ग्रन्थाग्र ४३७५ श्लोक प्रमाण है। इसकी भाषा अलंकारिक तथा वर्णन रोचक एवं प्रभावोत्पादक है। प्रारम्भ में शृंगार रस के साथ-साथ शांत रस की ओर प्रवृत्ति पर कवि ने अच्छा प्रकाश डाला है[१५]।

६. शान्तिनाथ चरित : श्रीधर—११वी-१२वी शताब्दी के आचार्यों में श्रीधर ने सम्भवतः सं० ११६६ मे शांतिनाथ चरित की रचना की[१६]।

७. शांतिनाथ चरित : माणिक्यचन्द्र सूरि—मम्मट कृत काव्य प्रकार के टीकाकार माणिक्यचन्द्र सूरि की दूसरी रचना 'शांतिनाथ चरित है। इसकी एक ताडपत्रीय प्रति मिलती है। इसमे आठ सर्ग हैं। इसकी रचना विस्तार ५५७४ श्लोक प्रमाण है जो कवि ने स्वय

निर्दिष्ट किया है[17]। इसका आधार हरिभद्र सूरि का समराइच्चकहा माना जाता है।

इसमें वैसे महाकव्य के सभी बाह्य लक्षण समाविष्ट हैं परन्तु भाषा शैथिल्य सर्वांगीण जीवन के चित्र उपस्थित करने की अक्षमता एवं मार्मिक स्थलों की कमी इसे प्रमुख महाकाव्य मानने में बाधक है। सर्गों के नाम वर्णित घटनाओं के आधार पर रखे गये हैं। सप्तम सर्ग तो जैन धर्म के सिद्धान्तों से ही परिपूर्ण है। काव्य वैराग्य मूलक और शान्तरस पर्यवसायी है। इसका कथानक शिथिल है और इसमे प्रबन्ध रूढ़ियो का पालन हुआ है। मंगलाचरण परमब्रह्म की स्तुति से प्रारम्भ होता है। छठे, सातवें और आठवे सर्ग मे विविध आख्यानों का समावेश ह। कई स्थलो पर स्वमतप्रशसा और परमतखडन किया है। इस काव्य मे स्तोत्रों और महात्म्य वर्णनों की प्रचुरता भी दिखाई देती है। छठे और आठवें सर्ग में तीर्थंकर शांतिनाथ के स्तोत्र तथा कई तीर्थों के महात्म्य का वर्णन है। इस शातिनाथ चरित का कथानक ठीक वही है जो मुनिभद्र सूरि के शांतिनाथ महाकाव्य का है, परन्तु इसमे कथानक का विभाजन नवीन ढंग से किया गया है। इसमे प्रथम सर्ग मे शांतिनाथ के प्रथम भव, द्वितीय, तृतीय भव का वर्णन है। द्वितीय सर्ग मे चतुर्थ पचम भव, तृतीय सर्ग में षष्ठ और सप्तम भव का, चतुर्थ सर्ग में अष्टम और नवम भव का, पंचम सर्ग मे दशम और एकादश भव का, षष्ठ सर्ग में शांतिनाथ के जन्म, राज्याभिषेक, दीक्षा, केवलोत्पत्ति तथा देशना का वर्णन है सप्तम सर्ग में देशना के अर्न्गत द्वादश भव तथा शील की महिमा का वर्णन है और अष्टम सर्ग में श्री शांतिनाथ का निर्वाण का वर्णन है। कथानक विभाजन की दृष्टि से नहीं अपितु नवीन अवान्तर कथाओं की योजना में भी माणिक्यचन्द्र सूरि ने अपनी मौलिकता प्रदर्शित की है।

इसकी भाषा सरल और प्रसाद गुण युक्त है। अधिकतर इसमें छोटे समासों वाली या समास रहित पदावली का प्रयोग हुआ है। इसमे शब्दालंकार के चमक और अनुप्रास के प्रयोग से भाषा में प्रवाह और माधुर्य आ गया है। अर्थालंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक एवं विरोधाभास आदि अलंकार की सुन्दर योजना हुई है। इसमे प्रायः अनुष्टुप छन्द का प्रयोग हुआ है। परन्तु सर्ग के अन्त में छन्द बदल दिया गया है। मालिनी, शार्दूलविक्रीडित आदि कुछ छन्दों का प्रयोग हुआ है। शांतिनाथ चरित की रचना विक्रम की तेरहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध मानने में आपत्ति न होनी चाहिए। अनुमान किया जाता है कि यह कवि की वृद्ध अवस्था होगी क्योंकि इस कृति में कवि अपने पांडित्य प्रदर्शन के प्रति उदासीन है जबकि काव्य प्रकाश संकेत में उनके प्रौढ़ पांडित्य के दर्शन होते हैं[18]।

८. शान्तिनाथ चरित : ज्ञान सागर—वृहत्तपागच्छ के रत्नसिंह के शिष्य ज्ञान सागर ने संवत् १५१७ में शांतिनाथ चरित की रचना की[19]।

९. शान्तिनाथ चरित : मुनि भद्र सूरि—मुनिभद्र सूरि के शांतिनाथ चरित महाकाव्य की कथावस्तु का आधार मुनिदेव सूरि का शांतिनाथ चरित है।

मूल कथा के साथ-साथ इसमें अवान्तर कथाओं की भरमार है यथामंगल कुंभ कथानक, धनद, पुत्र कथा, अमरदत्त नृप कथा, वणिक् द्वय कथा, परिवार कथा, अमृताप्रभूपति कथा, स्कन्दिल पुत्र कथा, गुण वर्म कथा, अग्नि शर्मा द्विजकथा, भानुदत्त कथा, माधव कथा आदि। इसमे धनदत्त की कथा ५, ६, ७ सर्ग घेरे हुए है। इस अवान्तर कथाओं के चयन में भी प्रस्तुत काव्य के रचयिता मुनिभद्र ने मुनिदेव का अनुकरण किया है। इस तरह प्रस्तुत काव्य मे जैन धर्म के तत्त्वो का अनुकरण भी मुनिभद्र ने किया है। इसमें मुनिभद्र ने मौलिक सृजन शक्ति का परिचय नहीं दिया फिर भी यह काव्य अपनी प्रौढ भाषा शैली और उदात्त अभिव्यंजना शक्ति से अपना पृथक् स्थान रखता है।

यह काव्य १९ सर्गों मे विभक्त है। अनुष्टुप मान से रचना परिमाण ६२७२ श्लोक प्रमाण है। भवान्तर तथा अवान्तर कथानकों के प्राचुर्य के साथ इस काव्य में स्तोत्रों और महात्म्यों का समावेश भी अधिक मात्रा में हुआ है। प्रत्येक सर्ग का आरम्भ शांतिनाथ स्तवन से हुआ है और बीच-बीच मे देवताओं और कथानक के पात्रों द्वारा जिनेन्द्र स्तुति, मेघरथ आदि सत्पुरुषों की देवों द्वारा स्तुति की गई है। शत्रुंजय महात्म्य आदि एक दो महात्म्य भी हैं।

इस काव्य में अनेक स्त्री-पुरुष पात्र हैं किन्तु चरित्र की दृष्टि से शांतिनाथ, चक्रायुध, अशनिघोष सुतारा आदि प्रमुख हैं। प्रकृति चित्रण कम है, कहीं-कहीं सक्षेप में प्रातः संध्या, सर, उपवन, ऋतु वर्णन हैं। सौन्दर्यचित्रण भी है किन्तु परम्परागत उपमानों द्वारा ही मौलिक कल्पनाएँ कवि की सुन्दर हैं। इस काव्य मे सामयिक सामाजिक व्यवस्था सुन्दर है। अपने युग में जन्म, विवाह आदि अवसर पर सामाजिक धार्मिक कार्यों का विवरण देकर कवि ने रीति-रिवाजों पर अच्छा प्रकाश डाला है[२०]।

काव्य कला की दृष्टि से विविध रस हैं। शांत रस प्रधान परन्तु वीर रौद्र, शृंगार वात्सल्य की छटा भी है। काव्य की भाषा में प्रौढ़ता, लालित्य एवं अनेक रूपता के दर्शन होते है। अलंकारो मे यमक कई स्थलों पर प्रयोग मिलता है। अलंकारों में यमक के अतिरिक्त भाषा की सरलता अक्षत है। उपमा, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास की यत्र तत्र स्वाभाविक योजना है।

प्रत्येक सर्ग में एक छन्द तथा अंत में छन्द परिवर्तन है। १४वें सर्ग में विविध छन्दों का प्रयोग है। कुल मिला कर १६ छन्द हैं। उपजाति छन्द सर्वाधिक है[२१]।

कवि ने काव्य पंचक (रघुवंश, कुमार सभव, किरातार्जुनीयम्, शिशुपालवध, नैषध) के समकक्ष जैन साहित्य में काव्य के अभाव की पूर्ति के लिए उक्त काव्य रचना की है। इस काव्य का संशोधन राजशेखर सूरि ने किया था। कवि का रचना काल भी प्रशस्ति मे संवत् १४१० दिया गया है[२२]।

(क्रमशः)

सन्दर्भ-सूची

१. स पुराणमिदं व्यधत्त शान्तेरसगः साधुजन प्रमोह शान्त्यै: ।।
कवि प्रशस्ति पद्य, श्रीशांतिनाथ पुराण पृ. २५७.

२. श्री परमानंद आचार्य : जैनधर्म का प्राचीन इतिहास, भाग २ पृ २१५-१६.

३. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास (भाग ७), पार्श्वनाथ विद्याश्रम प्रकाशन, पृ. १६.

४. जैन साहित्य का वृसत् इतिहास भाग ७, पृ. १६-२०

५. वही—पृ. १०.

६. आसी विक्रमभूपतेः कलियुगे शांतोत्तरे संगते।
सत्यं क्रोधननामधेयविपुले संवच्छरे संमते।
दत्ते तत्र चतुर्दशेतु परमो षट्त्रिंशके स्वांशके।
मासे फाल्गुणि पूर्व पक्षकबुधे सम्यक् तृतीयां तिथौ।।
—जैनधर्म का प्राचीन इतिहास, भाग २, पृ. ४८५.

७. वही—पृ. ४८५.

८. शुभकीर्ति : शांतिनाथ चरित १०वी संधि।

६. जैनधर्म का प्राचीन इतिहास, भाग २, पृ. ५२५.

१०. वही—पृ. ५२५.

११. विक्रमरायहु ववगय कालहु,
रिसिवसु-सर-भुविअंकालइ।
कत्तिय पढम पक्खि पंचमिदिणि,
हुउ परिपुण्ण वि उग्गंतइ इणि।।
—कवि महाचन्द्र : शांतिनाथ चरित प्रशस्ति

१२. जिन रत्नकोश, पृ. ३७६.

१३. डा० गुलाबचन्द्र चौधरी : जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ६, पृ. ८६.

१४. दुलीचन्द्र पन्नालाल देवरी १६२३, हिन्दी अनुवाद—जिनवाणी प्र० का० कलकत्ता १६३६.
(इसका अनुवाद सूरत से पं० लालाराम शास्त्रीकृत भी उपलब्ध है।)

१५. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास भाग ६, पृ. १०६.

१६. जै. ध. प्रा. इ. भाग २, पृ. ३५७.

१७. चतुः सप्तति संयुक्ते पञ्च पञ्चाशता शतो।
प्रत्यक्षर गणनया ग्रन्थमानं भवेदिह।।
—ग्रन्थाग्र ५५७४ प्रशस्ति श्लोक २०.

१८. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ६, पृ. १०५-६.

१६. वही—पृ. १०३.

२०. शांतिनाथ चरित : मुनिभद्र सूरि—सर्ग १/५४, ३/११३, ११६-१२८, ४/२६, ५६-६०.

२१. जैन साहित्य का वृहत् इतिहास भाग ६, पृ. ५१०.

२२. प्रशस्ति पद्य ११-१४ शांतिनाथ चरित : मुनिभद्र सूरि

दिल की बात दिल से कही—और रो लिए!

□ पद्मचन्द्र शास्त्री सं० 'अनेकान्त'

जयन्ती : एक गलत परम्परा :

तीर्थंकर भगवान तद्भव मोक्षगामी जीव होते हैं और उनके कल्याणकों के मनाये जाने का शास्त्रों में विधान है। जिनको पूर्व के किसी भव में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है उनके पांच कल्याणक होते हैं तथा चरम (चालू) भव में ही चौथे-पाँचवें गुणस्थान मे तीर्थंकर प्रकृति बाँधने वालों के तप, ज्ञान, मोक्ष ये तीन और छठे-सातवें गुण-स्थान में तीर्थंकर प्रकृति बाँधने वालों के ज्ञान और मोक्ष ये दो कल्याणक होते हैं—"तीर्थबन्धप्रारम्भश्चरमांगाणा-मप्रमत्तसंयत देशसंयतयोस्तदा कल्याणानि निष्क्रमणा-दीनित्रीणि प्रमत्ताप्रमत्तयोस्तदा ज्ञाननिर्वाणे द्वे।"—गो. क./जी. प्र. ३८१/५४६/५ कल्याणक तद्भवमोक्षगामी के ही मनाये जाते है।

णमोकार मंत्र गर्भित किसी परमेष्ठी की जयंती मनाने का शास्त्रों में कही विधान नहीं है न कभी किसी पूर्व परमेष्ठी की जयन्ती मनाई ही गई। यदि कहीं जयन्ती मनाने का उल्लेख हो तो आगम मे देखें। वैसे तो एक-एक तीर्थंकर के समय मे कोड़ा-कोड़ियो मुनियो के मोक्ष जाने का वर्णन है—उनमें आचार्य, उपाध्यायऔर साधु सभी रहे—किसी की कोई जयन्ती नही मनाई गई। हम तो देख रहे हैं कि हमे कहीं, परम्परित पूर्वाचार्यों मे ही किसी एक की हो, किसी जयन्ती मनाये जाने का उल्लेख मिल जाय। आखिर, धरसेन, गुणधर, यतिवृषभ, भूतवलि, पुष्पदन्त, कुन्दकुन्द प्रभृति सभी तो हुए और ये वर्तमान आचार्य और मुनियों से अपनी श्रेष्ठता में न्यून नही कहे जा सकते। अस्तु, कहीं भी किसी की जन्म, दीक्षा जैसी जयंतियों अथवा कल्याणकों का उल्लेख नही है। जैसा चलन कि अब चल पडा है।

संस्कारों मे सोलह संस्कार श्रावक धर्म में है और श्रावक गण जन्म, विवाह आदि जैसे संस्कारों को जयन्ती (जन्मदिन आदि) के रूप में मनाते देखे जाते हैं और ऐसी जयन्तियाँ सांसारिक सुख समृद्धि की कामना में मनाई जाती हैं, जो श्रावक के लिए मनाना-मनवाना उपयुक्त है। साधु तो सांसारिक बन्धन काट कर परम्परया मोक्ष पाने के उद्देश्य मे बना जाता है और इसीलिए साधुओ को वैराग्य और तप जैसे संसार छेदक उपक्रमों मात्र का विधान है—'ज्ञान-ध्यान तपोरक्तः।' यदि सांसारिक चाहनाओं की ही पूर्ति करना हो तो साधु बनना ही निरर्थक है।

उक्त तथ्य के होते हुए भी पंचपरमेष्ठियों मे इस युग के तीर्थंकर महावीर के बताए सिद्धान्तो को प्रचार में लाने की दृष्टि से (आगम में उल्लेख के अभाव मे भी) दिल्ली की जैन मित्र मण्डल संस्था ने महावीर जयन्ती मनाना आरम्भ किया और धीरे-धीरे यह भारत मे प्रच-लन पा गई। बाद को कतिपय अन्य तीर्थंकरो की जय-न्तियाँ मनाना भी चालू हो गया। और किसी अपेक्षा धर्म प्रचार की दृष्टि से मोक्षप्राप्त आत्माओ के जन्म-कल्याणक का यह सम-रूप लोगो मे धर्म प्रचार का साधक सिद्ध हुआ। चूकि महावीर आदि कृत्यकृत्य (मोक्ष प्राप्त) थे, उन्हें इससे कुछ लेना देना नही था। तीर्थंकरों की मोक्षप्राप्ति से पूर्व भी उनके कल्याणक उन्हें स्वय कोई आकर्षण पैदा नही करते, जबकि आज सभी मे आकर्षण ही आकर्षण शेष हैं।

वर्तमान में त्यागी-साधुओं की जयन्तियाँ मनाने की बाढ-सी आ गई है। जन्म और दीक्षा की जयन्तियाँ तो दर किनार रहा। अब तो आचार्यों मे सर्वज्ञ भी होने लगे, तब भविष्य में केवलज्ञान की जयन्ती की सम्भावना होनाभी कोई आश्चर्य नही। सुना है, कुछ समय पूर्वही लोगों ने एक आचार्य को 'कलिकाल-सर्वज्ञ' की उपाधि से भूषित किया है। सोचना यह है कि लोगों को क्या हो गया है?

जब इस काल मे यहाँ से मोक्ष नही, तब केवलज्ञान की सम्भावना कैसे ? और केवलज्ञान के दश-अतिशय उनमें किसने कब और कहाँ देखे ? आदि । इन विडम्बनाओं को देखने से ऐसा भी सन्देह होने लगा है कि भविष्य में कहीं मुनियों की चार या पाँच जयन्तियाँ तक मनाना भी चालू न हो जायं ? लोगो का तो कहना है—इन जयन्तियों मे प्रभूत-द्रव्य का अपव्यय होता है । पर हम इससे उल्टा विचार कर चलते हैं—हमें द्रव्य के आय-व्यय की चिन्ता नहीं होती । द्रव्य तो आनी जानी चीज है, वह तो जैसे आया है वैसे ही जायगा, उसका क्या गम ? हमें तो दुःख तब होता है जब हम आगम-रक्षा का लोप और श्रावक व मुनियो द्वारा आगम-आज्ञा का उलघन देखते-सुनते है । सम्भव है कि परिग्रह-संग्रही को आत्म-दर्शन कराने की भाति यह भी कोई धर्म-मार्ग के घात की विडम्बना हो । वैसे भी आज तो अनेक शोधक कुन्दकुन्दाद्याचार्यों की कथनी के शुद्ध रूपो की खोज तक मे लगे हैं । इसलिए कई लोगो को तो आगम-रूपो पर सन्देह तक होने लगा है कि आज जो आगम-रूप माना जाता है, कही वह विकृत रूप तो नही है ? वे इसी प्रतीक्षा मे है कि जब शुद्ध-रूप समक्ष आए, तब उस पर चलने का विचार किया जाय । सर्वज्ञ जाने, ये शोधक है या और कुछ ?

स्व-समय और पर-समय ?

हम और आप दोनों ही इस मायने मे सदा भाग्यशाली रहे कि हमे और आपको कभी कोई अज्ञानी नही टकराया—जो भी मिला वह बुद्धिमान ही मिला । कभी किसी ने अपने को नासमझ नही समझा । चाहे लोग उसे अज्ञानी भले ही समझते रहे हो । पर, किसी के समझने से तो कोई मूर्ख नही हो जाता; जब तक कि उसे अपनी अज्ञानता का अनुभव स्वयं न हो ।

हमारी सतहत्तर वर्ष की उम्र मे हमे बहुत से जानकार मिले । उनमे कई ऐसे मिले जिन्होने अपने को विविध ग्रन्थों का गहन स्वाध्यायी होने का दावा तक किया । हालां कि ऐसे विभिन्न विद्वानो मे भी आगमों के मूलार्थ करने के विषय मे भारी मत-भेद रहे ।

हमने एक स्वाध्यायी और वाचक से कहा—कि हम मात्र किसी एक पक्ष को लेकर ही न चला करें—आचार्यों के मूल शब्दार्थ पर चिन्तन कर ही बोला करे ।

वे बोले—हम तो कोई अपना पक्ष नही लेते, हम तो जिनवाणी के अनुसार ही व्याख्यान करते हैं ।

हमने कहा—यदि ऐसा है तो आप कुन्दकुन्द स्वामी के समयसार की उरु दूसरे नम्बर की गाथा की द्वितीय पंक्ति की व्याख्या कीजिए, जो उन्होने 'पर-समय' की व्याख्या मे कही है—'पुग्गलकम्मपदेसट्ठिय च जाण पर-समयं ।'

उन्होने कहा—जो जीव (व्यक्ति) पुद्गल कर्म प्रदेशों मे—उनके फलों मे, आपा मानना है वह पर-समय (पर-समयी) है ।

हमने कहा—'जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ'—कुछ पाने के लिए, गहरे पानी में गोता लगाना पडता है—उसमे घुसना पडता है । समुद्र से मोती निकलता है, गहरे पानी मे पैठने से—केवल पानी के ऊपर तैरने से मोती नही निकलता । हमे आचार्यों के मूल-शब्दार्थ के अनुसार प्रवर्तन करना चाहिए ।

ऊपर की गाथा की शब्दावली से तो कर्म या कर्म-फलो मे आपा मानने या आपा जानने जैसा भावात्मक क्रियारूप अर्थ प्रकट नही होता । वहाँ तो स्पष्ट रूप मे द्रव्यरूप-पुद्गलकर्म प्रदेशो मे स्थितिमात्र की ही बात प्रकट होती है । वहाँ 'पुग्गलकम्मपदेसट्ठिय' शब्द पुद्गलरूप द्रव्यकर्मों को लक्ष्य कर रहा है और जड़द्रव्य कर्मों मे स्थित मात्र होना, आपा-पर मानने जैसे विकल्पो से सर्वथा विपरीत है । आपा-पर मानने जैसी क्रिया हो तो स्थिति कहाँ ? स्थित होना और क्रिया होना दोनो परस्पर विरोधी हैं । अत: वहाँ तो जीव यावत्काल पुद्गलरूप द्रव्य कर्मों से बँधा है तावत्काल जीव पर-समय है । जब यह रोधक-द्रव्यकर्मों से छुटकारा पाए तब स्व-समय होवे ।

गाथा का भाव स्पष्ट ऐसा जान पड़ता है कि जब तक यह जीव आत्मगुण घातक (घातिया) पौद्गलिक द्रव्यकर्म प्रदेशों में स्थित है—उनसे बधा है, तब तक यह जीव पूर्णकाल पर-समयरूप है । मोह क्षय के बाद—केवलज्ञानी में ही स्व-समय जैसा व्यपदेश किया जा

सकता है। और वह अवस्था चारित्र के धारण किये बिना नही होती। जब कि आज परिपाटी ऐसी बनायी जा रही है कि कुछ एकन्ती बिना चारित्र पालन किए, परिग्रह की बढ़वारी मे रस लेते हुए, चतुर्थ-गुण स्थान में ही पूर्ण स्व-समय में आने के स्वप्न देख, कुन्दकुन्द के 'पुग्गलकम्मपदेसट्ठिय' जैसे कथन की अवहेलना कर रहे हैं। उन्हें कुन्दकुन्द के 'चरित्तदंसणणाणट्ठिय जैसी त्रिमूर्ति का भी किंचित् ध्यान नही। इन्हें पाँचवें-छठे गुणस्थान से भी कोई प्रयोजन नही। खेद है, कि जिस मनुष्यगति में संयम की विशेषता होनी चाहिए उस सयम (चारित्र) से ये मुंह मोड़ रहे हैं। जब कि इसमे आचार्यों ने श्रावक के व्रत, प्रतिमाओं और महाव्रतादि धारण करने का क्रम निर्धारित किया है।

वे बोले—अपेक्षा दृष्टि से यह कथन भी ठीक है। आचार्यों ने यह भी कहा है—'अणियदगुणपज्जओध पर समओ········'। पुद्गलकर्म प्रदेशस्थितत्वात्परमेकत्वेन युगपज्जानन् गच्छश्च पर-समय इति प्रतीयते'—"पुद्गल-कर्मोदयेनजनिता ये नारकाद्युपदेशा व्यपदेशा, संज्ञा पूर्वोक्त-निश्चयरत्नत्रयाभावात् तत्र यदा स्थितो भवत्ययं जीवस्तदा त जीवं पर-समयं जानीहि इति।"

इस प्रकार हम दोनों की बात अधूरी और चिन्तन का विषय ही बनी रह गई। विज्ञो को इस चर्चा मे हमारी मदद करनी चाहिए कि हम कोरी चर्चा में ही स्व-समय की बात करें या स्व-समय को प्राप्त तीर्थंकर-अर्हन्तो वत् संयमाचरण के साथ उस ओर बढ़ने का प्रयत्न भी करें? जब कि आचार्यों ने समुदित रत्नत्रय को ही मोक्षमार्ग कहा है। तब ये कोरे सम्यग्दर्शन व आत्मा देख रहे हैं। —सम्पादक

(पृ० २४ का शेषांश)

अर्थ है आकाश जैसा—खाली। नग्न ही नहीं अपने को नग्न बना लिया, सबसे रहित।

ऐसा जैन साधु होता है जो मोक्ष मार्ग पर गमन करता है। प्रबुद्ध और उपशांत होकर—एक साथ शात भी और जागे हुए भी। जितना जागरण उतना शांत, साथ-साथ हैं। क्षणमात्र भी प्रमाद नहीं।

वास्तव मे भाव ही मुख्य लिंग है। द्रव्यलिंग परमार्थ नहीं हैं क्योकि भाव ही गुण-दोषो का कारण होता है। भाव ही असली बात है। क्रिया तो उसकी छाया है। जो भाव मे प्राप्त हुआ वह क्रिया मे आवेगा परन्तु जो क्रिया में घटता है वह भाव मे आवे यह जरूरी नही है। जो भाव में है वह क्रिया मे आवेगा, इसलिए कि भाव प्रधान है। लोग भाव की चिंता नही करते द्रव्य की चिंता करते हैं। अब तो द्रव्य की भी चिंता न रही मात्र द्रव्य (धन) की चिंता रह गयी। भावों की विशुद्धि के लिए ही बाह्य परिग्रह का त्याग किया जाता है जिसके भीतर परिग्रह की वासना है उसका बाह्य त्याग निष्फल है। अगर बाहर का त्याग किया भी जाए तो भी यही ध्यान रखकर किया जाए कि वह भीतर के त्याग के लिए निमित्त बने। परन्तु लोग बाहर से तो छोड़ देते है भीतर से छोड़ते नही। छोड़ने तक को पकड़ लेते है और त्याग का अहंकार आ जाता है।

जो देह आदि की ममता मे रहित है, मान आदि कषायों से पूरी तरह मुक्त है तथा जो अपनी आत्मा मे लीन है वही साधु भावलिंगी है। भावलिंगी वही है जिसने धन छोड़ा क्योंकि पकड ही नही रही। द्रव्यलिंगी वह है जिसने धन छोड़ा परन्तु पकड़ना न छोड़ा। और जिसने बाहर से भी नहीं छोड़ा वह तो कुलिंगी है।

ध्यान का दिया जलाना है। अगर आत्मध्यान का दिया जल गया तो सब कुछ मिल गया अन्यथा जैसे थे वैसे रह गये। २८ मूल गुणों का पालन तो वह लक्षण रेखा है जिसको लांघ गये तो व्यवहार मुनिपना भी नही रहेगा।

संचयित-ज्ञानकण

—मैं स्वभावत: एक हूं, चैतन्य हूं, रागादिक शून्य हूं, यह जो सामग्री देख रहा हूं पर-जन्य है, हेय है, उपादेय तो निज ही है।

—रागादिक गए बिना शान्ति की उद्भूति नहीं। अत: सर्व व्यापार उसी के निवारण में लगा देना ही शान्ति का उपाय है।

—मैं उसी को सम्यग्ज्ञानी मानता हूं जिसकी श्रद्धा में मान-अपमान से कोई हर्ष-विषाद नहीं होता।

—गृहस्थ अवस्था में नाना प्रकार के उपद्रवों का सद्भाव होने पर भी निर्मल अवस्था का लाभ अशक्य या असम्भव नहीं।

—इस ससार-वन में हमने अनन्त दुःख पाए। दुःख का मूल कारण हमारा ही दोष है। हम 'पर' को अपराधी मानते हैं, इसी से दुःखी होते हैं।

—अन्तरग की शान्ति पुरुषार्थ अधीन है, जब शुभ अवसर आवेगा, स्वयमेव कार्य बन जावेगा।

—हमने केवल 'पर' को ही उपकार का क्षेत्र बना रक्खा है। मैं तो उसे मनुष्य ही नहीं मानता जो स्वोपकार से वंचित है।

—केवल बाह्य पदार्थों के त्याग से ही शान्ति का लाभ नही, जब तक मूर्च्छा की सत्ता न हटेगी। अत: मूर्च्छा घटाना ही पुरुषार्थ है।

—अभिलाषा अनात्मीय वस्तु है। इसका त्याग ही आत्म-स्वरूप का शोधक है।

—मोह की दुर्बलता भोजन की न्यूनता से नहीं होगी, किन्तु रागादिक के त्यागने से होगी।

—ऊपरी लिबास से अन्तरग की चमक नही आती।

—कर्मोदय की प्रबलता देखकर अशात न होना। अर्जित कर्म का भोगना और समता-भाव से भोगना यही प्रशस्त है।

—औदयिक भाव ही कर्मबन्ध के जनक हैं और वे भाव ही जो केवल मोहनीय के उदय में होते हैं, शेष कुछ नही कर सकते।

—पर-पदार्थ के साथ यावत् सबंध है, तावत् ही संसार है।

—जितनी शान्ति त्याग करते समय रहेगी, उतनी ही जल्दी संसार से छुटकारा होगा।

—वर्णी जी

सौजन्य : श्री शान्तीलाल जैन कागजी

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो। पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्राय: नहीं लिए जाते।

कागज प्राप्ति :—श्रीमती अंगूरी देवी जैन, धर्मपत्नी श्री शान्तिलाल जैन कागजी, नई दिल्ली-२ के सौजन्य से

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द । ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह । पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित । सं. पं. परमानन्द शास्त्री । सजिल्द । १५-००

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द । ७-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० प० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, सात विषयों पर शास्त्रीय तर्कपूर्ण विवेचन २-००

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol.

Volume I contains 1 to 1044 pages, volume II contains 1045 to 1918 pages size crown octavo.

Huge cost is involved in its publication. But in order to provide it to each library, its library edition is made available only in 600/- for one set of 2 volume. 600-00

सम्पादन परामर्शदाता : श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३

प्रिन्टेड
पत्रिका बुक-पैकिट

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगल किशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४५ : कि० ४ अक्टूबर-दिसम्बर १९९२

इस अंक में—

क्रम	विषय	पृ०
१.	ऐसा मोही क्यों न अधोगति जावै	१
२.	जैन एवं बौद्ध साहित्य में श्रमण परम्परा —डा० रमेशचन्द्र जैन	२
३.	पार्श्वनाथ और पद्मावती —श्री राजमल जैन	१०
४.	असंयत-समकित सत्-आचरण रहित नहीं होता —जवाहर लाल मोतीलाल जैन भीण्डर	१६
५.	जयधवला पु० १६ का शुद्धि-पत्र —श्री जवाहरलाल मोतीलाल जैन, भीण्डर	२०
६.	श्री शांतिनाथ चरित संबंधी साहित्य —कु० मृदुला कुमारी, बिजनौर	२५
७.	बिना सुगन्ध फूल का मूल्य नहीं —श्री प्रेमचन्द जैन	२७
८.	जो हमें पसन्द नहीं आया —पद्मचन्द्र शास्त्री संपादक	२८
९.	दिल की बात दिल से कही—और रो लिए —श्री पद्मचन्द्र शास्त्री 'संपादक'	३०
१०.	तब सुधार कैसे हो ? अब···	कवर पृ० २
११.	सचित्र ज्ञान-कण—श्री बाबूलाल जैन कागजी	,, ३

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

तब सुधार कैसे हो ? जब :—

☐ नितान्त अपरिग्रही कहलाने के अधिकारी कतिपय वेषधारी बैंक-बेलेन्स और भव्य भवनादि में लीन हों।

× × × ×

☐ समस्त समाज को एक सूत्र में बाँधने की बातें करने वाले स्वयं अपने सीमित-परिकर को ही एकता में रखने में असमर्थ हों।

× × × ×

☐ समाज को सच्चरित्र बनाने में उद्यमी स्वयं मद्य पान, धूम्रपान, रात्रि भोजन आदि में लीन हों। देव-दर्शन आदि दैनिक कर्तव्य तो संयोग से यदा-कदा ही करते हों।

× × + ×

☐ ऊँची ऊँची तत्त्वचर्चा का रस-पान कराने में उद्यमी स्वयं ही विसंवादों को जन्म देते हों।

× × × ×

☐ शुद्ध खान-पान का उपदेश देने वाले लुक-छुप कर बाजार में चाट पकौड़े, मेवा मिष्ठान्न उड़ाते हों और विवाह-शादियों में पंचतारा होटलों तक में भाग लेते हों।

× × × ×

☐ आत्मा को अजर-अमर, पूर्ण शुद्ध बताने व शरीरादि के नश्वर होने का उद्‌घोष करने वाले शारीरिक-व्याधिग्रस्त होने पर डाक्टरों के चक्कर में पड़, अशुद्ध दवाइयों के सेवन और अस्पतालों में भर्ती होते फिरें।

× × × ×

☐ प्रसिद्ध तीर्थक्षेत्र पर कमरे खाली होने पर भी साधारण यात्रियों को वञ्चित न हों और अपरिचित-परिचित नगर वासियों को रिजर्व रखे जाते हों।

× × × ×

☐ बिना राशि लिए पंचकल्याणक आदि कराने की घोषणा करने वाली संस्थाएँ अन्य कई बहानों से द्रव्य संचय करती हों।

× × × ×

☐ पंचकल्याणक प्रतिष्ठाएँ धार्मिक-भावना से अछूती—केवल द्रव्य-संचय के लिए होने लगें।

× × × ×

☐ समाज को मार्ग-दर्शन देने वाले (कथित) नेता स्वय धर्म-विरुद्ध मद्य-मांस, तम्बाकू, खण्डसारी जैसे हेय व्यवसायों में लीन हों।

महासचिव

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

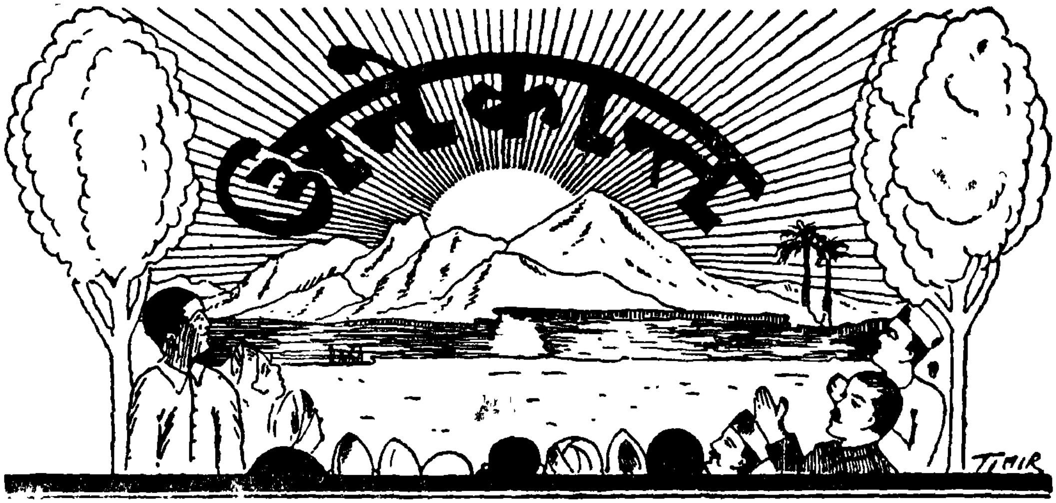

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ४५ किरण ४ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | अक्टूबर-दिसम्बर
वीर-निर्वाण संवत् २५१८, वि० सं० २०४६ | १६६२

ऐसा मोही क्यों न अधोगति जावै ?

ऐसा मोही क्यों न अधोगति जावै,
जाको जिनवाणी न सुहावै ॥
वीतराग सो देव छोड़ कर, देव-कुदेव मनावे ।
कल्पलता, दयालता तजि, हिंसा इन्द्रासन बावै ॥ऐसा०॥
रुचे न गुरु निर्ग्रन्थ भेष बहु, परिग्रही गुरु भावै ।
पर-धन पर-तिय को अभिलाषै, अशन अशोधित खावं ॥ऐसा०॥
पर को विभव देख दुख होई, पर दुख हरख लहावं ।
धर्म हेतु इक दाम न खरचै, उपवन लक्ष बहावे ॥ऐसा०॥
ज्यों गृह में संचे बहु अंघ, त्यों वन हू में उपजावे ।
अम्बर त्याग कहाय दिगम्बर, बाघम्बर तन छावै ॥ऐसा०॥
आरंभ तज शठ यंत्र-मंत्र करि जनपै पूज्य कहावै ।
धाम-वाम तज दासी राखे, बाहर मढ़ी बनावै ॥ऐसा०॥

जैन एवं बौद्ध साहित्य में श्रमण परम्परा

□ डॉ रमेशचन्द्र जैन, बिजनौर

प्राचीन भारत की दो परम्परायें—भारतवर्ष मे प्राचीन काल से ही दो परम्पराएँ चली आ रही हैं— १. श्रमण और २. ब्राह्मण। दोनों परम्परायें अपने आपको सबसे प्राचीन सिद्ध करने का प्रयास करती हैं। जैन ग्रथों के अनुसार भगवान ऋषभ के पुत्र भरत ने ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की[1]। पद्मचरित मे ब्राह्मण की उत्पत्ति ब्रह्म के मुख से होना निर्हेतुक सिद्ध करते हुए कहा गया है कि समस्त गुणों के वृद्धिगत होने के कारण ऋषभदेव ब्रह्म कहलाए और जो जन उनके भक्त हैं, वे ब्राह्मण कहे जाते हैं[2]। इस प्रकार ब्राह्मणों की परम्परा का सम्बन्ध भगवान ऋषभदेव के पुत्र भरत से है। परवर्ती काल में ब्राह्मणों का आचार श्रमणों से भिन्न होता गया और इस प्रकार दो धाराओं ने जन्म लिया। यही कारण है कि ब्राह्मणत्व के प्रति आदरभाव होते हुए भी जो कर्म से ब्राह्मण नहीं हैं, उनकी जैन ग्रन्थकारों ने भर्त्सना की है। आचार्य रविषेण के अनुसार ब्राह्मण वे हैं, जो अहिंसाव्रत धारण करते है, महाव्रत रूपी चोटी धारण करते हैं, ध्यान रूपी अग्नि मे होम करते हैं; शान्त हैं और मुक्ति को सिद्ध करने में तत्पर रहते हैं। इसके विपरीत जो सब प्रकार के आरम्भ में प्रवृत हैं, निरन्तर कुशील में लीन रहते हैं तथा क्रियाहीन हैं, वे केवल ब्राह्मण नामधारी हैं, वास्तविक ब्राह्मणत्व उनमें नही है[3]। ऋषि, संयत, धीर, शान्त, दान्त और जितेन्द्रिय मुनि ही वास्तविक ब्राह्मण हैं[4]। ब्राह्मण का सम्बन्ध ब्रह्मचर्य से है। ब्रह्मचर्य धारण करने वाला ब्राह्मण कहलाता है[5]। पतंजलि ने ब्राह्मण और श्रमण इन दोनों में शाश्वतिक विरोध बतलाया है[6]।

श्रमण शब्द का अर्थ—श्रमण शब्द की अनेक व्युत्पत्तियाँ की गई हैं :—

१. जो श्रम-तप करते हैं (सूत्रकृतांग १.१६.१ आ० शीलककृत टीका पत्र २६३)।

२. जिसका चित्त राग द्वेष से अबाधित होता है[7]।

३. समतायुक्त जिसका मन है, वह श्रमण है[8]।

४. श्रमण धर्म रूप हो सकता है। जो आगम में कुशल है, जिसकी मोहदृष्टि हत गई है और जो वीतराग चारित्र में आरूढ़ हैं। उस महात्मा श्रमण को धर्म[9] (मोह क्षोभ विहीन आत्म परिणाम रूप[10]) कहा है।

५. जो निःसंग, निरारम्भ, भिक्षाचर्या में शुद्धभाव, एकाकी, ध्यानलीन और सवगुणो से युक्त हो, वही श्रमण होता है[11]।

६. पवित्र मन वाला श्रमण है[12]।

७. जो अनिश्रित, अनिदान—फलाशंसा से रहित, आदान रहित, प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन परिग्रह, क्रोध, मान, माया लोभ, प्रेय, द्वेष और सभी आस्रवों से विरत, दान्त, द्रव्यमुक्त होने के योग्य और व्युत्सृष्ट काय-शरीर के अनासक्त है। वह श्रमण है[13]।

श्रमण के लिए ब्रह्मचर्य की आवश्यकता—श्रमण के लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक है। ब्रह्मचर्य से विचलित होने वाला श्रामण्य को नष्ट कर देता है[14]।

वन्दनीय श्रमण—जो ज्ञान, दर्शन, चरित्र, तप और वीर्य इन पांच आचारो का पालन करता है, वह श्रेष्ठ श्रमण है, वही वन्दनीय है। (प्रवचनसार-२), (अष्टपाहुड पृ० ७१)।

अन्तरात्मा और बहिरात्मा श्रमण—आवश्यक सहित श्रमण अन्तरात्मा है और आवश्यक रहित श्रमण बहिरात्मा है। (नियमसार-१४९)।

महाश्रमण—सर्वज्ञ, वीतराग महाश्रमण है। पचास्तिकाय—समयव्याख्या-२।

प्रश्नश्रमण—वैयावृत्य मे कुशल, विनयी, सर्वसघ का पालक, वैरागी और जितेन्द्रिय श्रमण प्रश्नश्रमण है।

—(अनगार धर्मामृत १६९ ज्ञानदीपिका)

श्रमणों के विभाग—प्रवचनसारोद्धार में श्रमणों के पांच विभाग बतलाए गये हैं :—

१. निर्ग्रन्थ	—	जैन मुनि
२. शाक्य	—	बौद्ध भिक्षु
३. तापस	—	जटाधारी, वनवासी, तपस्वी
४. गेरूक	—	त्रिदण्डी परिव्राजक
५. आजीवक	—	गोशाल के शिष्य।

चारित्र क्षुद्रश्रमण—पार्श्वस्थ, अवसन्न, संसक्त, कुशील और मृगचरित्र श्रमण चारित्र क्षुद्र श्रमण हैं[१५]।

नामादि की अपेक्षा श्रमण के भेद—नाम, स्थापन्न, द्रव्य और भावनिक्षेप की अपेक्षा श्रमण चार प्रकार के होते है[१६]।—नाम-श्रमण मात्र को नामश्रमण कहते हैं लेप आदि प्रतिमाओ मे श्रमण की आकृति स्थापना श्रमण है। गुणरहित वेषग्रहण करने वाले द्रव्य श्रमण हैं और मूल गुण—उत्तरगुणों के अनुष्ठान में कुशल भावयुक्त भावश्रमण है[१७]।

श्रमण के पर्यायवाची शब्द—जैन ग्रन्थों में श्रमण के अनेक पर्यायवाची नाम मिलते हैं, जो उनकी भिन्न-२ विशेषताओ को सूचित करते हैं। इनका सक्षिप्त लक्षण इस प्रकार है—

संयत—असयत रूप हिंसा आदि को जानकर और श्रद्धा न करके उनसे जो अलग होता है अर्थात् उनका त्याग करता है, उस सम्यक्युत को सयत कहते है[१८]।

ऋषि—जो सब पापो को नष्ट करते हैं अथवा सात प्रकार की ऋद्धियों को प्राप्त करते हैं, वे ऋषि है[१९]।

मुनि—जो स्व-पर के अर्थ की सिद्धि को मानते हैं—जानते हैं, वे मुनि हैं[२०]।

साधु—सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की जो साधना करते है, वे साधु है[२१]। पद्मप्रभमलधारिदेव ने साधु को आसन्नभव्यजीव तथा अत्यासन्न भव्य जीव कहा है[२२]।

वीतराग—जिनका राग विनष्ट हो गया है[२३]।

अनगार—नही है अगार गृह आदि जिनके सर्व-परिग्रह से रहित मनुष्य अनगार है। अनगार पांच महाव्रतों का पालक होता है। दिगम्बर परम्परा के अनगार अपने पास केवल दो उपकरण रखते हैं—एक जीवरक्षा के लिए मयूर के पंखों से निर्मित पिच्छिका और दूसरा शौचादि के लिए कमण्डलु। शरीर से बिलकुल नग्न रहते हैं और श्रावक के घर पर ही दिन मे एक बार खड़े होकर हाथों की अंजुलि को पात्र का रूप देकर भोजन करते हैं, किन्तु श्वेताम्बर परम्परा के अनगार पांच महाव्रतों का पालन करते हुए भी वस्त्र, पात्र रखते हैं। अनगारों की इस प्रवृत्तिभेद के कारण ही जैन सम्प्रदाय दो भागों में विभाजित हो गया और वे विभाग दिगम्बर और श्वेताम्बर कहलाए[२४]।

भदन्त—सर्व कल्याणों को प्राप्त हुए भदन्त कहलाते हैं[२५]।

दान्त—पांच इन्द्रियों को निग्रह करने वाले दान्त कहलाते है[२६]।

यति—उपशमक और क्षपक श्रेणी पर आरोहण करने वाले यति कहलाते है[२७]।

दिगम्बर—दिशायें ही जिनके अम्बर-वस्त्र है।

अचेलक—वसुनन्दी सिद्धान्त चक्रवर्ती ने "अचेलकत्व नाग्न्यमिति यावत्" कहकर नग्न अवस्था का नाम अचेलकत्व बतलाया है[२८]। श्वेताम्बर परम्परा में अचेलक्य के विषय मे विवाद है, क्योकि उनके यहां साधु वस्त्र धारण करते है।

निर्ग्रन्थ—वस्त्र आदि परिग्रह से रहित[२९]।

मुण्ड—जो केशलुंचन करता है और जो इन्द्रियो के विषय का अपनयन करता है, उन्हें जीत लेता है, उसे मुण्ड कहा जाता है[३०]।

बहुश्रुत—समस्त शास्त्र का पारगामी[३१]।

भिक्षु—भिक्षाशील साधु। पचास्तिकाय में कहा है जिसे सर्व द्रव्यों के प्रति राग, द्वेष या मोह नहीं है, उस सम सुख-दुःख भिक्षु को शुभ और अशुभकर्म आस्रावत नही होते[३२]। सूत्रकृतांग मे भिक्षु के १४ नाम कहे हुए हैं—समण, माहन, क्षान्त, दान्त गुप्त, मुत, ऋषि, मुनि, कृती (परमार्थ पण्डित), विद्वान्, भिक्षु, रूक्ष, तीरार्थी और चरणकरण पारविद्[३३]।

असंयम जुगुप्सक—प्राणी संयम और इन्द्रिय संयम में लगे हुए श्रमण[३४]।

यथाजातरूपधर—व्यवहार से नग्नत्व, निश्चय से

स्वात्म रूप यथाजात रूप होता है। इस प्रकार के रूप को जो धारण करते हैं, वे यथाजातरूपधर निर्ग्रन्थ होते हैं[३५]।

योगी—योग साधना करने वाला। मूलाचार में कहा है कि पश्चिम, पूर्व, उत्तर और दक्षिण दिशाओं की वायु से जिस प्रकार सुमेरु चलायमान नहीं होता, उसी प्रकार अचलित योगी सतत ध्यान करते हैं[३९]।

गणी—निन्दा, प्रशंसादि में समचित होने के कारण निश्चय, व्यवहार रूप पचाचार के आचरण में प्रवीण[३७] होने के कारण अथवा आचरण करने में और आचरण कराने में आने वाली समस्त विरति की प्रवृति के समान आत्मरूप—ऐसे श्रामण्यपने के कारण जो श्रमण हैं[३८] गुणाढ्य है, कुल, रूप तथा वय से विशिष्ट हैं और निज परमात्मतत्व की भावना सहित जो समचित श्रमणो[३९] को अति इष्ट हैं, वे गणी होते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र ने इन्हें शुद्धात्मतत्व के साधक आचार्य तथा जयसेनाचार्य ने परमात्मभावना के साधक दीक्षा दायक आचार्य कहा है[४१]।

तपोधन—आचार्य जयसेन ने "श्रमणस्तपोधन" कह कर श्रमण और तपोधन में ऐक्य स्थापित किया है[४२]।

समित—जो शुद्धात्मस्वरूप मे भले प्रकार से परिणत हुआ है अथवा (व्यवहार) से जो ईर्या आदि पांच समितियों से युक्त हैं, वह समित हैं[४३]।

तपस्वी—शिवार्य ने तपस्वी की महिमा के विषय में कहा है कि असवृत अर्थात् अशुभयोग का निरोध न करने वाला यति महान काल के द्वारा भी जिस कर्म की बाह्य तप के द्वारा निर्जरा नहीं करता, उस कर्म की संवत् अर्थात् गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा और परिषहजय को करने वाला तपस्वी अति स्वल्पकाल में क्षय करता है[४४]।

निःसङ्ग—अपरिग्रही श्रमण। शिवार्य ने कहा है कि जितने भी परिग्रह (सग) राग-द्वेष को उत्पन्न करते हैं, उन परिग्रहों को छोड़ने वाला अपरिग्रही साधु राग और द्वेष को निश्चय से जीतता है[४५]।

क्षपक—जो अपने अपराध और शरीर को त्यागने के लिए प्रवृत्त हुआ है[४६]।

क्षपणक—आचार्य हेमचन्द्र ने अपने कोष में नग्न का पर्यायवाची शब्द क्षपणक दिया है[४७]।

पाणितलभोजी—हाथ में आहार करने वाले[४८]।

निर्यापक—शिक्षा गुरू और श्रुतगुरू[४९]।

गुरू—लिङ्ग ग्रहण के समय जो प्रव्रज्यादायक हैं, वे तपस्वियों के गुरू है[५०]।

स्थविर—बहुत काल से प्रव्रजित[५१]।

अमम—स्नेह पाश से निकले हुए[५२]।

निर्मम[५३]—निर्मोही[५४]।

ब्राह्मण—पद्मचरित मे कहा गया है कि ब्राह्मण वे हैं जो अहिंसाव्रत धारण करते है, महाव्रत रूपी लम्बी चोटी धारण करते है[५५]। ध्यान रूपी अग्नि मे होम करते हैं, शान्त हैं और मुक्ति के सिद्ध करने मे तत्पर रहते है[५६]।

वातवसन—वायुरूपी वस्त्रधारी। श्रमणाः दिगम्बराः श्रमणावातवसन्नाः इति निघण्टु।

विवसन—वस्त्र रहित मुनि। वेदान्तसूत्र की टीका में दिगम्बर जैन मुनि "विवसन" और "विसिच्" कहे गये हैं[५७]।

वातरशना—जिनसेनाचार्य ने दिग्वासा वातरशनों निर्ग्रन्थेश्मे निरम्बरः कहकर तीर्थंकर ऋषभदेव को वातरशना बतलाया है। वातरशना का अर्थ है—जिसकी वायु मेखला है। तैत्तिरीय आरण्यक के अनुसार "वातरशना" शब्द का अर्थ नग्न होता है।

नग्न—आचार्य कुन्दकुन्द ने एक नग्नपने को ही मोक्ष का मार्ग कहा है. शेष सब उन्मार्ग हैं।

सिद्धायतन—जिन मुनि के समीचीन अर्थ (आत्मा) सिद्ध हो गया है, जो विशुद्ध ध्यान और ज्ञान से युक्त है, मुनियों मे प्रधान हैं तथा समस्त पदार्थों को जानते है।

चैत्यगृह—जो मुनि बुद्ध (ज्ञानमयी आत्मा) को जानता हो, आप ज्ञानमयी हो और पांच महाव्रतों से शुद्ध हो, वह चैत्यगृह है[५९]।

अर्हन्मुद्रा—जो तप, व्रत और गुणो से शुद्ध हो, शुद्ध सम्यक्त्व को जानते हों, इस प्रकार दीक्षा और शिक्षा देने वाले आचार्य अर्हन्मुद्रा है[६०]।

जिनमुद्रा—जो सयमसहित हो। जिसके इन्द्रियावंश में हों, कषायों की प्रवृत्ति न होती हो और ज्ञान को स्वरूप मे लगाता हो, ऐसा मुनि ही जिनमुद्रा है[६१]।

बौद्ध साहित्य में श्रमण परम्परा

श्रमण संस्कृति की निगण्ठ(जैन), सक्क (शाक्य-बौद्ध) तावस (तापस), गेरुय (गेरुक) और आजीव (आजीवक) ये पांच प्रधान शाखायें मानी जाती हैं"। इनमे से प्रथम दो शाखायें आज जीवित हैं। अन्य शाखाओं का अन्तर्भाव इन्हीं में हो गया। पालि साहित्य मे श्रमणों के चार प्रकार बतलाए गए हैं—मग्गजिन, मग्गजीविन, मग्गदेशिन, और मग्गदूसिन"। इनमे पारस्परिक मतभेद के कारण अनेक दार्शनिक सम्प्रदायों ने जन्म लिया। बुद्ध इन्हें "दिट्ठि" शब्द से अभिहित करते हैं"। जैन साहित्य मे इन मतों की संख्या ३६३ बतलाई गई है। श्रमण परम्परा की बौद्ध शाखा की अपेक्षा जैन शाखा निश्चित रूप से बहुत प्राचीन है, विद्वानो ने इसे प्रागैतिहासिक माना है। भगवान् महावीर के समय से लेकर जैन और बौद्ध धर्मों का गहरा सम्बन्ध रहा। श्रमण परम्परा के प्रतिनिधि धर्म होने के कारण वैदिक धर्म से शास्त्रार्थ के समय दोनों के मन्तव्य एक रहते थे, क्योंकि हिंसामय यज्ञों में विश्वास, सृष्टिकर्ता ईश्वर की मान्यता आदि अनेक वैदिक बातों के विरुद्ध दोनो धर्मों को लोहा लेना पड़ा। ऐसा होने पर भी दोनों धर्मों की दार्शनिक मान्यतायें भिन्न भी थी।

गौतमबुद्ध के घर से निकलने के बाद ६ वर्ष तक विभिन्न प्रकार साधनामार्ग अंगीकार किए, जिनमें से एक अचेलक मार्ग भी था और यह जैन मुनि की चर्या का अंग था। 'मज्झिमनिकाय' के महासीहनादसुत्त मे सारिपुत्त से अपने पुराने जीवन के विषय में बुद्ध स्वयं कहते हैं—मैं वस्त्ररहित रहा, मैंने आहार अपने हाथ से किया। न लाया हुआ भोजन किया, न अपने उद्देश्य से बना हुआ किया, न निमत्रण से भोजन किया, न बर्तन में खाया, न थाली में खाया, न घर की ड्योढ़ी मे खाया, न खिड़की से लिया, न मूसल से कूटने के स्थान पर लिया, न दो आदमियो के एक साथ खा रहे स्थान से लिया, न गर्भिणी स्त्री से लिया, न बच्चे को दूध पिलाने वाली से लिया, न भोग करने वाली से लिया, न मलिन स्थान से लिया, न वहाँ से लिया जहाँ कुत्ता पास खड़ा था, न वहाँ से, जहाँ मक्खियाँ भिनभिना रही थीं। न मछली, न मांस, न मदिरा, न सड़ा मांड खाया, न तुष का मैला पानी पिया। मैंने एक घर से भोजन किया, सो भी एक ग्रास लिया या मैंने दो घरों से लिया सो दो ग्रास लिया। इस तरह मैंने सात घरों से लिया, सो भी सात ग्रास, एक घर से एक ग्रास लिया। मैंने कभी एक दिन में एक बार, कभी दो दिन में एक बार, कभी सात दिन में एक बार लिया, कभी पन्द्रह दिन भोजन नही किया। मैंने मस्तक, दाढ़ी व मूछों के केशों का लोंच किया। इस केशलोंच की क्रिया को जारी रखा। मैं एक बूंद पानी पर भी दयावान् था। क्षुद्र प्राणी की भी हिंसा मुझ से न हो, इतना सावधान था। इस तरह कभी तप्तायमान कभी शीत को सहता हुआ भयानक वन मे नग्न रहता था। आग नही तपता था। मुनि अवस्था में ध्यानलीन रहता था"।

ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी ने उपर्युक्त क्रियाओं की तुलना मूलाचार मे प्रतिपादित साधु के आचार से की है"। इससे स्पष्ट है कि बुद्ध ने जैन आचार का भी अभ्यास किया था। बाद में इस कठोर चर्या को उन्होंने अनार्य और अनर्थों की जड़ मानकर छोड़ दिया और मध्यम मार्ग ग्रहण किया जो उनकी दृष्टि में कामसुखों में आसक्ति और आत्मक्लेशों मे आसक्ति के बीच का था"।

नौमी शताब्दी के 'जैनाचार्य देवसेन' ने दर्शनसार में लिखा है कि गौतमबुद्ध जैनो के २३वें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ के सम्प्रदाय मे आए हुए श्री पिहिताश्रव मुनि के शिष्य हुए थे। पिहिताश्रव ने सरयू नदी पर स्थित पलाश नामक ग्राम में उन्हें पार्श्व के संघ में दीक्षा दी थी। 'श्रीमती राइस डेविड्स' का मत है कि बुद्ध अपने गुरू की खोज मे वैशाली पहुंचे। वहा आलार और उद्रक से उनकी भेंट हुई, फिर बाद मे उन्होंने जैन धर्म की तप-विधि का अभ्यास किया"। 'डा० राधाकुमुद मुकुर्जी' के अभिमत मे बुद्ध ने पहले आत्मानुभव के लिए उस काल मे प्रचलित दोनों साधनाओं का अभ्यास किया। 'आलार और उद्रक' के निर्देशानुसार ब्राह्मण मार्ग का, तब जैन मार्ग का और बाद में अपने स्वतन्त्र साधना मार्ग का विकास किया"°। 'श्री धर्मानन्द कोशाम्बी' ने लिखा है कि निर्ग्रन्थों के 'श्रावक वप्प शाक्य' के उल्लेख से प्रकट है कि निर्ग्रन्थों का चातुर्मास धर्म शाक्य देश मे प्रचलित था। बुद्ध के द्वारा खोजे गए आष्टांगिक मार्ग का समावेश चातुर्याम में

हो जाता है[1]। दीघनिकाय के पासदिक सुत्त में बुद्ध चुन्द से कहते हैं—चुन्द ! ऐसा हो सकता है कि दूसरे मत वाले परिव्राजक ऐसा कहें—शाक्यपुत्रीय श्रमण आराम पसन्द हो विहार करते हैं ''चुनद, ये चार प्रकार की आराम पसन्दगी अनर्थयुक्त हैं—कोई मूर्ख जीवो का वध करके आनन्दित होता है, प्रसन्न होता है। यह पहली आराम पसन्दगी है। कोई चोरी करके आनन्दित होता है, यह दूसरी आराम पसन्दगी है, कोई झूठ बोलकर प्रसन्न होता है, यह तीसरी आराम पसन्दगी है, कोई पांचों भोगों का सेवन करके आनन्दित होता है, ये चौथी आराम पसन्दगी है। ये चारों सुखोपभोग निकृष्ट हैं। हो सकता है चुन्द, दूसरे मत वाले साधु ऐसा कहें—इन चार सुखोपभोग आराम पसन्दगी से युक्त हो शाक्यपुत्रीय श्रमण विहार करते हैं। उन्हें कहना चाहिए—ऐसी बात नही है। उनके विषय में ऐसा मत कहो, उन पर झूठा दोषारोपण न करो। इससे स्पष्ट है कि बुद्ध के मत में चार यामों का पालन करना ही तपश्चर्या मानी जाती थी। अत: बुद्ध ने पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म को स्वीकार किया था। पार्श्वनाथ श्रमण परम्परा के थे। अत: उनकी परम्परा को अपनाने वाले बुद्ध भी श्रमण अथवा महाश्रमण कहलाए। दशवैकालिक निर्युक्ति मे कहा है—

जह मम न पियं दुक्ख जाणिय एमेव सव्वजीवाणं।
न हणइ न हणावेइ य सममणई तेण सो समणो[2] ॥

अर्थात् जैसे मुझे दुःख प्रिय नहीं है, इसी प्रकार सभी जीवों को नही है। अत: जो जीवो को न तो स्वय मारता है, न दूसरे से मरवाता है, सममन वाला वह श्रमण होता है। सुत्तनिपात मे गोतम बुद्ध ने कहा है—

समितावि पहाय पुन्नपाप विरजोत्वा इम परं च लोक।
जातिमरणं उपातिवत्ते, समणोतादि पवुच्चते तथत्ते ॥
सुत्त निपात ३२/११

जो पुण्य और पाप को दूर कर शान्त हो गया है, इस लोक और परलोक को जानकर रंजरहित हो गया है, जो जन्म के परे हो गया है, स्थिर, स्थितात्मा वह श्रमण कहलाता है। परमपद मे समता का आचरण करने वाले को श्रमण कहा गया है—समचरिया समणाति वुच्चति, धम्मपद—ब्राह्मणवग्गो।

समण का सम्बन्ध शम उपशम से भी है। जो छोटे बड़े पापों का सर्वथा शमन करने वाला है, वह पाप के शमित होने के कारण श्रमण कहा जाता है।

श्रमण के दूसरे पर्यायवाची मुण्ड मुनि और भिक्षु भी हैं। धम्मपद मे कहा है—

न मुण्डकेन समणो अब्बतो अलिक मणं।
इच्छालोभ समापन्नो समणो किं भविस्सति ॥ धम्मपद-१
(धम्मट्ठवग्गो)

अर्थात् व्रतरहित, झूठ बोलने वाला व्यक्ति मुण्डन करा लेने से श्रमण नहीं होता। इच्छा और लोभ से भरा मनुष्य क्या श्रमण होता है?

न तेन भिक्खु सो होति यावता भिक्खते परे।
विस्सं धम्मं समादाय भिक्खु होति न तावता ॥
धम्मपद—१२ धम्मट्ठवग्गो

यह मनुष्य केवल इतने मात्र से भिक्षु नही हो जाता है कि वह दूसरों से भिक्षा मांगता है। समस्त धर्मों को ग्रहण करके मनुष्य भिक्षु नहीं हो जाता।

योध पुन्नं च पाप च बाहेत्वा ब्रह्मचरिवा।
संखाय लोके चरतिस वे भिक्खूति वुच्चति ॥
धम्मपद-१२ धम्मट्ठवग्गो

जो यहां पुण्य और पाप को छोडकर ब्रह्मचर्यवान है तथा लोक मे ज्ञानपूर्वक विचरण करता है। वही भिक्षु कहा जाता है।

न मोनेन मुनी होति मूलहरूपो अविद्दसु।
यो च तुलं व पगठह वरमादाय पण्डितो ॥
पापानि परिवज्जेति, स मुनितेन सो मुनी।
यो मुनाति उभे लोके मुनी तेन पवुच्चति ॥
धम्मपद—धम्मट्ठवग्गो १३-१४

मौन धारण करने से साक्षात् मूर्ख और अविद्वान व्यक्ति मुनि नहीं हो जाता किन्तु जो तुला के समान ग्रहण करके भले-बुरे को तोलता है और अच्छे को ग्रहण करता है, वह पण्डित है। जो पापों का परित्याग करता है, वह मुनि है और इसीलिए वह मुनि है। जो इस संसार मे (पाप और पुण्य) दोनों का मान करता है वह इसीलिए मुनि कहा जाता है।

मुण्ड शब्द का अनेक स्थानों पर बौद्ध श्रमण के रूप

में भी अनेक बार प्रयोग हुआ है। इसके अनेक प्रकरण बौद्ध साहित्य मे विद्यमान हैं—

जब सावत्थी मे अग्गिक भारद्वाज यज्ञाग्नि को प्रज्वलित कर उसमे आहुतिया दे रहे थे, उसी समय बुद्ध भिक्षाटन करते हुए उसके यज्ञस्थल के निकट पहुचे। अग्गिक भारद्वाज उन्हें दूर से ही देखकर चिल्लाया—अरे मुंडिए ! भिक्षु, वृषल, वही खडा रह (तत्र एव मुण्डक, तत्र एव समणक, तत्र एव वसलक तट्ठहीति), बुद्ध ने शान्त भाव से उसे समझाया कि वसलक वह दुष्ट मनुष्य है जो धर्म और सदाचार के नियमो का पालन नही करता, मेरे जैसा साधु वसलक नही होता[75]। भारद्वाज ब्राह्मण यज्ञ मे आहुतियां देने के बाद आहुति का अवशिष्टघृत देने के लिए किसी व्यक्ति को ढूंढ रहा था, उस समय बुद्ध अपने सिर को ढके हुए एक वृक्ष के नीचे बैठे थे। पैरों की आहट सुनकर उन्होंने सिर पर से वस्त्र हटा लिया और ब्राह्मण को जाते देखा। ब्राह्मण उसका मुण्डित सिर देखते ही अति क्रुद्ध हुआ और चिल्ला पड़ा—अरे तू मुंडिया है। वह लौटने ही वाला था, पर फिर वह सोचकर कि कभी-कभी ब्राह्मण भी सिर मुड़ा लेते हैं, बुद्ध की ओर मुडा और उनकी जाति पूछी। बुद्ध ने उत्तर दिया – मैं न ब्राह्मण हूं न क्षत्रिय हूं, न वैश्य हूं, मैं एक संन्यासी हू, जो कुछ नहीं चाहता। मुझे दान देने का महान् फल होगा[76]।

एक बार शाक्यों के देश मे ब्राह्मणो की एक सभा हो रही थी, उस समय बुद्ध सभागृह की ओर जाने लगे। ब्राह्मणों ने कहा—"कौन है ये मुंडिये श्रमण ? ये क्या जाने सभा के नियम (के च मुण्डका समणका के च सभा धम्मं जानिस्सन्ति") परन्तु बुद्ध चुपचाप सभा भवन मे चले गए।

बुद्ध के साथ प्रायः श्रमणविशेषण लगता था। उनके समय श्रमण और ब्राह्मणों मे अनेक सम्प्रदाय थे, जो आपस मे वाद किया करते थे। बुद्ध के समकालिक वात्स्यायन नामक परिव्राजक ने अपने समय के तार्किकों की सम्बन्ध मे कहा था—मैं देखता हूं, बाल की खाल निकालने वाले दूसरों से वाद-विवाद करने मे सफल, निपुण कोई कोई क्षत्रिय पंडित मानों प्रज्ञा में स्थित तत्व से दृष्टिगत को खण्डाखण्डी करके चलते हैं, सुनते हैं श्रमण गौतम अमुक ग्राम या निगम मे आवेगा। वे प्रश्न तैयार करते हैं, इन प्रश्नों को हम श्रमण गौतम के पास जाकर पूछेंगे, यदि वह ऐसा उत्तर देगा तो हम इस प्रकार वाद रोपेंगे[77]।

उपालि गृहपति ने कहा था—जैसे बलवान पुरुष लम्बे बाल वाली भेड को बालों से पकड कर निकाले डुलावे, उसी प्रकार मैं श्रमण गौतम के वाद को निकालूंगा, घुमाऊंगा, डुलाऊंगा[78]।

गौतम बुद्ध के समय बौद्ध भिक्षु अपना परिचय पूछा जाने पर अपने को श्रमण[79] कहते थे अथवा अधिक स्पष्टता के लिए "शाक्यपुत्रीय" शब्द उसके पहले और जोड देते थे[80]। जिससे अन्य सम्प्रदायों से भेद हो सके। बुद्ध को अनेक बार महाश्रमण कहा गया है[80]।

जिन और वीर शब्द भी जो मौलिक रूप मे भगवान महावीर या पूर्वकालीन जैन महात्माओ के लिए प्रयोग किए जाते थे, पालि साहित्य मे बुद्ध के विशेषण बन गए।

गौतम बुद्ध के समकालीन श्रमण—बुद्ध के समकालीन छः प्रमुख सम्प्रदाय थे[81]—पूरण कस्सप, मक्खलि गोसाल, पकुध कच्चायन, अजितकेश कम्बल, निगण्ठनातपुत और संजयवेलट्ठिपुत्त। इनकी मान्यताओं का विवरण बौद्ध साहित्य में अनेक प्रसगो मे हुआ है। दीघनिकाय के सामञ्ञफलसुत्त मे श्रामण्य के फल का निरूपण है। वहां इन छ श्रमणों से परिचय प्राप्त होता है, जो इस प्रकार है—

१. पूरण कस्सप—पूरणकस्सप के द्वारा पुण्य-पाप का खंडन किया गया है। किसी अच्छे कार्य को करने से पुण्य होता है और बुरे कार्य से पाप होता है, वे ऐसा नही मानते हैं। दान, दम, सयम, तप, परोपकार आदि कार्यों में कोई पुण्य नही है, हिंसा, झूठ, चोरी, परस्त्रीगमन में कोई पाप नहीं है। कोई व्यक्ति अपने आप कोई क्रिया नही करता, अतः अक्रिय होने से उसे पाप-पुण्य भी नहीं होता। यह पूरणकस्स का मत अक्रियावाद है।

२. मक्खलि गोसाल—मक्खलि गोसाल देववादी थे। कर्म करने में उनका विश्वास नहीं था। वे अकर्मण्यतावादी थे, उसकी शुद्धि का कोई कारण नही है। प्राणी स्वयं या दूसरे की शक्ति से कुछ नही कर सकता, उसमें

बल नहीं है, वीर्य और पराक्रम नहीं है। सभी प्राणी निर्बल और असहाय हैं। भाग्य और संयोग के फेर में पड़कर सुख या दुख का अनुभव करते हैं। यही मक्खलि-गोसाल का नियतिवाद है।

३. **प्रकुध कच्चायन**—ये घोर अकृतवादी थे। इनके अनुसार पृथवी, जल, तेज, वायु, सुख, दुख और जीवन ये सब अकृत, अनिर्मित और अचल है। ये कभी न विकार को प्राप्त होते है और न परस्पर हानि पहुचाते हैं। यहां न कोई मारने वाला है, न कोई मरने वाला, न कोई सुनने वाला है, न कोई सुनाने वाला। यही इनका अकृतवाद है।

४. **अजित केश कम्बल**—ये भौतिकवादी थे। इनके मतानुसार इस ससार मे किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है। पाप-पुन्य का न कोई फल है, न स्वर्गादि की कोई रचना है। मरने के बाद जिन चार महाभूतो से व्यक्ति निर्मित हुआ है, उन्ही मे विलीन हो जाता है। आत्मा की सत्ता मानना व्यर्थ है।

५. **निगण्ठनातपुत्त**—वे विचारक जैन धर्म के अन्तिम तीर्थंकर थे। वे चार प्रकार के संवर को मानते थे—१. जल के व्यवहार का वारण करना। २ सभी पापों का वारण करना, ३. सर्भ पापों का वारण करने से पाप रहित होना। ४. सभी पापो के वारण करने मे लगा रहना।

भगवान पार्श्वनाथ के चातुर्याम का यह भ्रा रूप है, जो निर्ग्रन्थ नातपुत्त की मान्यता से जोडा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि बुद्ध के समय भगवान पार्श्वनाथ क अनुयायी थे।

६. **संजयवेलट्ठिपुत्त**—सजय का मत सन्देहवाद का प्रतिपादन करता है ये किसी भी तत्व जैसे—परलोक, देवता, पुण्यापुण्य के विषय मे कोई निश्चित मत का प्रतिपादन नही करते। उनका कहना है कि मैंने न परलोक देखा है, न देवता आदि को, तब कैसे कह दूं कि उनका अस्तित्व है? हो सकता है, उनका अस्तित्व हो भी। इसके विषय में मैं कुछ नहीं कह सकता। तथागत मरने के बाद होते हैं, यह भी मैं नहीं जानता।

उपर्युक्त श्रमणो मे आज निगंठनातपुत्त का ही मत बच पाया है।

सन्दर्भ-सूची

१. पद्मचरित ४/९१-१०२. २. वही, ११/१९९-२०१
३. वही, १०६/८०-८३. ४. वही, १०६/८४.
५. ब्राह्मणे ब्रह्मचर्यतः। वही ६/२०६.
६. येषां च विरोधः शाश्वतिः (अष्टाध्यायी २/४/९) पर महाभाष्य-येषां च इत्यस्यावकाशः मार्जारमूषणं श्रमण श्रमणमाह्मण मित्यादौ, ज्ञेयः।
७. रागकोपानुपल्लु चित्तः समण इत्युच्यते—भगवती आराधना (विजयोदया टीका १३४)।
८. नेरूत्तकावदन्ति सममणो समणो इति। समणस्सभावो सामण्णं तच्च किं? समानता चारित्रं।
९. प्रवचनसार—९२.
१०. वही, तत्वदीपिका टीका। ११. मूलाचार, १००२.
१२. सहमनसाशोभनेन निदान परिणाम—पापरहितेन च चेतसा वर्त्तत इति समनसः। स्थानांग टीका पृ. २६८.
१३. सूत्र कृतांग १/१६/२.
१४. दशवैकलिक (जिनदासचूर्णि) पृ. १५१, उत्त. १६/१.
१५. भगवती आराधना—विजयोदया टीका-३४१.
१६. मूलाचार १००३. १७. वही १००३ तात्पर्यवृत्ति।
१८. भगवती आराधना—विजयोदया—१५४.
१९. मूलाचार—आचारवृत्ति—५९७. २०. वही ८८८.
२१. वही, २२. नियमसार—तात्पर्यवृत्ति—९.
२३. मूलाचार ८८८ (आचारवृत्ति)।
२४ धर्मामृत (अनगार)—प० कैलाशचन्द्र शास्त्री एव डा. ज्योतिप्रसाद जैन द्वारा लिखित प्रधान सम्पा०।
२५. मन्दताः सर्वकल्याण प्राप्तवन्तः। मूलाचार ८८८ (आचारवृत्ति)।
२६. दान्ताः पचेन्द्रियाणां निग्रहपरा.—वही ८८८ (आचा०)
२७. यतय उपशमक क्षपक श्रेण्यारूढ़ाः॥ प्रवचनसार—५० (तात्पर्यवृत्ति)।
२८. मूलाचार—आचारवृत्ति—३०.
२९. वस्त्राविपूरिग्रहरहितत्वेन निर्ग्रन्थः॥ प्रवचनसार—तात्पर्यवृत्ति—२९९.

३०. मुंडे इंदिय केसावणायणेस मुंडो—दशवैकालिक—अगस्त्यसिंह–चूर्णि–पृ. ९५.
३१. बहुश्रुत सर्वरमन्द्र पारंग–मूलाचार आचारवृति-९८९
३२. पंचास्तिकाय—२/१/१५. ३३. सूत्रकृतांग–२/१/१५
३४. मूलाचार—५९७ (आचारवृत्ति)।
३५. व्यवहारेण नग्नत्व यथाजातरूपं निश्चयेन त स्वात्म-रूप तदित्यभूतं यथाजातरूप धरतीति यथा अति—स्फुधरः निर्ग्रन्थोजानइति। प्रवचनचार–२०४ तात्पर्य.
३६. मूलाचार ८८६. ३७. प्रवचनसार–तात्पर्यवृत्ति-३०३.
३८. वही, २०३ (तात्प्रदीपिका)।
३९. वही, तात्पर्यवृत्ति (२६८)।
४०. वही, तत्वप्रदीपिका—२०८. ४१. वही, तात्पर्यवृत्ति
४२. वही—२०६. ४३. प्रवचनसार—तात्पर्यवृति।
४४. भगवती आराधना—२३६. ४५. वही—२६६.
४६ वही ४६३ (विजयोदया)।
४७. नग्नो विनासि मागधे च क्षपणके।
४८. भगवती आराधना—२१४०।
४९. प्रवचनसार—तात्पर्यवृत्ति—२१०।
५०. प्रवचनसार—२१०. ५१. मूलाचार—१८१.
५२. वही—आचारवृत्ति (७८३) ५३. वही—७८६
५४. वही—आचारवृत्ति। ५५. पद्मचरित १०९/८०.
५६. वही– १०९/८१.
५७. दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि, पृ. ७०।
५८. बोधपाहुक—७. ५९. वही—८.
६०. वही—१८. ६१. वही—१९.
६२. ठाणांग—पृ. ९४९। ६३. सुत्तनिपात १/५/२.
६४. वही—४/१२।
६५. अचेलको होमि‥ हत्थापलेखनो‥ नाभिहत न उद्दिस्सकत न निमंतण सादियामी, सो न कुम्भीमुखा पटिगण्हामि न कलोपि मुखा पटिगण्हामि, न एलक मतरं न दंडमंतरं न मुसलमतर, न द्विन्न भुजमानान न गब्भनिया, न पायमानया, न पुरिसतरगताम्, न संकितिसु, न यथ सा उपट्ठितो होति, न यथा मिक्खका संड संड चारिनी, न मच्छ, न मांसं न सुरं, न मेरय, थुसोदक पिवामि सो एकागारिको वा होमि, एकालोपिका, द्वागारिको होमि द्वालोपिको सत्तागारिको वा होमि सत्तालोपिका, एकाहं व आहारं-आहारेमि द्वीहिक व अहार आहारेमि सत्ताहिकम्मि आहारं आहारेमि। इति एयरूपं अद्धमासिक पि परियाम भत्तभोजनानुयोगं अनुयुतो विहरामि … केस्स मस्सुलोचको वि होमि कसमस्सु लोचनानुयोगं अनुयुयो—यावउदविन्दुम्हि पि मे दया वच्च पट्ठिताहोति। महा खुददके पाणे विसमगते सघातं आयादेस्संति। सो तत्तो सो सीनो एको मिसनके वने।
नग्गोन च अग्गि आसीनो एसनापसुतोमुनीति॥
६६. ब्र० शीतलप्रसाद: जैन बौद्ध तत्वज्ञान, पृ. २०२-२०४। ६७. महावग्ग –१/१/७।
६८. सिरिपासणाहतित्थे सरयूतीरे पलासणयरत्थो।
पिहितासवस्य सिस्सो, महासुदो बुड्ढकीकित्ति मुणी॥
६९. गौतम, दी मैन, २२/५।
७०. हिन्दू सभ्यता पृ० २३९।
७१. पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म, पृ० २४।
७२. या च समेति पापानि अणुं थूलानि सब्वसो।
समितत्ता हि पापानं समणाति पवुच्चति॥
धम्मपद—१० (धम्मट्ठवग्गो)
७३. सुत्तनिपात—पृ० २१।
७४. वही, पृ० ७९, संयुत्तनिकाय १, पृ० १६७।
७५. संयुत्तनिकाय १, पृ० १८४।
७६. चूलहस्थिपदोपम सुत्त (मज्झिमनिकाय १/३/७)।
७७. उपालिसुत्त (मज्झिमनिकाय २/१/६)।
७८. महाअस्सपुर सुत्तन्त (मज्झिमनिकाय १/४/९)।
७९. विनयपिटक चुल्लवग्ग।
८०. विनयपिटक—महावग्ग।
८१. भरतसिंह उपाध्याय: बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन पृ० ८३४।

चिंतन के लिए :

८. पार्श्वनाथ और पद्मावती×

❑ श्री राजमल जैन

केरल के जैन मन्दिरों में पार्श्वनाथ की प्रतिमाएँ हर स्थान पर पाई जाती हैं। जहां प्रतिमा उकेरी गई हैं वहां भी पार्श्वनाथ की प्रतिमा अवश्य अंकित पाई जाएगी। इसी प्रकार खुदाई मे प्राप्त मूर्तियों में पार्श्वनाथ की प्रतिमायें ही अधिक प्राप्त हुई हैं। पद्मावती देवी पार्श्वनाथ की यक्षी या शासनदेवी हैं। पार्श्वनाथ की मूर्ति के साथ या अलग प्रतिमा के रूप में पद्मावती का अंकन भी सामान्यतया पाया जाता है। केरल मे वे अब भगवती के रूप में पूजी जाती हैं। उनके मन्दिर भगवती के मन्दिरों के रूप में परिवर्तित कर दिए गए हैं ऐसा कुछ विद्वानों का मत है। जैसे कल्लिल और तिरुच्चारणट्टमले के भगवती मन्दिर।

पार्श्वनाथ जैनों के तेईसवें तीर्थंकर हैं। वे केवल पौराणिक देवता नही हैं। वे इस भूतल पर सचमुच जन्मे थे। उन्होंने सत्य, अहिंसा आदि का उपदेश दिया था। उनकी स्मृति में आज भी बिहार का एक पर्वत 'पारसनाथ हिल' कहलाता है। इसी नाम का एक रेलवे स्टेशन भी है। उनकी वास्तविकता का इससे बड़ा और क्या प्रमाण हो सकता है? इसके अतिरिक्त, बौद्ध साहित्य में उनसे संबंधित उल्लेखों आदि के आधार पर हरमन याकोबी ने उनकी ऐतिहासिकता सिद्ध की है। डा० राधाकृष्णन ने भी उन्हें ऐतिहासिक व्यक्तित्व माना है।

तीर्थंकर पार्श्व का जन्म आज १९९१ से २८६८ वर्ष पूर्व हुआ था। इस गणना का आधार इस प्रकार है—अन्तिम और चौबीसवें तीर्थंकर महावीर का निर्वाण ईसा से ५२७ वर्ष पूर्व हुआ। उनसे २५० वर्ष पूर्व पारसनाथ हिल पर पार्श्वनाथ का निर्वाण जैन परम्परा मे मान्य है। उनकी आयु १०० वर्ष थी। इस प्रकार—१९९१+५२७+२५०+१००=२८६८ वर्ष का योग आता है।

पार्श्व का जन्म वाराणसी में हुआ था। उनका जन्म-स्थान आजकल की वाराणसी के भेलपुर नामक मुहल्ले में विद्यमान है। जैन यात्री आज भी उस स्थान की वंदना करते हैं। उनके पिता वाराणसी के राजा अश्वसेन थे। उनकी माता का नाम वामादेवी था। कुछ लेखक या आख्यान उनके पिता का नाम विश्वसेन और माता का नाम ब्राह्मीदेवी भी बताते हैं किन्तु सबसे अधिक ज्ञात और प्रचलित नाम अश्वसेन और वामादेवी ही है। बौद्ध साहित्य मे भी राजा अश्वसेन का उल्लेख मिलता है। उनका गोत्र काश्यप और वंश उरग था। उरग का अर्थ है—उर अर्थात् पेट के बल पर गमन करने वाला यानी नाग। इसका अर्थ यह है कि वे नागवंशी थे या नाग जाति में उत्पन्न हुए थे। उनके पैर मे सर्प का चिह्न भी जैन कथाओ मे वर्णित है। उनके वंश की राजकीय ध्वजा पर भी नाग का अंकन था। पार्श्व का शरीर नौ हाथ ऊँचा था। उनके जीवन की एक निम्नलिखित घटना की स्मृति मे सर्प फणावली उनकी प्रतिमाओं के साथ जुड गई।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जीवन अनेक काव्यो, पुराणों आदि का विषय है। दिगम्बर आम्नाय के ग्रन्थो में तिलोयपण्णत्ति और आचार्य गुणभद्र का उत्तरपुराण इनमे प्रमुख हैं। यह पुराण कर्नाटक के बंकापुर नामक स्थान मे ईस्वी सन् ८९८ मे पूर्ण हुआ था जब कि राष्ट्रकूट राजा अकालवर्ष राज्य कर रहा था। श्वेताम्बर ग्रन्थों मे कल्पसूत्र और आचार्य हेमचन्द्र का त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र प्रमुख है जिसमे कि त्रेसठ श्रेष्ठ पुरुषो का चरित्र वर्णित है। दोनो सम्प्रदायों मे मुख्य अंतर पार्श्व के विवाह का लेकर है। दिगम्बरों के अनुसार पार्श्व के विवाह का प्रस्ताव तो आया था किन्तु उन्होने उसे अस्वीकार कर दिया था। श्वेतांबर मान्यता इसके विपरीत है। उसके

× लेखक की अप्रकाशित पुस्तक 'केरल में जैन मतम्' का एक अध्याय।

अनुसार उनका विवाह राजा प्रसेनजित की पुत्री प्रभावती से हुआ था। किंतु प्राचीन श्वेतांबर ग्रंथ कल्पसूत्र से इसका समर्थन नहीं होता है। केरल में भी इसी प्रकार की एक भ्रांति है। वहां नागरकोविल नामक एक स्थान पर नागराज मन्दिर या कोविल है। उसमें पार्श्वनाथ की पीतल की मूर्ति शेषशायी विष्णु के रूप मे पूजित है (फणावली के कारण यह सम्भव हुआ होगा) यह मन्दिर १६वीं शताब्दी तक जैन मन्दिर था वहां यह बताया जाता है कि पार्श्वनाथ का विवाह हुआ था और और उनकी तीन फणों का छत्र धारण करने वाली दो पत्नी है। यह गलत धारणा इसलिए बनी जान पड़ती है कि इस मंदिर के प्रवेश द्वार पर तीन-चार फुट ऊंची धरणेन्द्र और पद्मावती की प्रतिमाएं बनी हुई है जिनकी आकृति ऊपर की ओर मानवीय है और नीचे का भाग सर्पाकार है। दोनों के ऊपर तीन फणों की छाया है। जैन आख्यान की जानकारी के अभाव मे यह धारणा बन गई ऐसा जान पड़ता है : ये पार्श्व के यक्ष-यक्षी हैं।

पार्श्व की जीवन-गाथा अनेक पिछले जन्मों से चली आ रही शत्रुता और असाधारण क्षमा की अनोखी कहानी है जो आज भी इतनी ही रोचक बनी हुई है। इसके अतिरिक्त, अपने उपकारी पार्श्वनाथ के प्रति धरणेंद्र और पद्मावती ने कृतज्ञता का जो उदाहरण पार्श्व के ही जीवनकाल मे प्रस्तुत किया और जिस प्रकार पार्श्व के अनुयायियों का आज भी उपकार करते चले आ रहे हैं, वह भी एक अनूठा सत्य है। यह कहानी उत्तरपुराण के आधार पर यहाँ दी जा रही है।

सुरम्य देश में पोदनपुर नाम के एक नगर में अरविंद नाम का एक राजा राज्य करता था। उसकी नगरी में विश्वभूति नामक एक श्रुतिज्ञ ब्राह्मण भी निवास करता था। उसके दो पुत्र थे। एक का नाम कमठ था और दूसरे का नाम मरुभूति था। मरुभूति की स्त्री वसुंधरी अत्यन्त सुन्दर थी। उसको पाने के लिए कमठ ने मरुभूति को मार डाला।

मरुभूति मर कर मलय देश के एक वन में वज्रघोष नामक हाथी हुआ। इसी बीच राजा अरविंद राज्य त्याग कर मुनि हो गए थे और वे भ्रमण करते हुए उसी वन मे आकर ध्यानस्थ हुए। हाथी मद में था और वह उन्हें मारने के लिए लपका किंतु जैसे ही उसने उनके वक्षस्थल पर श्रीवत्स चिह्न देखा, उसे मुनि से अपने पूर्व जन्म के संबंध का स्मरण हो आया। मुनि से उसने धर्म श्रवण किया और लौट गया। अब वह दूसरों के द्वारा तोड़ी गई पत्तियों और शाखाओं को खाकर ही अपना जीवन-निर्वाह करने लगा। वह कमजोर हो गया। एक दिन वह पानी पीने के लिए वेगवती नदी के किनारे गया वहाँ वह दलदल में फँस गया। कमठ उसी वन में मरकर कुक्कुट सर्प के रूप मे जन्मा था। उसने हाथी को डस लिया। हाथी मर कर सहस्रार नामक स्वर्ग में देव के रूप मे उत्पन्न हुआ।

स्वर्ग में अपनी आयु पूर्ण करने के बाद मरुभूति का जन्म पुष्कलावती देश में राजा विद्युन्मति के यहाँ रश्मिवेग नामक पुत्र हुआ। राज-सुख भोगने के बाद जब उसे अपनी आयु अल्प जान पड़ी, तो उसने मुनि-दीक्षा ले ली। वह हिमगिरि की एक गुफा में ध्यान मे लीन हुआ। उधर कमठ का जीव धूमप्रभा नामक नरक की भयंकर यातनाएँ भोगने के बाद उसी स्थान पर अजगर के रूप में जन्मा था। उसने मुनि को निगल लिया। वे अच्युत स्वर्ग मे देव हुए।

स्वर्ग के सुखी जीवन के बाद मुनि के जीव ने पद्म देश के अश्वपुर नगर के राजा वज्रवीर्य के घर वज्रनाभि नामक पुत्र के रूप में जन्म लिया। उसने चक्रवर्ती के सुख भोगे और अंत मे मुनि जीवन अपना लिया। अजगर छठे भयंकर नरक में गया था। वहाँ असह्य यातनायें भोगने के बाद वह कुरंग नामक भील हुआ। संयोग से वज्रनाभि मुनि भी उसके स्थान के समीप योग मुद्रा में लीन हुए। भील ने वैरवश उनको अनेक प्रकार के कष्ट दिए जिनके कारण उनका प्राणांत हो गया। वे ग्रैवेयक नामक स्वर्ग विमान में श्रेष्ठ अहमिंद्र देव हुए।

अहमिंद्र पद का अतिशय सुखमय दीर्घ जीवन जीने के बाद मरुभूति का जीव कोशल देश की अयोध्या नगरी में राजा वज्रबाहु के यहाँ आनन्द नामक पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। बड़ा होने पर उसने अष्टाह्निका पूजा करवाइ जिसमें विपुलमति नामक मुनि शामिल हुए। राजा आनन्द ने मुनि से प्रश्न किया—"जिनेन्द्र प्रतिमा तो

अचेतन है, उसमें भला-बुरा करने की क्षमता नहीं है, वह पुण्य फल कैसे प्रदान कर सकती है?" मुनि ने उत्तर दिया—"प्रतिमा अचेतन अवश्य है किंतु राग-द्वेष से रहित है, शस्त्र-अलंकार आदि से भी रहित है और शुभ भावों को दर्शाती है। उसका दर्शन करने वाले के भाव शुद्ध होते हैं तथा शुभ भावों के कारण पुण्य होता ही है।" राजा को इस उत्तर से बड़ा संतोष हुआ। उसने अनेक जिन-मन्दिरों और मूर्तियों का निर्माण कराया। एक दिन उसने अपने मस्तक पर एक सफेद बाल देखा, उसे देख उसे वैराग्य हो गया। पुत्र को राज्य देकर उसने तप की राह अपनाई। तीर्थंकर कर्मबंध में सहायक सोलहकारण भावनाओं का चिंतन करते हुए उसने घोर तप किया। अन्त में, आनन्द मुनि एक वन मे ध्यानस्थ हुए। उसी वन मे कमठ का जीव सिंह के रूप मे जन्मा था। वह प्रकट हुआ और उसने मुनि का कंठ पकड़ कर उसका प्राणांत कर दिया। आनंद मुनि अच्युत स्वर्ग के प्राणत नाम मे विमान में अहमिंद्र देव हुए।

स्वर्ग की अतिशय सुखपूर्ण दीर्घ आयु पूर्ण करने के बाद प्राणत विमान के इन्द्र वाराणसी के काश्यपगोत्री राजा विश्वसेन की रानी ब्राह्मीदेवी के गर्भ में आए। रानी ने उस समय सोलह स्वप्न देखे जिनका फल राजा ने यह बताया कि वे पूजनीय पुत्र को जन्म देगी। समय पर रानी ने पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम पार्श्वनाथ रखा गया। वे उग्रवंश मे जन्मे थे। प्रसिद्ध इतिहासकार डा० ज्योतिप्रसाद जैन ने विभिन्न स्रोतों के आधार पर यह मत व्यक्त किया है कि पार्श्वनाथ उरगवशी थे। उन्होंने लिखा है कि महाभारत युद्ध के बाद कौरवो और पांडवों के राज्य नष्ट हो गए और उनके स्थान पर नाग जाति के राजाओं के राज्य उदित हुए। वाराणसी का उरगवशी राज्य भी इसी प्रकार के शक्तिशाली राज्यों मे से एक था। वैदिक धारा के ग्रंथों मे इन सत्ताओं का उल्लेख शायद इसलिए नहीं मिलता कि वे इस धारा की अनुयायी नहीं थीं। केरल मे भी उस समय नाग जाति प्रबल थी। उसकी अपनी शासन व्यवस्था थी।

पार्श्वनाथ जब सोलह वर्ष के हुए तब एक दिन वे क्रीड़ा के लिए अपनी सेना के साथ नगर के बाहर निकले। उन्होने देखा कि उनकी माता का पिता (नाना) अपनी पत्नी के वियोग मे दुखी होकर पचाग्नि तप कर रहा है। उसके चारो ओर आग जल रही थी और ऊपर से तेज सूरज की धूप चमक रही थी। पार्श्व ने उसे नमस्कार नहीं किया। इससे वह क्रुद्ध गया। बुझती आग मे लकड़ी डालने के लिए जैसे ही उसने फरसा उठाया कि पार्श्व बोल उठे—"इसे मत काटो, इसमें जीव है। आग तपने से पुण्य नही होता है। उससे जीव हिंसा होती है।" तापस नही माना। उसने लकड़ी काट डाली और उसमे प्रविष्ट नाग-नागिन के दो टुकड़े हो गए। पार्श्वनाथ ने उस जोड़े को धर्म का उपदेश दिया (णमोकार मत्र सुनाया) ताकि उनकी आत्मा को शांति मिले। इस दृश्य के कारण कमठ के जीव तापस महीपाल को वहाँ एकत्र जन-समुदाय के सामने बहुत नीचा देखना पड़ा। उसने मन ही मन पार्श्व से बदला लेने की ठान ली। आचार्य गुणभद्र ने पार्श्वनाथ का एक और नाम सुभौमकुमार भी दिया है।

पार्श्वनाथ जब तीस वर्ष के हुए, तब अयोध्या के राजा जयसेन ने एक दूत को भेंट आदि के साथ अश्वसेन और पार्श्वनाथ के पास यह सदेश देकर भेजा कि कुमार का विवाह उसकी पुत्री के साथ कर देने का उसका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया जाए। दूत ने प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की जन्मभूमि अयोध्या की महिमा का वर्णन किया। आदिनाथ का नाम सुनकर पार्श्वनाथ के सामने प्रथम तीर्थंकर की महान् तपस्या, अद्भुत त्याग और यशस्वी जीवन का चित्र सामने आ गया। उन्होंने अवधिज्ञान से यह जाना कि वे तो तीर्थंकर होने की क्षमता प्राप्त कर चुके हैं। इसलिए उन्होंने विवाह का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। वैराग्य हो जाने के कारण वे मुनि बन गये। एक दम नग्न, हाथ मे लकड़ी का कमडलु और मोर के सुकोमल पंखों की एक पिच्छी। उन्होंने उपदेश देने से पहले चार मास तक कठोर तपस्या की।

एक दिन पार्श्वनाथ देवदारु के एक वृक्ष के नीचे ध्यान-मग्न थे कि उस समय तापस महीपाल, जो मरकर अब शम्बर देव के रूप में उत्पन्न हुआ था, उधर से अपने विमान से कही जा रहा था। जैसे ही उसका विमान पार्श्वनाथ के ऊपर आया कि वह रुक गया। शम्बर ने

ज्यों ही पार्श्व को नीचे देखा, त्योंही पूर्व जन्म का बैर उसके मन मे उमड आया। उसने बादलों की घोर गर्जना की, बिजली की भयकर कड़कडाहट के साथ घनघोर वर्षा की, पत्थर फैंके तथा अन्य प्रकार से पार्श्वनाथ को कष्ट पहुंचाता रहा किंतु पार्श्व अपने ध्यान से नहीं डिगे। शम्बर के ये उपद्रव "कमठ के उपसर्ग" के नाम से जैन परम्परा मे जाने जाते हैं और बहुसंख्य जैन मन्दिरों में इनके चित्र या उत्कीर्णन पाए जाते हैं। कलाकारो ने इनका चित्रण भी अनेक प्रकार मे किया है। कर्नाटक के शिमोगा जिले के होम्बजा नामक एक स्थान में पार्श्वनाथ की ७वी शताब्दी की एक सात फुट ऊँची सुन्दर पाषाण प्रतिमा है। उसके दोनो ओर कमठ और उसकी पत्नी को पार्श्व पर उपसर्ग करते दिखाया गया है। पहले दृश्य में कमठ पत्थर फेंक रहा है, तो उसकी पत्नी के हाथ मे छुरिका है। दूसरे मे कमठ धनुष बाण ताने हुए है, तो उसकी पत्नी हाथ मे तलवार लिए हुए है। तीसरे मे दोनो ने सिंह का रूप धारण किया है। चौथे मे वे दोनो मदमत्त हाथी के रूप मे प्रदर्शित है। सबसे नीचे उन्हे हाथ जोड़कर पार्श्वनाथ से क्षमा मागते हुए दिखाया गया है। सम्भव है कि सातवी सदी मे उपलब्ध किंतु उत्तरपुराण (नौवी शताब्दी) को अनुपलब्ध किसी पुराण मे यह दृश्यावली वर्णित हो।

घनघोर वर्षा, ओलों की बरसात का परिणाम यह हुआ कि पानी पार्श्वनाथ की नासिका से ऊपर उठने को हुआ। ठीक उसी समय अधोलोक में नागकुमार जाति के देवो के इन्द्र धरणेन्द्र का आसन कंपित हो उठा। धरणेंद्र ने अवधिज्ञान से यह जाना कि उनके उपकारी पार्श्वनाथ पर सकट आया है। वह अपनी इन्द्राणी पद्मावती सहित सर्प का रूप धारण कर वहाँ आया और पार्श्वनाथ पर फणो का मण्डप तान दिया। इन्द्राणी पद्मावती ने उसके भी ऊपर एक वज्रमयी छत्र लगा दिया। कुछ के मतानुसार पद्मावती ने पार्श्व को कमल के आसन पर विराजमान कर दिया। ये इन्द्र-इन्द्राणी और कोई नही अपितु पूर्व जन्म के वे ही सर्प-सर्पिणी थे जिनको सद्गति के लिए पार्श्वनाथ ने उनके अंत समय मे णमोकार मंत्र सुनाया था। आचार्य गुणभद्र कहते है कि देखो सर्प स्वभाव से क्रूर होते है किंतु उन्होने भी अपने उपकारी को नही भुलाया। पार्श्वनाथ को अडिग देख कमठ ने भी उनसे क्षमा मांगी। जिस समय यह घटित हो रहा था, उसी समय पार्श्वनाथ को केवलज्ञान हो गया। अब वे इतने ऊँचे स्तर पर थे कि उन्हें न तो कमठ से कोई द्वेष था और न ही धरणेंद्र से कोई राग। उस समय वे उत्तम क्षमा के सर्वोत्तम साक्षात् उदाहरण थे।

जिस स्थान पर यह घटना घटी, वह स्थान उन दिनों संख्यावती के नाम से जाना जाता था किंतु इस अभूतपूर्व घटना की याद मे उसका नाम बदल कर अहिच्छत्र अर्थात् वह स्थान जहाँ अहि (सर्प) ने छत्र ताना था, कर दिया गया। आज भी वह इसी नाम से जाना जाता है। वह उत्तरप्रदेश के बरेली जिले के आंवला तहसील के रामनगर गांव का एक भाग है। यह कैसा संयोग है कि केरल नपूतिरि ब्राह्मण अहिच्छत्र से केरल मे आ बसे। क्या पार्श्वनाथ के धर्म के अत्यधिक प्रभाव के कारण उन्हे ऐसा करना पड़ा? केरल मे भी उन्हे नाग जाति के लोगो (नायर जाति) से मेलजोल बढ़ाना आवश्यक हुआ। यह बात दूसरी है कि आगे चलकर वे उन पर हावी हो गए।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने ६९ वर्ष और ८ मास तक पैदल घूम-घूम कर अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह अर्थात् आवश्यकता से अधिक सग्रह आदि नही करना आदि सिद्धांतों और आचार-विचार का उपदेश भारत और देशो में दिया था यह बात अनेक कथाओ से प्रमाणित होती है। उनका विहार, तिब्बत, नेपाल से लेकर कोंकण, कर्नाटक, पल्लव आदि द्रविड़ देशो मे भी हुआ था। आज उनके उपदेश लिखित रूप मे उपलब्ध नही है। वे महावीर से पहले हुए थे और उनके उपदेश महावीर के प्रमुख शिष्य गौतम गणधर ने चौदह ग्रंथो के रूप मे सकलित किए थे जिन्हें "पूर्व" कहा जाता था। इनके सम्पूर्ण ज्ञाता आचार्य भद्रबाहु थे। इस प्रकार महावीर स्वामी के निर्वाण के १६२ वर्ष बाद ये स्मृति से लुप्त हो गए। यह स्मरणीय है कि पहले समस्त ज्ञान मौखिक था। वेद भी तो १४वी सदी में जाकर लिपिबद्ध किए गए। लुप्त हो जाने पर भी पूर्व ग्रथों का पता कुछ ग्रथो मे उनके उल्लेख से चलता है। इसी प्रकार का एक उल्लेख केशी-गौतम संवाद है जो कि पार्श्वनाथ और महावीर के शिष्यों के बीच हुआ माना

जाता है। केवल इस संवाद के आधार पर कुछ विद्वान यह मत व्यक्त करते है कि पार्श्वनाथ ने चातुर्याम धर्म का अर्थात् अहिंसा, सत्य, अचौर्य तथा अपरिग्रह का ही उपदेश दिया था। किंतु यह मत एकांगी माना जा सकता है क्योंकि इसका दूसरा प्रमाण उपलब्ध नही है। ऐसे विद्वान यह कथन करते हैं कि महावीर ने ब्रह्मचर्य नामक पांचवा व्रत और जोड़ दिया। जैन परम्परा यह मानती है कि सभी तीर्थंङ्करो का उपदेश पांचों व्रतों का ही रहा यद्यपि कुछ समय धर्म का उच्छेद हुआ था। लिखित साहित्य के अभाव के संबंध मे यह भी स्मरणीय है कि पूर्वो के जानकार आचार्यों को "श्रुतधराचार्य" कहा जाता था और पार्श्व एवं महावीर के अनुयायियों को आज भी श्रावक (सुनने वाला) कहा जाता है। पार्श्व को अपना इष्ट देव मानने वाली बिहार-बंगाल की "सराक" जाति श्रावक ही है। अब यह जाति अजैन है।

अपनी आयु निकट जानकर पार्श्वनाथ बिहार की वर्तमान पारसनाथ हिल, जिसे जैन लोग सम्मेदशिखर कहते है, जिसकी सबसे ऊँची चोटी "सुवर्णभद्र कूट" पर ध्यानस्थ हुए। वही पर श्रावण शुक्ला सप्तमी के दिन उनका निर्वाण हुआ।

पार्श्वनाथ की ख्याति एक चमत्कारिक तीर्थङ्कर के रूप मे सर्वाधिक है। नौवी शताब्दी मे उत्तरपुराण की रचना करने वाले आचार्य गुणभद्र ने पार्श्व का स्तुति मे कहा है कि हे भगवान, गुणों आदि के विचार से सभी तीर्थङ्कर समान है किंतु आपका माहात्म्य अधिक ही प्रकट हुआ है। इसका कारण उन्होंने कमठ द्वारा किए गए उपसर्ग को बताते हुए यह मत प्रकट किया है कि उससे भगवान की असाधारण सहनशीलता और माहात्म्य प्रकट आज बीसवी सदी मे तो पार्श्वनाथ की महिमा कई गुना अधिक बढ़ गई है। अनेक पुराण-प्रसग और हजारो भक्त यह कहते मिल जायेंगे कि पार्श्व की कृपा से यह फल मिला। जैन मान्यता के अनुसार तो निर्वाण के बाद तीर्थङ्कर ऊर्ध्वलोक म सिद्धशिला पर निराकार विराजते हैं। वे सभी प्रकार के सांसारिक कर्मों-बंधनों से मुक्त हो वीतराग हो जाते है। वे न तो किसी का हित करते हैं और नही किसी का अहित। उनका गुणगान स्मरण या दर्शन तो केवल उन्हीं जैसे शुद्ध आचार एवं विचार की साधना और उसके परिणामस्वरूप मोक्ष-लाभ के लिए किया जाता है। तो फिर इतनी चमत्कारिता पार्श्वनाथ में कैसे आ गई? इसका सम धान यह है कि धरणेन्द्र और पद्मावती ने अपने उपकारी पार्श्वनाथ का उपसर्ग तो दूर किया ही, वे पार्श्व के भक्तो के कष्टों का भी निवारण करते हैं। ऐसा वे धर्मवत्सलता के कारण करते है। आचार्य गुणभद्र कहते है कि—"देखो, ये धरणेन्द्र और पद्मावती बड़े कृतज्ञ और बड़े धर्मात्मा है इस प्रकार की स्तुति को वे संसार में प्राप्त हुए है परन्तु तीनों लोको के कल्याण की भूमिस्वरूप आपका ही यह उपकार है ऐसा समझना चाहिए। निष्कर्ष यह है कि पार्श्वनाथ की मूर्तियो अथवा भक्ति के जो चमत्कार देखे जाते हैं, उनके कर्ता ये दोनों ही होते है। ये पार्श्व के यक्ष-यक्षी अथवा शासनदेवता कहलाते है। चमत्कारों के क्षेत्र मे महादेवी पद्मावती ने असाधारण ख्याति प्राप्त की है। आचार्य मल्लिषेण ने अपनी रचना "भैरव पद्मावतीकल्प" मे उन्हें 'श्रीमत्पार्श्वजिनेशशासनसूरी पद्मावती देवता" कहा है। पद्मावती के स्वतत्र मन्दिर भी होम्बुजा, नागदा, बघेरा आदि स्थानो पर निर्मित हुए हैं। केरल में वायनाड जिले के चुंडेल नामक स्थान के पास कूटमण्डा ग्राम की पद्माम्बा इस्टेट मे एक दर्पण मन्दिर (Mirror Temple) है जिसम पार्श्वनाथ और पद्मावती देवी की विविध छवियाँ दर्पण और बिजली की सहायता से दिखाई जाती है (इसे पिछले चालीस वर्षों मे हजारो जैन-अजैन लोगों ने देखा है। केरल सरकार ने इसे कालीकट-वायनाड़ के पर्यटक केन्द्रों मे गिनाया है) केरल के जैनों को बड़ी श्रद्धापूर्वक पद्मावती की आरती आदि करते देखा जा सकता है। दिल्ली के दिगम्बर जैन लाल मन्दिर में पद्मावती की आरती आदि करती भीड़ देखी जा सकती है। दिल्ली में ही श्वेतांबर समाज द्वारा कुछ करोड़ की लागत से वल्लभ स्मारक का निर्माण कराया जा रहा है। उसमे मूर्ति के लिए स्थान नहीं है किंतु उसके निर्माण से पहले पद्मावती का एक स्वतत्र मंदिर बनवाया गया। पालीताना में भी इसी समाज का एक भव्य समवसरण मन्दिर बना है जिसमें पार्श्वनाथ की १०८ प्रतिमाएँ है और धरणेन्द्र तथा पद्मावती की भी

इस प्रकार ये दोनों ही समाजों मे मान्य हैं। श्वे० में किसी भी मूर्ति या मन्दिर की प्रतिष्ठा या पंचकल्याणक महोत्सव के समय इनका आह्वान अवश्य किया जाता है।

पद्मावती जैनों मे ही लोकप्रिय नहीं है, अपितु अन्य मतों में भी वे मान्य हैं। वे तिरुपति के बालाजी की प्रिया हैं। कश्मीरी कौल संप्रदाय के ग्रन्थ शारदातिलक मे उनकी उपासना विधि दी गई है। यह उल्लेखनीय है कि कश्मीर में अशोक ने जैनधर्म का प्रचार किया था ऐसा कथन कश्मीर के इतिहास से संबधित रचना राजतरंगिणी मे है।

जैन मान्यता के अनुसार धरणेन्द्र और पद्मावती नाग कुमार जाति के देवों के इन्द्र और इन्द्राणी हैं। इसको सूचित करने के लिए उनकी मूर्ति आधी मानव शरीर के रूप में तो आधी सर्प की देह के आकार की बनाई जाती है। इस प्रकार का अंकन नागरकोविल के नागराज मंदिर के प्रवेश द्वार पर है। यह मंदिर किसी समय जैन था। पार्श्वनाथ की धातु मूर्ति आज भी विष्णु के रूप मे पूजी जाती है। जैन मन्दिरों में इन शासन देवों को पार्श्व के आसन के नीचे या अलग किसी स्थान पर अथवा मन्दिर के बाहर स्थापित किया जाता है। इनके ऊँचे मुकुट में भी लघु पार्श्व प्रतिमा अंकित की जाती है। प्रतिमा मुकुट के ऊपर भी हो सकती है। इन पर तीन फणों की छाया भी प्रदर्शित प्रायः होती है। धरणेन्द्र और पद्मावती से भिन्न फणावली पार्श्वनाथ की मूर्ति पर अंकित की जाती है। सामान्य नियम यह है कि पार्श्व की मूर्ति पर सात फण होने चाहिए। किंतु कहीं-कहीं पाँच फण भी देखे जाते हैं जो कि वास्तव मे सातवें तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ की प्रतिमा पर प्रदर्शित किए जाते हैं। दोनों तीर्थङ्करों की प्रतिमाओं की पहिचान उनके पादासन पर बने चिह्नों से होती है। पार्श्व का लांछन सर्प है जब कि सुपार्श्व का नंद्यावर्त। पुराण मे तो इतना ही संकेत है कि धरणेन्द्र ने फणामंडप तान दिया था किंतु कवियों, कलाकारों, भक्तों आदि ने अपने-अपने रंग भर दिये। कहीं-कहीं तो, ग्यारह या हजार फणों की योजना भी पाई जाती है। कर्नाटक के बीजापुर नगर के पास दरगान नाम के एक स्थान के पार्श्वनाथ मन्दिर मे सहस्रफणी सुन्दर पार्श्व प्रतिमा है। उनके फणों से दूध इस तरह निकलता है कि पार्श्वनाथ के अभिषेक का मनोहारी दृश्य मन को आनंद देता है। कलाकारों पर कौन रोक लगा सकता है?

तीनों लोक संबंधी जैन विवरण में नागकुमार देवों का विवरण उपलब्ध है। जिस पृथ्वी पर हम रहते हैं, उसके नीचे सात भूमियाँ और हैं। इनमे से पहली पृथ्वी के रत्नप्रभा नामक भाग मे इन देवों का निवास है। धरणेन्द्र और पद्मावती इनके स्वामी या इन्द्र और इंद्राणी है। पद्मावती धरणेन्द्र की अग्रमहिषी है। ये एक ही समय मे अनेक स्थानों पर अनेक रूप धारण कर सकते हैं। इस क्षमता को विक्रियाऋद्धि कहा गया है। यही कारण है कि वे अनेक भक्तों का कष्ट निवारण कर सकते हैं। सोचते ही ये कहीं भी प्रकट या अदृश्य रूप मे आ सकते हैं। ये एक साथ सौ लोगों का पोषण या मरण कर सकते हैं। धरणेन्द्र तो एक सेना को मार भगाने मे समर्थ है। दक्षिण भारत की एक रानी द्वारा आह्वान किए जाने पर उसके पति की रक्षा के लिए उन्होंने एक मायामयी सेना ही खड़ी कर दी थी ऐसा एक प्रसंग मिलता है। इनकी आयु दस हजार वर्ष बताई गई है। अभी तो और सात हजार वर्षों तक जगकल्याण करते रहेंगे। इनके भवन सदा सुगंधित रहते हैं। शायद यही कारण है कि इनका आह्वान गुलाब, चंदन आदि सुगंधित पदार्थों द्वारा किया जाता है। मंत्र-शास्त्र के ज्ञाता इस बात को भलीभांति जानते हैं कि बिना श्रद्धा के इन्हें प्रसन्न कर पाना कठिन है। इनसे संबधित अनेक स्तोत्र, स्तुतियां या भजन संस्कृत, हिन्दी, कन्नड आदि भाषाओं मे विशेष रूप से पद्मावती के संबंध मे पाए जाते हैं। देवी पद्मावती को "त्रिफणा" और "त्रिनेत्रा" कहा गया है। वे तीसरे नेत्र से यह जान लेती है कि कहां क्या हो रहा है। इस क्षमता को जैनधर्म में अवधिज्ञान की संज्ञा दी गई है। अधिकांशतः वे स्वप्न देकर मार्गदर्शन करती हैं ऐसा मंत्रविदों का अनुभव है। उनसे जुड़े मंत्रों की संख्या भी बहुत अधिक है। वे रक्तवर्ण हैं जब कि धरणेन्द्र श्यामवर्ण है। भवनवासी देवी पद्मावती और पार्श्वनाथ का संबंध प्राचीनकाल से है। इसे हिंदू या बौद्ध तांत्रिक प्रभाव बताना अनुचित है। उसकी प्रबलता तो ईसा के लगभग एक हजार वर्ष बाद हुई थी। जैन के ये रागी हैं और जैन में वीतराग की पूजा का विधान है।

□□

असंयत-समकित सत्-आचरण रहित नहीं होता

☐ श्री जवाहरलाल मोतीलाल जैन, भीण्डर

प्रश्न—अभक्ष्य भोक्ता के सम्यक्त्व हो सकता है या नहीं ? इसी तरह असयत समकिती के कुछ आचरण होते हैं या नहीं ?

उत्तर—यद्यपि प्राय: सभी गृहस्थाचार प्रतिपादक शास्त्रों में अभक्ष्य का त्याग पंचम गुणस्थान में ही बताया है। इतना तक भी देखिए—प्राय: सभी शास्त्रो मे अष्ट-मूलगुण का पालन तथा सप्तव्यसन का त्याग करने के लिए भी प्रथम प्रतिमाधारी को ही (यानी पंचम गुणस्थावर्ती को ही) कहा है।

यहां इतना विशेष है कि जैसे रात्रि भोजन त्याग छठी प्रतिमा में विहित है, यहा तक कि छठी प्रतिमा का नाम भी रात्रि भुक्ति त्याग है। तथापि इससे पूर्व भी प्रथम प्रतिमा वाला भी रात्रिभोजन का त्यागी होता है। [कार्तिकेयानुप्रेक्षा गा० ३२८ टीका तथा व० श्रा० ३१४ तथा सावयधम्मदोहा गा० ३७ तबोलोसहि जलु ···· ··· इत्यादि शब्द वाली गाथा] एवमेव सामायिक प्रतिमा में सामायिक की बात है, पर द्वितीय प्रतिमाधारी भी सामायिक करता है। प्रोषधोपवास चौथी प्रतिमा का नाम तथा काम कहा, परन्तु व्रत प्रतिमा वाला भी "पर्व चतुष्टय माहिं पाप तजि प्रोषध धरिये" (छह ढाला) इस कथन के अनुसार प्रोषध यथा-शक्ति करता ही है। इसी प्रकार यद्यपि प्राय: प्रथम प्रतिमा मे ही अष्टमूल पालन व सप्त व्यसन त्याग तथा एवमेव अभक्ष्य-भक्षण-त्याग शास्त्रो में लिखा है तथापि सातिचार व अनियमत: ये सब सम्यक्त्वी भी पालता है। प्रथम प्रतिमा मे सप्तव्यसन त्याग निरतिचार व अष्टमूलगुण पालन निरतिचार आवश्यक है [सा० ध० ३/७-८] व नियमत: पालन आवश्यक है। इतना ही नहीं प्रथम प्रतिमा वाला इन दोनों का मन वचन काय से पालन करता है। [क्रियाकोष १८३२] परन्तु असंयत सम्यक्त्वी के अष्टमूलगुण पालन व सप्त व्यसन त्याग अनियमत: (नियम लिए बिना ही) तथा सातिचार (सदोष) पलते हैं। सातिचार व अनियमत: भी पालता इसलिए है कि सम्यक्त्वी तो सदा आगे बढ़ने की चटापटी से युक्त रहना है। अत: सदा वह आगे के अभ्यास में प्रवृत्ति की बुद्धि रखता है कहा भी है—

हे अव्रत परि जगत तें, विरकित रूप रहात ॥१८१६
दोहा—नहिं चाहैं अव्रत दशा, चाहे व्रत-विधान।
मन में मुनिव्रत की लगन, सो नर सम्यकवान ॥१८१७ दो.
[दौलतरामकृत क्रियाकोश]

अव्रती तो है, पर जगत से विरक्त रहता है। वह अव्रत होता हुआ भी अव्रत दशा नहीं चाहता, वह व्रत-विधान चाहता है। उसमें मुनिव्रत पाने की लगन बनी रहती है; ऐसा जीव सम्यग्दृष्टि होता है। उसके मूलगुणो व व्यसन त्याग का पालन सातिचार-सदोष होने से ही वह प्रथम प्रतिमा का धारी नही कहला सकता। जैसे कि पहली प्रतिमा में पांच अणुव्रतों की प्रवृत्ति तो सम्भवती है, पर इनके अतिचार दूर करता नहीं, इसलिए व्रत प्रतिमा नाम नही पाता। [रा० वा० ७/२०/५५८ तथा चारित्र हाहुड़ (जयचन्द जी २३१]।

अब असंयत समकिती के सातिचार अष्टमूल पालन व सप्तव्यसन त्याग की क्या दशा क्वचित् कदाचित् हो सकती है ? उसके लिए निम्न प्रकरण द्रष्टव्य हैं—प्रथम प्रतिमा के प्रकरण में कहा है कि—

ननु साक्षान्मकारादित्रयं जैनों न भक्षयेत्।
तस्य किं वर्जनं न स्यादसिद्ध सिद्धसाधनात् ॥
मैवं यस्मादतिचारा: सन्ति तत्रापि केचन।
अनाचारसमा: नूनं त्याज्या: धर्माथिभि: स्फुटम् ॥
तद्भेदा: सन्ति बहव: मादृशां वागगोचरा: ।·······
लाटी संहिता १/८-९

अर्थ—"कदाचित् यहां पर कोई यह शंका करे कि

कोई भी जैनी मद्य, मांस, शहद का साक्षात् भक्षण नहीं करता इसलिए क्या जैनी मात्र के उसका त्याग नहीं हुआ ? अवश्य हुआ। इसलिए सिद्ध साधन होने से आपके त्याग कराने का उपदेश निरर्थक है ?

उत्तर—यह बात नहीं है, क्योंकि यद्यपि जैन इनका साक्षात् भक्षण नहीं करते है तथापि उनके कितने ही अतिचार हैं और वे अतिचार अनाचारों के समान हैं। इसलिए धर्मात्मा जीवों को (यानी प्रथम प्रतिमा वालों को) उन अतिचारों का भी त्याग अवश्य कर देना चाहिए। उन अतिचारो के बहुत से भेद तो मुझ जैसे पुरुष से कहे भी नहीं जा सकते।"

आगे कहा है--

निसर्गाद्वा कुलाम्नायादायातास्ते गुणाः स्फुटम्।
तद्विनापि व्रतं यावत्सम्यक्त्वं च गुणोऽङ्गिनाम्॥
—ला० स० १/१५५

अर्थ—इस जीव के जब तक सम्यग्दर्शन गुण रहता है तब तक मद्य, मांस मधु का त्याग तथा ५ उदुम्बरों का त्याग रूप गुण, चाहे तो स्वभाव से हो या चाहे कुल परम्परा की परिपाटी से चले आ रहे हों, नियम रूप से या व्रत रूप से धारण न किये हों, तो भी वे गुण ही कहलाते है ॥१५५॥ अर्थात् सम्यक्त्वी के ये होते ही हैं। तथापि प्रथम प्रतिमा रूप त्याग के परिणाम बिना सदोष-सातिचार ही पलते हैं। इसका अत्यन्त स्पष्ट खुलासा लाटी संहिता प्रथम सर्ग से जानना चाहिए। शिवकोटी विरचित रत्नमाला १९ मे कहा है -[श्रावका० सं० ३/४११]

मद्यमांसमधुत्यागसयुक्ताणुव्रतानि नुः।
अष्टौ मूलगुणाः पंचोदम्बरैश्चार्भकेष्वपि ॥१९॥

अर्थ—मद्य, मांस, मधु के त्याग से सयुक्त अणुव्रत मनुष्यो के ८ मूलगुण कहे गए है। ५ उदुम्बर फलों के साथ मद्य, मांस, मधु के त्यागरूप ८ मूलगुण तो बालको और मूर्खों मे भी होते है। [तो फिर सम्यक्त्वी जैसे एक देश जिन (बृ०द्र०स) के मांस आदि अभक्ष्य पदार्थ त्यागरूप कैसे नहीं होगे ?]

[कुन्दकुन्दकृत रयणसार गा० ५ व ७ मे सम्यग्दृष्टि के सप्त व्यसन तथा सात भयो का अभाव बताया है।]

कार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका मे टीकाकार ने असयत सम्यक्त्वी के कुल ६३ गुण बताये हैं। जिनमे ४८ को मूलगुण कहा तथा १५ को उत्तर गुण कहा। यथा ३ मूढ़ता, आठ मद, ६ अनायतन, ८ शंका आदि; इनके त्याग रूप २५ गुण।

संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, अनुकम्पा तथा वात्सल्य ये ८ तथा ५ अतिचार त्याग, शंका आदि, सात भय त्याग, ३ शल्य त्याग इस तरह कुल ४८ हुए। तथा उत्तर गुणो मे ८ मूलगुण व सात व्यसन लिए। यथा—
अष्टौ मूलगुणा सप्त व्यसनानि च इति पंचदशसंख्योपेताः जघन्यपात्रस्य सम्यग्दृष्टेरुत्तरगुणाः भवन्ति।

[३२६ की टीका]

गुणभूषण श्रावकाचार १/४६ [श्रा० सं० २/४४०] में प्रशम, संवेग, निर्वेग, निन्दा, गर्हा, भक्ति, आस्तिक्य और अनुकम्पा; इन आठ को सम्यक्त्व के अनुमापक गुण बताया है। यानी इन ८ द्वारा जीव मे सम्यक्त्व की पहिचान होती है। [See Also वसुनन्दि श्रावकाचार] तथा पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध० ४६७] उक्त ८ सहित सम्यक्त्व के २५ गुण मिलाने से कुल ३३ गुण सम्यक्त्वी के हो जाते हैं। [गुणभूषण० १/६८]

महान् कविवर बनारसी० ने अपने नाटक समयसार १४ गुणस्थान अधिकार में लिखा है -

सत्य प्रतीति अवस्था जाकी।
दिन दिन रीति गहे समता की।
छिन-छिन करै सत्य को साको।
समकित नाम कहावै ताको ॥२७॥

आत्म स्वरूप की सत्य प्रतीति होना, दिन प्रतिदिन समता भाव मे उन्नति होना और क्षण-२ सत्य का साख(?) करता है उसका नाम समकिती है।

करुणा वच्छल सुजनता, आतम निन्दा पाठ।
समता भगति विरागता, धरमराग गुन आठ ॥३०॥

करुणा, वात्सल्य, सज्जनता, आत्मनिन्दा, समता, श्रद्धा, उदासीनता और धर्मानुराग; ये सम्यक्त्व के ८ गुण है।

चित्त प्रभावना भाव जुत, हैय उपादै वानि।
धीरज हरख प्रवीनता, भूषण पंच बखानि ॥३१॥

जैनधर्म की प्रभावना करने का अभिप्राय हेय उपादेय का विवेक धीरज, सम्यक्त्व की प्राप्ति का हर्ष और तत्त्व-विचार में चतुराई; ये ५ सम्यक्त्व के भूषण हैं।

ग्यान गरब मति-मन्दता, निठुर वचन उद्ग र।
रुद्र भाव आलस दशा, नास पंच परकार ॥३७॥

ज्ञान का अभिमान, बुद्धि की हीनता, निर्दय वचनों का भाषण, क्रोधी परिणाम और प्रमाद; ये ५ सम्यक्त्व के नाशक भाव हैं। दौलतराम ने अपने क्रियाकोश में अष्टमूलगुण, सात व्यसन त्याग आदि सब आवश्य बताये और कुल ६३ गुणों वाले को समकिती कहा। यथा—[श्रा० सं० ५/३७०-७१] गाथा १८१३ से १६ :—

अग निशंकित आदि बहु अठ गुण सवेगादि।
अष्ट मदनिको त्याग पुनि अर वसु मूलगुणादि ॥१३॥
सात व्यसन को त्यागिवो अर तजिवो भय सात।
तीन मूढ़ता त्यागिवो तीन शल्य पुनि भ्रात ॥१४॥
षट् अनायतन त्यागिवो अर पाचों अतिचार।
ए त्रेसठ त्यागे जु कोऊ सो समदृष्टि सार ॥१५॥
चौथे गुणथाने तनी कही बात ए भ्रात।
है अव्रत परि जगत मे, बिरकित रूप रहात ॥१६॥

पुरुषार्थ सिद्धयुपाय टी० पृ० ११७ (कुचामन सिटो) में लिखा है कि ८ मूलगुण पालन व सात व्यसन त्याग आदि ६३ गुण सम्यक्त्वी के अनिवार्य हैं।

यदि यह कहा जाय कि नही, हम तो नहीं मानते, सम्यक्त्वी मांस भक्षण प्रत्यक्षतः करता है तो उनका उत्तर उपासकाध्ययन में II आश्वास मे कहा है कि मांस भक्षियों को दया नही होती। तथा मधु व उदुम्बर फल सेवियों मे नृशंसता का अभाव नहीं होता। जब कि सम्यक्त्वी में अनुकम्पा गुण आवश्यक होना है "और मास भक्षण में तीव्र निर्दयपना है।" [रत्नकरण्ड श्रा० पृ. ६६ पृ ६८ सस्ती ग्रन्थमाला] भावसंग्रहदोहा [आ० देवसेन] में भी कहा है—सगे मज्जामिसरयहं मइलिज्जइ सम्मतु। अंजणगिरिसगे ससिहिं किरणह काला हुंति ॥२६॥
अर्थ—मद्य और मांस के सेवन में निरत पुरुषों के संग से सम्यक्त्व मलिन हो जाता है। स्वयं खाने की बात तो दूर रही, मात्र मांस भक्षी व मद्यपायी के सग-मात्र से सम्यक्त्व का मलीन होना बताया है। अजनगिरि के संग से चन्द्र की धवल किरणे भी काली हो जाती है। आगे कहा है—

वेदलमीसिउ दहि महिउ जुत्तु ण सावय होइ।
खद्धइ दसण भगु, पर सम्मत्तु वि मइलेइ ॥३६॥
[श्रा० स० १/४८६]

अर्थ—द्विदलमिश्रित दही और मही भी श्रावक के खाने योग्य नही है। इनके खाने से दर्शन [दर्शन प्रतिमा] का भंग तो होना (ही) है, परन्तु सम्यग्दर्शन भी मलिन हो जाता है।

अव्रती सम्यक्त्वी सर्वथा अव्रती नही होता [जै० सि० को० ४/३७६] सम्यक्त्वी स्वय का बुरा करने वाले के प्रति भी प्रतिशोध का भाव नहीं रखता। [पं० ध० २/४२७/३८६] जिसके भोगाभिलाषा भाव है, वह निश्चय ही मिथ्यादृष्टि है। [पं० ध० २/५५१ पूर्वार्ध अर्थकार—पं० मक्खनलाल जी शा०]। शुद्धात्मा भावना से उत्पन्न निर्विकार यथार्थ सुखरूपी अमृत को उपादेय करके संसार, शरीर और भोगों में जो हेय-बुद्धि वाला है वह सम्यग्दर्शन से शुद्ध चतुर्थगुणस्थान वाला व्रतरहित दार्शनिक है। [बृ० द्र० सं० ४५] सम्यग्दृष्टि को सर्व प्रकार के भोगो मे प्रत्यक्ष रोग की तरह अरुचि होती है। [पंचा० उ० २६१/२७१]।

इस प्रकार ऐसे-ऐसे महागुणों से सम्पन्न सम्यक्त्वी प्रत्यक्ष दृश्यमान ऐसे अभक्ष्य पदार्थों को कैसे खा सकता है? नहीं खा सकता है। कहा भी है—वह मिथ्यात्व, अन्याय व अभक्ष्य का त्यागी हो जाता है। [पृ० ३८, (सम्यक्त्व प्रकरण) "सम्यक्त्व चिन्तामणि", प० पन्नालाल जी साहि० तथा चारित्र निर्माण पृ० ५ विदुषी आ. जिनमति जी]।

इस प्रकार एक देश जिन स्वरूप निर्मल असयत सम्यक्त्वी [बृ० द्र० सं०; प० का० आदि] के यद्यपि अभक्ष्य भक्षण नहीं करता। पर अभक्ष्य भक्षण का त्याग यहां सदोष, सातिचार ही पालता है। अभक्ष्य भक्षण त्याग का निर्दोष व निरतिचार पालन दर्शन आदि प्रतिमाओं में ही सम्भव है। भक्ष्यस्वरूप भी अन्न पान खाद्य

स्वाद्य का मर्यादा के [काल मर्यादा के] बाहर अभक्ष्यपना हो जाता है। ऐसे अभक्ष्यों का त्याग उस असयत के नही होता। अतः कथंचित् इस अव्रती के इन अभक्ष्यों का भक्षण बन जाता है—इनका तो इसके त्याग नही होता। इस प्रकार स्थूलतः इस चतुर्थ गुणस्थानी के अभक्ष्य भक्षण नही होता, तथापि सूक्ष्मतः देखा जाय तो यह अव्रती कथंचित् अभक्ष्य भक्षण से युक्त हो जाता है। (इसके लिए द्रष्टव्य है लाटीसहिता ?) मैं मन्दबुद्धि हूं उक्त निर्णय में कही दोष हो तो विद्वान् सूचित करें।

इस प्रकार इन उदाहरणो/प्रकथनो से यह स्पष्ट किया गया है कि अविरत सम्यग्दृष्टि यद्यपि एकदेश सयम (आशिक) चारित्र से भी युक्त नही होता [चारित्त णत्थि जदो अविरद-अतेसु ठाणेसु गो० जी०] तथापि वह मिथ्या-दृष्टि की कषायो से अनन्तगुणी हीन कषायो से युक्त होता है [धवला पु० ११ वेदनाक्षेत्र विधान अनुयोग द्वार] तथा समस्त कुल क्रियाओं का पालन करता है। वह निशा-भक्षी नही होता, प्रतिदिन जिनबिम्ब दर्शन करता है। जल अनछना वह नही पीता। व्यसन सप्त सेवन नहीं करता। क्वचित् कदाचित् परिस्थिति (विवशता) वश एकाध बार का जूआ व्यसनरूप नही कहलाता [प० रतन० मु० व्य० कृति I चरणानु०] तथा अष्टमूल पालन करता है। प्रतिशोध भाव नही रखता। यथा—रावण के द्वारा सीता हरण किए जाने के पश्चात् भी, अनेक बाधाओं का सामना करते हुए राम लंका पहुंच कर भी अपने गुनाह-गार ऐसे रावण के प्रति युद्ध या विद्रोह के लिए नही ललकारते, अपितु ऐसा कहते हैं कि "हे दशानन ! मेरी जानकी मुझे दे दो, यह राम स्वयं मांगता है।" [देहि दशानन ! जनकात्मजां रामो याचते स्वयम्] धन्य है सम्यक्त्व सत्पुरुष राम की क्षमा को। वह तो उत्तर में रावण नही माना तब युद्ध की विवशता-वश अनिवार्यता बनी। इस प्रकार असंयत सम्यक्त्वी अतिमन्दकषायी होता है। उसकी क्रियाएँ दूसरों के लिए प्रायः आदर्श-सी होती हैं। अविरत सम्यक्त्वी बनारसीदास के घर चोर पहुचे तो चोरी का माल गठरी मे भर कर जब चोर ले जाने लगा तो उससे गठरी उठी नहीं तो स्वयं बनारसीदास (जिसके घर में चोरी हो रही है) ने उठकर स्वय गठरी उठवा दी। धन्य हो, ऐसे होते हैं सद्दृष्टि पुरुष। यही सब देख कर श्रीमद् राजचन्द्र ने बनारसीदास को सम्यक्त्वी कहा [श्रीमद्० पृ० ४८०] दौलतराम जी ने ठीक ही कहा है कि गेही पै ग्रह में न रचै, ज्यों जल तै भिन्न कमल है···।

यदि यहां यह प्रश्न किया जाए कि अष्ट मूलगुण का पालन तथा सप्त-व्यसन-त्याग देवों के कहा होता है, जब कि उनमे भी सम्यक्त्वी तो होते हैं ? इसका उत्तर यह है कि देवो के मास आदि का आहार ही जब नही है [देवों मांस-आहार तथा मद्य पान मानना देवो का अवर्णवाद है [स० सि० ६/१३] तब फिर मास आदि ८ के त्यागरूप मूलगुण धारण करने की उन्हें जरूरत ही कहां पड़ती है ? इसी तरह देवो मे शिकार करना, वेश्या सेवन आदि की भी बात नही है। उनका शरीर भी कवलाहार-रहित तथा सप्तधातु से रहित पवित्र होता है, वह वैक्रियिक शरीर होता है जबकि हमारा शरीर अपवित्र तथा कवला-हारी ऐसा औदारिक शरीर है। फिर देवो के तो वैसे भी हजारों वर्षों तक भूख भी नही [र० व० श्रा० गा० १२८ की टीका सदासुख जी कृत] जब हजारों वर्षो बाद भूख लगती है तथा खाने का भाव आता है तो गले से ही अमृत झर जाता है; जिह्वा झूठी तक नही हो पाती। अतः उनकी व्यवस्था मे हमारी व्यवस्था मिलाना ठीक नही। उनके (देवों के) मधु, मांस, मद्य के आहार या सेवन का प्रश्न ही नही उठता, चाहे वे मिथ्यात्वी हो या सम्यक्त्वी। यथायोग्य नारकी के भी यही बात है। अतः वहाँ अष्टमूल पालन तथा सप्त व्यसन त्याग के विकल्प नहीं है। तिर्यंचों के भी हमारे से तुलना करना उचित नहीं। क्योंकि पचम गुणस्थानवर्ती तिर्यंच भी छन्ने से जल छान कर पीने से तो रहा (हाथिगन डोयो पानी, सो पीवे गजपति ज्ञानी ॥ "पार्श्वपुराण" भूधरदास) तथापि सम्यक्त्वी तिर्यंच भी अन्य जीवो की शिकार कर मार कर नहीं खाता। वह दया भाव रखता है, जिनेन्द्र-वचनो पर श्रद्धान करता है। प्रतिशोध भाव नही रखता, अन्याय नही करता; इत्यादि स्वपर्याय-सम्भव पालनाएँ करता है। इस प्रकार मनुष्यों मे असंयत सम्यग्दृष्टी सर्वथा आचार (आचरण) रहित नहीं होता। वह आचारवान् होता है।

□□

जयधवला पु० १६ का शुद्धिपत्र

—जवाहरलाल जैन/मोतीलाल जैन, भीण्डर

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	२३	संखगातवें	संख्यातवें
४	११	ण्णिवामोह्–	णिव्वामोह्-
४	१२	विशेसाहियं	विसेसाहिय
४	२०	अतः यहाँ	क्योंकि यहाँ
४	२८	इससे प्रायः	यहाँ से लेकर
५	२	पुणे वि	पुणो वि
६	२६	होकर सूक्ष्मसाम्पगायिक	होकर सीधा सूक्ष्मसाम्परायिक
७	४	समयाहियमेत्तपढमट्ठिदीए	समयाहिय आवलियमेत्तपढमट्ठिदीए
७	२०	अधिक प्रथम	अधिक आवली प्रमाण प्रथम
८	७	संषहि	संपहि
८	२२	प्रदेशविन्यासवश	प्रदेशविन्यासविशेष से
६	१	गुणओ	गुणाओ
६	८	ठिदिखडय	ठिदिखंडय
६	२८	उत्कीण	उत्कीर्ण
११	२१	असंख्यातगुणे	असंख्यातगुणे हीन
११	३१	प्रदेशपुंज पल्योपम	प्रदेशपुंज के पल्योपम
१३	२६	जो दा मूल	जो दो मूल
१४	२६	आकृष्टिस्वरुप	अकृष्टिस्वरुप
१८	१०	ग्रत्थविहासण	ग्रत्थविहासणं
२१	१५	गवेसणट्ठ	गवेसट्ठ
२४	७	अणु, भागोदयो	अणुभागोदयो
२४	१०	सरु, वेणदस्स	सरुवेणदस्स
२४	११	अवस्सं, भावि	अवस्स-भावि
२४	१७-१८	क्योंकि 'अलद्दी य' ये कर्म क्षयोपशम लब्धि से रहित हैं। अलब्धि का अर्थ है कि यतः इन कर्मों	क्षयोपशम लब्धि का विरह (=अभाव) अलब्धि कहलाता है। यतः इन कर्मों
२५	१	लद्धिसामाण	लद्धिसामण्णं
३२	७	देसाभासय भूदेण	देसामासय भूदेण
३६	३	के वीचारो	के वीचारा
३६	४	के वीचारो	के वीचारा
४०	२५	हुआ। इसमे	हुआ, अतः इसमें
४४	२२	क्योंकि बादर	क्योंकि चरम बादर

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४५	४	दोहिं मि	दोहिम्हि
४६	४	सपहि	सपहि
४६	१६	अन्तिम समय से	प्रथम समय से
४६	२३	अन्त में जो दो	बाद मे जो दो
५२	३	हादि ;	होदि,
५२	१४	होता है क्योंकि वहाँ	होना है, और सूक्ष्मसाम्परायिक कृष्टियों का अबन्धक होता है, क्योकि वहाँ
५२	२३	इसका विभाषा ग्रन्थ	यह विभाषा ग्रन्थ
५२	२५	इसकी गाथा २०६	इसके पूर्व गाथा २०६
५७	१३-१५	त्ति एदं पुण पुच्छासुत्त ।	त्ति एद णउंसदि वायरणसुत्त त्ति एदं पुण पुच्छासुत्त ।
५८	१२	नियम से स्थिति	नियम से सर्वस्थिति
६०	१६	वीरसेन	जिनसेन
६७	२५	अनन्तर कृष्टि	अनन्त कृष्टि
६९	१३	तविरुद्ध	तव्विरुद्ध
६९	३०	अत्यन्त विरुद्ध	विरुद्ध
७१	२६	आगे इसका	आगे इसी का
७२	२३-२४	लिये विभाषा ग्रन्थ	लिए आगे के विभाषा ग्रन्थ
७४	७	असंखेज्जगुणत्त णियम-	असखेज्जगुणत्तणियम-
७७	२२	उदय मे प्राप्त हुए	उदय मे पतित
७८	२	माणासखेज्ण	माणासंखेज्ज
७९	४	आविलय	आवलिय
८०	१५	सविस्से	सव्विस्से
८०	(चरम)	चाहिगे ।	चाहिए ।
८४	१६-१८	जो नियम से उदयावलि मे ... ...रूप से परिणमती है	जो पूर्व प्रविष्ट अर्थात् उदयावली को प्रविष्ट अनन्त अवेद्य मानकृष्टियें हैं; जो कि विवक्षित सग्रहकृष्टि के अधस्तन व उपरिम असंख्यातवे भाग प्रमाण है ऐसी जो हैं, उनमें से प्रत्येक करके सबकी सब, एरएक वेद्यमान मध्यमकृष्टि रूप से परिणमती है ।
८६	५	पविसमाणाणं तक्किट्टीणं	पविसमाणाणतकिट्टीण
८६	१९	एक कृष्टि सदृश	एक कृष्टि के सदृश
८६	२०	घनरुप होकर परिणमती है ।	घन परिणमते हैं ।
८९	२१	तरह से करने के लिए	तरह से स्पष्ट करने के लिए
८९	२१	उदय सम्पत्ति	उदय सम्प्राप्ति

पृष्ठ	पंक्ति	शुद्ध	अशुद्ध
८६	२३	पश्चिम आवली को	पश्चिम आवली के,
८६	२४	विषय के	स्थान के
६२	१०	कधं ? एत्थ	कधमेत्थ
६२	२५	क्या उससे उदय का ग्रहण	उससे उदय का ग्रहण कैसे
६६	२६	उदयावलि क्षपक	उदय वाले क्षपक
१०२	११	पयदणाणत्त विहाणं	पयदणाणत्त विहदावणं
१०२	२८	इसलिए इस अपेक्षा प्रकृत में भेद का कथन	इस बात का सहारा लेकर प्रकृत में भेद-रूप कथन का बहिष्कार
१०७	१८	क्रोध संज्वलन और मान	माया संज्वलन और लोभ
१११	२०	एक सूत्र मे	इस सूत्र मे
१११	२२	अश्वकर्णकरण की	अश्वकर्णकरण काल की
११४	१५	उद्देश्य	उद्देश (स्थान)
११४	२५	क्योंकि यहाँ पर	परन्तु यहाँ पर
११४	२५	कारण नही है	कारण यह है।
११७	२०	ससय	समय
११६	१८	को प्रतिसमय	को जो कि प्रति समय
११६	१८-१६	सूक्ष्म साम्परायिक स्वरूप अनुभागा कृष्टियों के साथ गलाने वाले	सूक्ष्म कृष्टिस्वरूप अनुभाग के साथ है उन्हें गलाने वाले
१२०	७	कषाये हि	कषायो हि
१२१	२५	असख्यतवें भाग प्रमाण	असंख्यात बहुभाग प्रमाण
१२२	२७-२८	कालप्रमाण शेष काल को	काल के शेष भाग को
१२७	२४	अर्थ के अर्थ का	अर्थ का
१२८	१४	सम्भव उदय	सम्भव एव उदय
१२८	२०	चारित्र मोहनीय की पहले	चारित्र मोहनीय की क्षपणा का पहले
१२६	११	पज्जतेषु	पज्जतेसु
१२६	१८	'कामण'	संकामण
१३२	११	दुपयोगवदुपयोगस्यापि।	दुपयोगस्यापि
१३२	२७-२८	भाव से ग्रहण करने में प्रवृत्त	रूप उपकार में प्रवृत्त
१३४	२४-२५	पर्याय वृद्धि को प्राप्त हुई है	पर्याय प्रकटित (खिली) हुई है
१३६	१८	पीर समाप्ति	परिसमाप्ति
१४०	१६	प्रकृतियो के बाद ही	प्रकृतियो की
१४०	२०	आठ कषायो की क्षपणा प्रारंभ कर	क्षपणा कर
१४०	२१	करने के बाद ही आठ	करने के पूर्व ही आठ
१४२	२७	१ (६०) १४३ भाग १५	१ (६०) १४३ भाग १४ पृ० २६१
१४२	२७	२ (६१) १४४ भाग ०१५	२ (६१) १४४ भाग १४ पृ० २६३

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४२	२७	३ (९२) १४५ भाग १५	३ (९२) १४५ भाग १४ पृ० २६५
१४३	२५	लिए सयोगी केवली	लिए तथा सयोगकेवली
१४५	१६	लोहार्या	लोहार्य
१४७	२७	तथा अयोगी केवली	तथा सयोग केवली
१४९	२९	स्वस्थान सयोगी केवली द्वारा	× × ×
१४९	३०	रहते हुए निक्षिप्त	रहते हुए स्वस्थासयोग केवली द्वारा निक्षिप्त
१५०	२८	प्रकृति	प्रवृत्ति
१५१	१८	क्रिया के भेदरूप साधन	रूप भिन्न क्रिया के साधन
१५३	१४	स्थिति सत्कर्म की तत्काल उपलभ्यमान स्थिति के	तत्काल उपलभ्यमान स्थिति सत्कर्म के
१५४	१८	अपेक्षा वृद्धि	अपेक्षा अथवा वृद्धि
१५८	१७	जाते हैं । कितने ही आचार्य कहते हैं :—	जाते हैं ऐमा कितने ही आचार्य कहते है ।
१५९	१७	अनुभाग के वश से	अनुभागघात के वश से
१६०	२०-२१	कपाट समुद्घात में ठहर कर	स्वस्थान केवलिपने में (यानि मूल शरीर मे) ठहर कर
१६०	२२	इसलिए समुद्घात में	समुद्घात में
१६१	२२-२३	एकसमय द्वारा अनुभाग घात	ग्रहणकर अनुभाग घात
१६२	१०	जीगणिरोह	जोगणिरोह
१६४	६	सुहुमणिगाद	सुहुमणिगोद
१६५	८	ह्राइ—	होइ-
१६७	१८	अपूर्व स्पर्धकों का)	पूर्वस्पर्धकों का)
१६९	२५	असंख्यातगुणहीन	असंख्यातगुणे
१७०	२३	§ ३७० क्यो क	§ ३७० शंका—इसका क्या कारण है ? समाधान—क्योंकि
१७३	१४	समयपुव्व	समयापुव्व
१७४	७	असंखेज्जगुणाए सेढीए ।	असखेज्जगुणहीणाए सेढीए । [कारण देखो—धवल १३/८५, क. पा. सु. पृ. ९०५ तथा ज. ध. १६/१७४ का यहीं पर प्रथम पेरा]
१७४	१५	समय मे पहले की अंतिम कृष्टि से	समय की अन्तिम अपूर्व कृष्टि से
१७४	१७	विशेष मात्र निक्षिप्त करता है ।	विशेष मात्र हीन है।
१७४	१९-२०	असख्यातगुणी श्रेणिरूप से	असंख्यातगुणी हीन श्रेणी रूप से
१७४	२३	असंख्यातगणी श्रेणि	असंख्यातगुणी हीन-श्रेणी
१७५	१७	पाल्योपम	पल्योपम

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१७५	२८	चाहिए, उपरिम	चाहिए, क्योंकि उपरिम
१७७	८	होदि । गयत्थमेदं सुत्तं ।	होदि ।
१७७	९	§ ३८३ संपहि	§ ३८३ गयत्थमेदं सुत्तं । संपहि
१७९	२९	इसलिए इष्ट होने से ध्यान की उत्पत्ति नहीं हो सकती ।	अत. ध्यान की उत्पत्ति नहीं हो सकती, ऐसा अभीष्ट है।
१८२	२६	द्वारा योग निरोध रूप	द्वारा तथा योगनिरोधरूप
१८६	३१	मोक्ष का अभाव मानने पर मोक्षप्रक्रिया का अवतार करना असमंजस नहीं ठहरेगा ।	यह मोक्ष प्रक्रिया का अवतार असमंजस (असगत या अनुचित) नही है ।
१८७	१८	भी भ्रष्ट पुरुषार्थ को	भी पुरुषार्थ से भ्रष्ट होने यानी पुरुषार्थ से भटकने को
१८७	३१	नाना रूप स्थिति	नाना रूप प्रकृति, स्थिति
१८९	३	चरिमोत्तम-	चरमोत्तम-
१८९	२०	उत्तम चरित्र और उत्तम	तथा चरम उत्तम
१९०	२	निर्वृतीति	निर्वातीति
१९१	६	मोहनीय-क्षयं	मोहनीये क्षयं
१९१	१५-१६	तथा यथोक्त कर्मों के क्षय में हेतुभूत कारणों के द्वारा संसार	तथा कर्मों के क्षय मे हेतु रूप यथोक्त कारणों द्वारा पूर्वोपार्जित कर्मों का क्षपण करने वाले के संसार
१९२	२४	पुग्दलों	पुद्गलों
१९२	२८	कही जाती है ।	मानी जाती है ।
१९४	२२-२४	क्योकि सांसारिक सुख की प्राप्ति में.......... आकुलता से रहित है ।।३२।।	क्योंकि मुक्त जीव क्रियावान् है जबकि सुषुप्तावस्था में कोई क्रिया नही होती। तथैव मुक्त जीव के सुख का अतिशय (अधिकता) है । जबकि सुषुप्तावस्था में सुख का अतिशय नही है सुषुप्तावस्था मे तो लेशमात्र भी सुख का अनुभव नही होता । [यहाँ संसार सुख तथा मोक्षसुख की तुलना न होकर निद्रावस्था व मोक्षावस्था की तुलना है ।]

उक्त संशोधनो मे से विज्ञ सुधीजन जो उचित लगे उसे ग्रहण कर लें ।

—जवाहरलाल जैन

गतांक से आगे :

श्री शांतिनाथ चरित सम्बन्धी साहित्य

☐ कु० मृदुल कुमारी, बिजनौर

१०. शान्तिनाथ चरित : भाव चन्द्र सूरि—श्री भावचन्द्र सूरि ने इस शान्तिनाथ चरित की रचना संवत् १५३५ मे सरल सस्कृत गद्य में की थी[१]।

भावचन्द्र सूरि पूर्णिमा गच्छ के पार्श्वचन्द्र के प्रशिष्य एवम् जयचन्द के शिष्य थे। ग्रन्थ का प्रमाण ६५०० श्लोक है। इस ग्रन्थ की ग्रन्थकार द्वारा लिखी गई सवत् १५३५ की एक प्रति लाल बाग बम्बई मे एक भडार से मिली है।

इसके छह प्रस्तावों मे भगवान् शांतिनाथ तीर्थंकर के १२ भवो को वर्णन है। वर्णन क्रम मे अनेक उपदेशात्मक कहानियाँ भी आ गई है जिससे ग्रन्थ का आकार बहुत बढ गया है। बीच-बीच में प्रसंगवश ग्रन्थान्तरों से लेकर प्राकृत और सस्कृत पद्यो का उपयोग किया गया है। ग्रथ के समाप्त होते-होते रत्नचूड़ की सक्षिप्त कथा दी गई है[२]।

११. शासनचतुस्त्रिंशतिका : मदनकीर्ति अर्हद्दास—मदनकीर्ति वादीन्द्र विशालकीर्ति के शिष्य थे और बहुत विद्वान थे। इनकी 'शासन चतुस्त्रिंशतिका' नाम की छोटी-सी रचना है जिसकी पद्य सख्या ३५ है। जो एक प्रकार से तीर्थ क्षेत्रों का स्तवन है, उनमे पोदनपुर के बाहुबली, श्रीपुर के पार्श्वनाथ शख जिनेश्वर, धारा के पार्श्व जिन, दक्षिण के गोम्मट जिन, नागद्रह जिन मेदपार (मेवाड़) के, नागफणि ग्राम के मल्लिजिनेश्वर, मालवा के मगलपुर के अभिनन्दन जिन, पुष्पपुर (पटना) के पुष्पदन्त, पश्चिम समुद्र के चन्द्रप्रभ जिन, नर्मदा नदी के जल से अभिषिक्त शान्तिजिन, पावापुर के वीर जिन, गिरनार के नेमिनाथ, चम्पा के वासुपूज्य, आदि तीर्थों का स्तवन किया गया है। स्तवनों मे अनेक ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख अंकित है और उनके प्रत्येक पद्य के अन्तिम चरण में 'दिग्वाससां शासनम्' वाक्य द्वारा दिगंबर शासन का जयघोष किया है[३]।

१२. शान्तिनाथ स्तोत्र : भट्टारक पद्मनन्दि—१५वी शताब्दी के मुनि पद्मनन्दी भट्टारक प्रभाचन्द्र के पट्टधर विद्वान थे[४]। इनकी जाति ब्राह्मण थी। इनके पट्ट पर प्रतिष्ठित होने का समय पट्टावली में संवत् १३८५ पौष शुक्ला बतलाया गया है। वे उस पट्ट पर सवत् १४७३ तक आसीन रहे। भट्टारक शुभचन्द इनके शिष्य थे। पद्मनन्दी की अनेक रचनायें हैं। जिनमे शान्तिनाथ स्तोत्र प्रमुख है। इस स्तोत्र मे देवपूजा, गुरु तथा सिद्धपूजा का उल्लेख है[५]।

१३. शान्तिनाथ स्तुति : ब्रह्म श्रुतसागर—ब्रह्म श्रुत सागर मूलसघ सरस्वती गच्छ और बलात्कारगण के विद्वान थे। इनके गुरु का नाम विद्यानन्दी था जो भट्टारक पद्मनन्दी के प्रशिष्य और देवेन्द्रकीर्ति के बाद ये सूरत के पट्ट पर आसीन हुए थे[६]।

ब्रह्म श्रुत सागर ने अपनी रचनाओं मे उनका रचनाकाल नही दिया, जिससे यह निश्चित नहीं है कि उन्होंने ग्रन्थों की रचना किस क्रम से की है। परन्तु यह निश्चित कहा जा सकता है कि वे विक्रम की १६वी शती के विद्वान है। इनके गुरु भट्टारक विद्यानन्दी के वि० सं० १४९९ से १५२३ तक ऐसे मूर्तिलेख पाये जाते हैं जिनकी प्रतिष्ठा भट्टारक विद्यानन्दी ने स्वय की है। इससे स्पष्ट है कि विद्यानन्दी के प्रिय शिष्य ब्रह्मश्रुतसागर का भी यही समय है[७]।

ब्रह्मश्रुत सागर द्वारा रचित 'शान्तिनाथ स्तुति' में

नो पद्य हैं यह स्तवन 'अनेकान्त' वर्ष १२ किरण ६ पृष्ठ २५१ में मुद्रित हुआ है।

१४. शान्तिनाथ पुराण : कवि शाह ठाकुर—खंडेलवाल जाति और लुहाड़िया गोत्र के देव शास्त्र, गुरु भक्त, विद्या विनोदी विद्वान थे। मूल संघ सरस्वती गच्छ के भट्टारक प्रभाचन्द्र, पद्मनन्दी, शुभचन्द्र, जिनचन्द्र, प्रभाचन्द्र चन्द्रकीर्ति और विशालकीर्ति के शिष्य थे[८]।

कवि ने 'शान्तिनाथ पुराण' ग्रन्थ की रचना की, जो अपभ्रंश भाषा की रचना है। इसमे पाँच सन्धियाँ हैं। कवि ने उनमें शान्तिनाथ का जीवन परिचय अंकित किया है। जो चक्रवर्ती कामदेव और तीर्थङ्कर थे। कवि ने यह विक्रम सवत् १६५२ भाद्र शुक्ला पंचमी के दिन चकत्ता वंश जलालुद्दीन अकबर बादशाह के शासनकाल में, ढूढा-हड़ देश के कच्छप वंशी राजा मानसिंह के राज्य में लुवाइणपुर में समाप्त किया। उस समय मानसिंह की राजधानी आमेर थी[९]।

१५. शान्तिनाथ पुराण : भट्टारक श्री भूषण—यह काष्ठा संघ नन्दि, तटगच्छ और विद्यागण में प्रसिद्ध होने वाले रामसेन, नेमिसेन, लक्ष्मीसेन, धर्मसेन, विमल-सेन, विशालकीर्ति और विश्वसेन आदि भट्टारकों की परम्परा में होने वाले भट्टारक विद्याभूषण के पट्टधर थे[१०]।

भट्टारक श्री भूषण ने 'शान्तिनाथ पुराण' में भगवान् शान्तिनाथ का जीवन अंकित किया है जिसकी पद्य संख्या ४०२५ बतलाई गई है। प्रशस्ति में कवि ने अपनी पट्ट परम्परा के भट्टारकों का उल्लेख किया है। कवि श्री भूषण ने इस ग्रन्थ को संवत् १६५९ में मृगशिरा के महीने की त्रयोदशी को सौजित्र में नेमिनाथ के समीप पूरा किया है[११]।

इसके अतिरिक्त शान्तिनाथ विषयक अन्य रचनाएँ, ज्ञानसागर (संवत् ६५१७) अचेलगच्छ के उदय सागर (ग्रंथाग्र ७२००) वत्सराज (हीरा० हस० जामनगर १९१४ प्रकाशित) हर्ष भूषण गणि, कनकप्रभ ग्रन्थाग्र ४८५) रत्नशेखर सूरि (ग्रन्थाग्र ७०००) भट्टारक शान्तिकीर्ति, गुणसेन, ब्रह्मदेव, ब्रह्म जयसागर और अजितप्रभ सूरि की मिलती है[१२]।

धर्मचन्द्र गणि ने 'शान्तिनाथ राज्याभिषेक' और हर्षप्रमोद के शिष्य आनन्दप्रमोद ने 'शान्तिनाथ विवाह' नामक रचनाएँ भी लिखी हैं। मेघविजय गणि (१८वीं शती) का शांतिनाथ चरित काव्य उपलब्ध है जो नैषधीय चरित के पादों के आधार पर शान्तिनाथ का जीवन चरित प्रस्तुत करना है[१३]।

महाकवि असग की अन्य कृति 'लघु शान्तिनाथ पुराण' भी मिलती है जिसमें १२ सर्ग है। यह लगता है कि कवि के १६ सर्गात्मक शान्तिपुराण का लघुरूप है[१४]।

सन्दर्भ

१. निज रत्न कोश—पृष्ठ ३१९।

२. जैन साहित्य का वृहत् इतिहास भाग ६, पृ. ११०।

३. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास भाग २, पृ. ४०४।

४. श्री मत्प्रभाचन्द्र मुनीन्द्र पट्टे,
शश्वत प्रतिष्ठा प्रतिभागरिष्ठः।
विशुद्ध सिद्धांत रहस्य रत्नरत्नाकरानन्दतु पद्मनंदी॥
—शुभचन्द्र पट्टावली

५. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास भाग २, पृ. ५०८-५०९

६. मल्लिभूषण के द्वारा प्रतिष्ठित पद्मावती की सवत् १५४४ की एक मूर्ति जो सूरत के बड़े मन्दिर मे विराजमान है।

७. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास भाग 2, पृ. ५३७।

८. वही—पृ० ५३९।

९. वही—पृ० ५३९।

१०. शान्तिनाथ पुराण : श्री भूषण (कवि प्रशस्ति पद्य ४६२-४६३)।

११. जिन रत्नकोश पृ० ३८०-३८१।

१२. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास पृ. ११० भाग ६।

१३. जिन रत्नकोश पृ० ३३६।

"बिना सुगंधि फूल का मूल्य नहीं"

□ श्री प्रेमचन्द जैन

सुन्दर से सुन्दर पुष्प को मनुष्य देखता है, तोड़ता है, फेंक देता हैं। अगर उसमे सुगन्धि हो तो जितनी अधिक खुशबू होगी उतना अधिक प्यार पुष्प को मिलता है. उसी प्रकार हमारे जीवन में चातुर्य, रूप, धन, ऐश्वर्य सब होने पर भी आन्तरिक प्यार नही मिलता, अगर स्वयं में चरित्र की सुगन्धि न हो। आज भी महाव्रती साधु को संसार मस्तक झुकाकर नमन करता है, चरित्रहीन दोषी मनुष्य घृणा का पात्र बनता है चाहे वह राजा भी क्यों न हो।

"राजा पुजे राज्य मे, पण्डित पुजे जहान।"

धन, बल, वैभव के मद में चूर मदोन्मत्त मनुष्य को भय व लाभ के कारण, उसमे आश्रय प्राप्त जन ऊपरी सम्मान भले ही प्रदर्शित करते हों मगर अन्दर से उसके प्रति घृणा का भाव ही रहता है। स्वार्थवश उसका गुणगान भले ही करे मगर फिर भी अन्तरग में उसकी निन्दा ही करते हैं। उसे यहाँ भी आत्मीय सम्मान प्राप्त नहीं होता, मरकर भी सुगति प्राप्त न कर पाप की भट्टी में ही जलता है। नरक की यातना भोगनी पड़ती है। क्रोध, मान, माया, लोभ से रहित विवेकवान श्रावक का छोटे-बड़े सभी जनमानस आदर व प्रशंसा करते हैं और उसके सद्गुणों से शिक्षा लेकर उसी मार्ग पर अग्रसर होते हैं।

"ज्ञानी मगन विषय सुखमाहीं, ये विपरीत सम्भवे नाहीं।"

फिर भी न जाने क्यो मोह के वशीभूत ये प्राणी मदांध होकर उन्मत्त की भांति क्रियाएँ करता है, भोगो में लिप्त होकर अपने को महान प्रदर्शित करने का छल करता है, दानवीर का मुखौटा लगाकर, लोभ कषाय से न बचकर उल्टा मानकषाय से ग्रसित होकर पथभ्रष्ट होता है। अपने रूप, फन, विद्या, कुल, सम्पदा के झूठे भ्रम में अपनी नेतागीरी, अपना प्रताप सिद्ध करने की वृथा चेष्टा करता है, जिसके परिणामस्वरूप सबके द्वारा घृणा का पात्र बनता है। ऊपर से उसकी प्रशंसा करने वाले भी उससे नफरत करते हैं, और उसके व्यवहार से अपने को सावधान रखते हैं।

जरा हम भी सोचें कि हम किस श्रेणी में आते हैं, हममें भी ये विकार छुपे तो नहीं हैं। क्या हम निष्कपट भाव से भगवान के दर्शन करके अपने में उन गुणों की झलक देखते हैं या देखने का प्रयास करते हैं, और वीतरागी बनकर आत्मकल्याण करते हैं।

"तुम निरखत-२ मुझको मिलीं, मेरी सम्पति आज
कहाँ चक्री की सम्पदा कहाँ स्वर्ग साम्राज्य।"

सोचें ! क्या हमने अपनी नाशवान सम्पत्ति का दूसरे के कल्याण में व्यय करके अपने को परिग्रह के पाप से मुक्त किया ? या अहंकार के वशीभूत होकर मानकषाय के पहाड़ पर चढ़कर, तापग्रसित होते रहे।

"होत तीन गति द्रव्य की दान, भोग और नाश,
दान भोग जो न करें, तो निश्चय होय विनाश।"

क्या हम शुद्ध प्रासुक, स्वास्थ्यवर्धक आहार ग्रहण करते हैं या मांसाहारी, शराबी, हीन चारित्र, दोषी व्यक्ति के सम्पर्क में आया भोजन खाते हैं या स्वयं इस दोषी प्रवृति मे लिप्त हैं।

"जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन।
जैसा पीये पानी, वैसी बोले वाणी॥"

झूठे दिखावे में, विवाह आदि के अवसर पर, धर्म का दिखावा करके दान के नाम पर अपार धन व्यय करके अपना बड़प्पन प्रदर्शित करते हैं या कभी दीन-दुखी पर, विपदाग्रस्त अबलाओं पर अन्तरग में करुणा उत्पन्न करके उनका कष्ट निवारण कर अन्तरंग शान्ति प्राप्त कर, मनुष्य जन्म सार्थक करते है।

क्या हमने किसी जीर्ण मन्दिर का जीर्णोद्धार, या दुःखी बेटी का विवाह सस्कार या साधनविहीन अभावग्रस्त भाई को प्यार से उसके कष्ट निवारण हेतु भी कुछ व्यय करके सन्तोष किया।

क्या हमने अपने नेतागीरी प्रदर्शित करने को, किसी पद की प्राप्ति के लिए, पाप के साधन अपना कर, प्राणी हिंसा, समाज का विघटन, राष्ट्र की हानि, विश्व का

(शेष पृ० २६ पर)

जो हमें पसन्द न आया

□ पद्मचन्द्र शास्त्री सं० 'अनेकान्त'

मासिक पत्रिका 'तीर्थंकर' अगस्त ६२ के अंक को हमने बड़े कराह मे पढा और कई पाठकों ने भी हमारा ध्यान इसमें छपी 'अनुत्तर योगी तीर्थंकर महावीर' (उपन्यास) के खण्ड ५ के लिए लिखित सामग्री की ओर खींचा। उन्होने कहा—इसकी अश्लीलता-पोषक भाषा का 'तीर्थंकर' जैसी पत्रिका मे प्रकाशन सर्वथा अयोग्य है। कइयो ने तो पत्रिका के अश्लील पेजों को ही फाड़ फेंका। नारी जाति के प्रति तो उनकी स्वाभाविक लज्जा को बेनकाब करना नारी-जाति के प्रति नारो जाति का घोर अपमान है। नारियो को इस प्रसंग से पीडा और घृणा हुई है। 'तीर्थंकर' के अगस्त ६२ के अंकमे छपी उक्त सामग्री श्वेताम्बर सम्प्रदाय से सबंधित है।

उक्त विषय को श्वेताम्बर सम्प्रदाय देखे कि तीर्थंकर में पृष्ठ ३० पर छपे भगवन् के कथनानुसार—क्या, महाशतक श्रमणोपासक रेवती का प्यार, आलिगन और चुम्बन पाने के लिए रत्नप्रभा पृथ्वी के लोलुच्चय नरक मे ८४,००० वर्ष तक रेवती की नारकीय यातना का सहभागी बना और रेवती ने वैतरणी के तट पर मिलकर उसे अपने चुम्बन और आलिगन से तार दिया या भगवान के वचन झूठे हुए ? जब कि गणधर श्री सुधर्मा जी ने 'उवासगदसाओ' सूत्र (आगम) में महाशतक के सौधर्म कल्प के अरुणावतसक विमान मे देव होने की बात कही है—नरक में जाने या चुम्बन आदि की बात नही कही। क्या स्वर्ग नरक मे कोई भेद नही ?

"तएणं से महासयए समणोवासए वहूहि सील जाव भावेत्ता बीसं बासाइ समणोवासग परियाय पाउणित्ता एक्कारस उवासग पडिमाओ सम्म काएण फासित्ता मासियाए सलेहणाए अप्पाणं झूसित्ता सट्ठि भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता आलोइय पडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे काल किच्चा सोहम्मे कप्पे अरुणव डिसए विमाणे देवत्ताए उववन्ने।"—७/८/२६६

आगमिक-प्रसंग से भाषा की कामोत्तेजक अश्लीलता भी विचारणीय बन रही है। भले ही कामी लोगों का मानना हो सकता है कि—"जब सिनेमा दूरदर्शन और वीडियो आदि अनेक तंत्र खुले रूप में व्यभिचार को सभ्याचार सिद्ध करने में लगे है, सरकार भी ब्रह्मचर्य का प्रचार न करके कामासक्ति-पूरक निरोध, माला और आप्रेशन आदि सेवन पर जोर दे व्यभिचार को सभ्याचार बनाने का मार्ग खोल रही है, तब यदि कोई उपन्यास लेखक अपने उपन्यास में किसी तथ्य के तल तक पहुचने का प्रयत्न करता है तो वह क्या बुरा करता है। विभिन्न स्रोतो से स्व-अनुभूत और अननुभूत को साक्षात् मे उपस्थित करना तो लेखक की सिद्ध-लेखन कला है। उसे सन्मान ही मिलना चाहिए।" पर हम किसी उपन्यास आदि को केन्द्र मानकर उस पर विचार करने मे अभ्यस्त नही। हम तो आगम-प्रसंग को आगमरूप में उपस्थित करने और धार्मिकता, नैतिकता-पोषक तंत्रो को श्लाघनीय स्थिति मे रखने के पक्षपाती हैं। हमें अश्लील-साहित्य से अरुचि है। यदि उक्त उपन्यास मे रेवती द्वारा प्रकट की गई, वात्स्यायन-कामसूत्र वर्णित जैसी घृणित कामचेष्टाएँ आगम-वर्णित हों तो उन्हें सन्मान देने, न देने पर विचार हो सकता हो। पर, हमने आगम मे ऐसा पढ़ा नही। वहाँ तो साधारण तौर पर अंकित है कि—

"काम के वश हुई वह रेवती गृहपत्नी अपने केशों को बखेर कर उत्तरीय (दुपट्टा) को उतार कर जहाँ पोषधशाला थी वहाँ महाशतक श्रमणोपासक के पास गई और मोह तथा उन्मादवर्धक स्त्री भावों को दिखाती हुई बोली—हे महाशतक श्रमणोपासक धर्म, पुण्य स्वर्ग, मोक्ष इच्छुक, धर्मकांक्षक, धर्मपिपासु, यदि तू मेरे साथ उदार विषयरूपी सुख नही भोगता है तो तुझे धर्म पुण्य, स्वर्ग मोक्ष से क्या लाभ होगा।"

"तए णं सा रेवई गाहावइणी मत्ता लुलिया विइण-केसी उत्तरिज्जयं विकड्ढमाणी २ जेणेव पोसहसाला जेणेव महासवए समणोवासए तेणेव उवागच्छइ, २ त्ता मोहुम्माय जणणाइं सिंगरिहाइं इत्थिभावाइं उवदंसेमाणी २ महासययं समणोवासयं एवं वयासी । 'हं भो महासयया समणोवासया, धम्मकामया पुण्णकामया सग्गकामया मोक्ख-कामया धम्मकंखिया ४, धम्मपिवासिया ४, किण्णं तुब्भं, देवाणुप्पिया धम्मेण वा पुण्णेण वा सग्गेण वा मोक्खेण वा जणं तुमं मए सद्धिं उरालाइ जाव भुंजमाणे नो विहरसि ?"

—२/८/२४६

हमारे आचार्यों ने नारियों के विषय मे वैराग्य उत्पन्न कराने हेतु वस्तुस्थिति दर्शाने निमित्त उनके निद्य अंगों का वर्णन मात्र किया है, जिसे परम्परित जैनाचार्यों द्वारा वैराग्य उत्पादन की दृष्टि से मान्य किया जाता रहा है उनमे कही भी खुले और वीभत्स रूप मे सभोग-चेष्टा को नही दर्शाया गया जैसा तीर्थंकर के उक्त अक मे । इसे पढकर तो विषयलोलुपियों को वैराग्य और महाशतक के दृढत्व के पाठ के स्थान पर सभोग के नए-नए आयाम ही मिलेंगे और उनकी कामोत्तेजना बढ़ने की ही अधिक सम्भावना है । यह सर्वथा ही सभ्योचित भाषा नही 'तीर्थंकर' का अपमान है ।

प्रारम्भ मे सपादक तीर्थंकर ने लिखा है—'खयाल रहे : यह वही उपन्यास है, जिसे लेकर आचार्य मुनि श्री विद्यानन्द जी ने कहा था—यह 'रामचरित-मानस' की तरह लोक-प्रिय होगा ।' आचार्य श्री तुलसी ने कहा था कि 'स्थायीमूल्य प्राप्त करेगा·········और पं० जगन्मोहन लाल शास्त्री ने इसमे 'जैन-मान्यताओं का पग-पग पर दर्शन किया ।'

सो हमें इसमें ऐतराज न होगा । यदि उक्त आचार्यों व मनीषियो की सम्मतियाँ (उक्त तीर्थंकर के मात्र पृष्ठ २४-२५ की ही) भाषा, भावभगिमा, चेष्टा आदि के प्रांजल होने की पुष्टि मे लिखकर मँगा, तीर्थङ्कर मे छाप दी जाँय—हम उन पर भी विचार करेगे ।

हमारी समझ से तो उक्त महामनीषी ही क्या ? कोई भी दिगम्बर, श्वेताम्बर साधु-साध्वी श्रावक और श्राविका आगम परिप्रेक्ष्य मे ही नही, अपितु साधारण रूप मे भी ऐसी सभोग चेष्टा दर्शक घृणित भाषा को कही, कभी भी प्रशस्त नही कहेंगे । क्या, उन्हे अपने निर्मल ब्रह्मचर्य में दोष लगाना है जो ऐसी महती भूल करे । हाँ, तीर्थङ्कर नामक जैसी पत्रिका मे इसका प्रकाशन लज्जास्पद और अकीर्ति का सूचक अवश्य है ।

इस उपन्यास के 'रामचरित-मानस' सम लोक-प्रिय होने की कल्पना 'मानस' का घोर अपमान करना होगा, कहाँ वह धार्मिक अपूर्व ग्रन्थ और कहाँ मिथ्या कल्पनाओं की अश्लील यह उडान ? इसमे जैन-मान्यताओं के पग-पग दर्शन होने की कल्पना भी भ्रान्त है । हाँ, यह अश्लील जगत मे स्थायी मूल्य प्राप्त करने की क्षमता रखता हो तो बात दूसरी है । पाठक उक्त 'तीर्थङ्कर' पढ़ें और विचारें ।

(पृ० २८ का शेषांश)

अकल्याण कर भयकर पाप का सचय तो नहीं कर लिया । जरा सोचें-विचारें, अपने भविष्य की चिंता करें कहीं ऐसा न हो "बासी टुकड़े खाते है, कल उपवास करेंगे" पूर्व सचित पुण्य से प्राप्त सामग्री का उपभोग कर आगामी जीवन मे पुण्य विहीन होकर विपदा और दरिद्रता का भार ढोने की तैयारी मे है । "जैसी करनी वैसी भरनी, निश्चय नही तो करकर देख ।"

हमारा कर्तव्य है कि समय रहते चेत जायें, झूठे प्रशसा के प्रपच मे अपने ऐश्वर्य, शक्ति को लुटाकर दरिद्री बनने की अपेक्षा, वीतराग जिनेन्द्र भगवान के मार्ग पर चलकर स्व व पर के कल्याण की ओर अग्रसर हो, पर की निन्दा, स्वयं की प्रशंसा से बचें । देव, शास्त्र, गुरु की विनय करे, अपनी नाशवान चचला लक्ष्मी को परोपकार विद्या प्रचार, शास्त्रों के उद्धार, समाज और राष्ट्र के हित मे व्यय कर, अपने चरित्र को समानतर वीरोचित, क्षत्रियोचित, दोषों का निवारण कर, उत्थान का मार्ग अपनाएँ व अपने को आदर्श बनाकर वीर प्रभु की संतान कहलाने का गौरव प्राप्त कर समाज व राष्ट्र का कल्याण करें । हम भी सुगन्धित पुष्प को अपनी सुगन्ध फैलाकर विश्व को सुगन्धित करें, प्रभु हमे सन्मति प्रदान करें ।

—भगवान महावीर अहिंसा केन्द्र
अहिंसा स्थल, महरौली

विचारणार्थ :

दिल की बात दिल से कहो—और रो लिए !

□ पद्मचन्द्र शास्त्री सं० अनेकान्त

१. हम कोरी चर्चा नहीं, चिन्तन चाहते हैं :

सम्यग्दर्शन, आत्मदर्शन और आत्मानुभव की चर्चा मात्र मे जैसा सुख है वैसा सुख और कहाँ ? इस चर्चा मे बोलने या सुनने के सिवाय अन्य कुछ करना-धरना नही होता। बोलने वाला बोलता है और सुनने वाला सुनता है—लेना देना कुछ नही। भला, भव्य होने का इससे सरल और सबल प्रमाण अन्य क्या हो सकता है जहां आत्मा दिख जाय और जिसमे परिग्रह-संचय तो हो और तप-त्याग और चारित्र-धारण करने जैसा अन्य कोई व्यायाम न करना पड़े और स्व-समय में आने के लिए कुन्दकुन्द के बताए मार्ग—'चरित्तदसणणाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण'—से भी छुटकारा मिला रहे—यानी मात्र सम्यग्दर्शन मे ही स्व-समय सिमिट बैठे। ठीक ही है—'तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता। निश्चितं स भवेद्भव्यः भाविनिर्वाण भाजनम्।'—का इससे सरल और सीधा क्या उपयोग होगा ?

गत अंक में हमने स्व-समय और पर-समय के अन्तर्गत आचार्य कुन्दकुन्द के 'पुग्गलकम्मपदेसट्ठिय च जाण पर-समयं' इस मूल को उद्धृत करते हुए लिखा था कि 'जब तक यह जीव आत्मगुणघातक (घातिया) पौद्गलिक द्रव्य-कर्मप्रदेशो में स्थित है—उनसे बँधा है, तब तक यह जीव पूर्णकाल पर-समयरूप है। मोह-क्षय के बाद केवलज्ञानी मे ही स्व-समय जैसा व्यपदेश किया जा सकता है और वह अवस्था चारित्र के धारण किये बिना नही होती।'

उक्त गाथा के 'कम्मपदेसट्ठिय' शब्द से घातिया कर्म प्रदेशों से बंध को प्राप्त—उनमें स्थित ऐसा अर्थ लेना चाहिए मात्र उपयोग के लगाने जैसा अर्थ ही नहीं लेना चाहिए। क्योंकि स्थूल रीति से उपयोग के बारह भेद हैं—चार दर्शनोपयोग और आठ ज्ञानोपयोग। इन बारह उपयोगों में से केवलदर्शनोपयोग और केवलज्ञानोपयोग ये दो ही ऐसे हैं जिनकी प्रदेशो मे गति है—छद्मस्थ के शेष सभी उपयोग प्रदेश ग्राहक नही। एतावता प्रसग में 'पदेस' शब्द की सार्थकता समझ—पर मे उपयोग लगाने वाला मात्र, पर-समय है ऐसा अर्थ न लेकर 'कर्मप्रदेशो मे बधे आत्मा को पर-समय कहा है, ऐसा अर्थ लेना चाहिए। यह बात दूसरी है कि पर से उपयोग हटाना क्रमश: मोक्ष-मार्ग है।

रयणसार गाथा १४० मे स्पष्ट कहा है कि बहिरात्मा और अन्तरात्मा दोनों पर-समय हैं और परम-आत्मा स्व-समय है—'बहिरंतरप्पभेयं पर समयं भण्णए जिणिदेंहि। परमप्पो सगसमय तब्भेयं जाण गुणठाणे॥' इसी को पंचास्तिकाय मे ऐसे कहा है—'जीवो सहावणियदो अणियदगुण पज्जओध पर-समओ॥१५५॥ उक्त दोनो उद्धरण मान्य आचार्य के है। यदि जीव गुण और पर्याय दोनों में नियत नही—अनियत है तब भी वह पर-समय ही है। आज जो लोग मात्र गुणों की बात कर पर्याय को स्वभाव न मान उसका तिरस्कार करने का उपदेश दे रहे है क्या वे 'गुणपर्ययवद्द्रव्यं' को झुठला नही रहे ? क्या, यह सम्भव और जैन को मान्य है कि केवल गुण ही द्रव्य हो और पर्याय का लोप हो जाय ? यदि उनकी मान्यता इकतर्फा है तो हमें 'पज्जयमूढो हि पर-समओ' का अर्थ भी यही इष्ट होगा कि जो पर्याय के विषय में मूढ़ है—उसको नहीं जानता—सही नहीं मानता, वह पर-समय है। यदि पर्याय सर्वथा विनाशीक है तो 'सिद्ध' भी तो एक पर्याय है। क्या, किसी जैन को यह मान्य होगा कि वह पर्याय भी नाश हो जाती है ? फिर कोरा निश्चय वालो को तो यह भी सोचना होगा कि निश्चय से शुद्ध मे (सर्वथा असम्भव) अशुद्ध पर्याय कैसे सम्भव हुई जो उससे मुक्ति का मार्ग बताने का मिथ्या चलन चल पड़ा ? क्या, यह

सब चलन लोगों को कोरी चर्चाओं मे फँसा कर, खाओ-पिओ और मौज करो जैसा नही ?

ऐसे ही जब हम आत्मानुभव पर विचार करते हैं तब हमारे चिंतन मे सम्यग्दर्शन के दो भेद आते है—सराग-सम्यग्दर्शन और वीतराग सम्यग्दर्शन । विचार आता है कि जिन सम्यग्दृष्टी जीवों को आत्मानुभव होता है उनके उक्त दोनों मे से कौन-सा सम्यग्दर्शन होता है ? रागी में सम्यग्दर्शन हो इसमे तो बाधा नही पर, रागी के आत्मानुभव हो यह नही जँचता । (आज तो रागी भी आत्मानुभव होना कहते है) प्रश्न होता है कि यदि रागी को आत्मानुभव होता है तो वह अखण्ड आत्मा के किसी खण्ड का या अखण्ड आत्मा का ? अखण्ड का खण्ड हो नही सकता । आत्मा के टुकड़े मानना पड़ेगे, जो उनको इष्ट नही । हाँ, अखण्ड आत्मा का अनुभव होता हो तब बात दूसरी । भला, जब ससारी राग अवस्था मे ही सम्पूर्ण आत्मा का अनुभव होने लगे तब कौन मूढ़ होगा जो मोक्ष के लिए चारित्र धारण का कष्ट उठायेगा । घर में रहो, परिग्रह इकट्ठा करो, मजा-मौज करो और आत्मानुभव का आनद लो । शायद आज मात्र सम्यग्दर्शन आत्मानुभव हो जाना जैसे प्रचार का लक्ष्य भी यही है कुन्दाकुन्दाचार्य 'चरित्तदसणणाणट्ठिउ' मे चारित्र आदि तीनो मे स्थिति को स्व-समय कह रहे हैं और लोग अब सम्यग्दर्शन मात्र मे आत्मानुभव हो जाने का उपदेश दे रहे है ।

जो लोग ध्यान से आत्मानुभव का बतलाते है वे सोचे कि चारो ध्यानो मे से किस ध्यान से आत्मानुभव होता है । धर्म ध्यान के तो सभी भेद विकल्पात्मक हैं सो क्या विकल्पात्मक से निर्विकल्प आत्मरूप का अनुभव सम्भव है । शुक्ल ध्यानो मे आदि के दो ध्यान श्रुतकेवली के होते है । क्या छद्मस्थ मे अन्त के दो शुक्ल ध्यान सम्भव है जो अरूपी आत्मा का अनुभव करा सकें । फिर ये भी सोचें कि आत्मानुभव प्रत्यक्ष हो या परोक्ष ? इन्द्रियाधीन होने से परोक्ष ज्ञान की तो वहां होना सम्भव ही नही । आत्म-प्रत्यक्ष तो केवल ज्ञान मात्र का विषय है ऐसे मे आत्मानुभव होना छद्मस्थ मे कैसे माना जाने लगा ? फिर आत्मानुभव तो चारित्र का विषय है ।

दर-असल बात ऐसी होनी चाहिए कि सम्यग्दृष्टी को जो अनुभव होता हैं वह आत्मानुभव नहीं, अपितु वह अनुभव, मात्र तत्त्वार्थ श्रद्धान से उत्पन्न स्व-पर भेद विज्ञान (होने) रूप होता है—सम्यग्दृष्टि भिन्न-भिन्न तत्त्वों में आपा या एकत्वरूप श्रद्धान नहीं करता यही उसका तत्त्वानुभवरूप श्रद्धान सम्यग्दर्शन है और इसी के सहारे वह आगे बढता है । इसे आत्मानुभव के नाम से प्रचारित करने से तो मोक्षमार्ग और चारित्र धारण का सफाया ही होता जा रहा है—घर मे ही आत्मा दिख जाय तो चारित्र की आवश्यकता ही कहाँ ? जैसा कि अब हो रहा है ।

एक बात और ! स्मरण रहे कि जैनेतर ग्रन्थ 'मनुस्मृति' के छठवें अध्याय मे सम्यग्दर्शन की महिमा में एक श्लोक आया है—'सम्यग्दर्शन सम्पन्नः कर्मभिर्ननिबध्यते । दर्शनेनविहीनस्तु ससार प्रतिपद्यते ॥७४॥' इसमें सम्यग्दर्शन का अर्थ 'ब्रह्मसाक्षात्कारवान्' किया है और हिन्दुओं की श्रुति भी है—'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे'—फलतः ब्रह्म-साक्षात्कार उनकी दृष्टि से ठीक हो सकता है । क्योकि वहां ब्रह्म को सर्वव्यापक और प्राणी को ब्रह्म का अंश स्वीकार किया गया है—वहाँ ब्रह्म अखण्ड होते हुए भी खण्डो में बँटा है और ब्रह्म का अंश होने व ब्रह्म के खण्डों मे बँटा होने से जीव को ब्रह्म का साक्षात्कार हो सकना सम्भव है पर, जैनियो में तो अरूपी और अखण्ड आत्मा का साक्षात्कार या अनुभव केवलज्ञान गम्य ही है। इसे विचारें, हमे कोई आग्रह नही । हम तो जैनियो मे प्रचारित की जाने वाली—छद्मस्थ में आत्मानुभव होने की बात को अजैनो की देन होने पर विचार कर रहे है ।

२. उभय-परिग्रह का त्याग आवश्यक :

संसारी जीव की अनादि कालीन प्रवृत्ति बहिर्मुखी है—वह बाह्य पदार्थों की ओर दौड़ रहा है—उनमे मोहित हो रहा है। फलतः—उसका संसार (भ्रमण) बढता जा रहा है । जब यह अपने स्वरूप को पहिचाने—बहिर्मुखपने को त्याग कर अन्तर्मुख हो—अपने में झांके और शुद्ध-अशुद्ध पर्यायो को निश्चय-व्यवहार दोनों नयों

मे तोले तब इसका उद्धार सम्भव हो—कोरे एक नय को सम्यक् और दूसरे को असम्यक् मानना भ्रान्ति है। नय दोनों ही अपनी-अपनी अपेक्षा लिए सम्यक् हैं यदि सम्यक् नहीं तो नय ही नहीं—कुनय है। अन्तर्मुख और बहिर्मुख की पुष्टि को लोग कछुए के दृष्टान्त से करते हैं। अर्थात् जब तक कछुआ अपना मुख बाहर निकाले रहता है तब तक उसे कौवों की चोचों के प्रहार का भय रहता है और जब अपने को खोल में समेट लेता है तब उसे कौओ का भय नही रहता। ठीक ऐसे ही जब यह जीव अपनी प्रवृत्ति बाह्य (जो अपने नही हैं, उन) में करता है तब उन पदार्थों के संयोग-वियोग मे सुखी-दुखी जैसी दोनों अवस्थाओं में झूलता है और जब बाह्य को छोड अपने मे आ जाता है तब स्वभाव में होने से इसकी झूलन मिट जाती है—सुखी हो जाता है। अतः बहिर्मुखपन को छोड़ अन्तर्मुख होने का प्रयत्न करना चाहिए।

हमने देखा है, सुना है कि कई लोग अन्तर्मुख होने की प्रेरणा देते हैं, पर बहिर्मुखता से मुड़ने को मुख्यता नही देते। उनका ऐसा करना गलत है। मानो, जैसे आप कमरे के बाहर खड़े है और आपको भीतर आना है तो क्या, आप बाहर को बिना छोड़े भीतर प्रवेश पा सकेंगे ? कदापि नहीं। प्रवेश तभी सम्भव है जब बाहर का छूटना और अन्दर का आना दोनो साथ साथ चलें। जितना बाहर छूटता जायगा उतना अन्दर नजदीक आता जाएगा। प्रसंग मे बाहर छोड़ने का अर्थ भी मोह को छोड़ना है। और जब बाह्य से मोह छूटेगा तब अन्दर सहज में आता जाएगा। और इस अन्दर आने की पहिचान का पैमाना होगा बाहर का छूट जाना। ऐसा होना सम्भव नही कि कोई अन्दर होकर भी बाहर का जोडता रहे। जिसकी बाहर की जोडने की तमन्ना प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो और वह कहे कि मैं भीतर झांक रहा हूं—सर्वथा धोका है। हाँ, यह भी ठीक है कि बाहर की क्रिया होने पर भी यदा-कदा अंतरंग भाव निर्मल न भी हो। इसीलिए तो कहा है—'बाहर-भीतर एक।'

परिग्रह के बाह्य और अंतरंग भेद ही इसीलिए किये हैं कि दोनों का त्याग किया जाय। यदि अन्तरंग भाव मात्र ही परिग्रह होता तो वे बाह्य को परिग्रह न कहते और न बाह्य दिगम्बरत्व का निर्देश देते। फलतः—फलित है कि मोह का अभाव करना चाहिए पर, यह भी सम्भव नही कि बाह्य दिगम्बरत्व के बिना मुक्ति हो। आप यह तो कहते हैं—'भरत जी घर ही मे वैरागी' पर, आप यह नही कहते कि भरत महाराज छह खण्डों के भोग भोगते वैरागी भाव मात्र से—बिना दिगम्बर वेष धारण के ही मुक्ति पा गए। कहते यही है कि—उभय परिग्रह त्याग से ही मुक्ति होती है। बहिर्मुख से मुह मोड़े बिना अन्तर्मुख होने जैसी बात कोरा स्वप्न है। अतः दोनो की साथ-साथ संभाल करनी चाहिए। खेद है कि लोग बाह्य को छोड़े बिना अन्तर्मुख के स्वप्न देखने में लगे हैं।

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण।
पुग्गलकम्मपदेसट्ठियं दु जाण पर-समयं ॥स० सार २॥

बहिरंतरप्पभेयं पर-समयं भण्णए जिणिदेहिं।
परमप्पो सग-समयं तब्भेयं जाण गुणठाणे ॥रयण० १४०॥

संचयित-ज्ञानकण

—पर-पदार्थ के साथ यावत् संबंध है तावत् ही संसार है। अपनी भूल ही से तो यह जगत् है। भूल मिटाना धर्म है।

—हमारी तो सम्मति यह है जो ऐसा अभ्यास करो जो यह बाह्य पदार्थ ज्ञेयरूप ही प्रतिभासे। अन्य की कथा तो छोड़ो, जिसने मोक्ष मार्ग दिखाया है वह भी ज्ञेय रूप से ज्ञान में आवे।

—परिग्रह लेने में दुःख, देने में दुःख, भोगने में दुःख, रक्षा में दुःख, धरने में दुःख, रुलने में दुःख। धिक् इस दुःखमय परिग्रह को।

—कर्म की गति विचित्र है यह मानना ठीक नहीं। यह सब विकारी आत्मद्रव्य का ही विकार है। स्व-परिणामों द्वारा अर्जित संसार को पर का बताना महान् अन्याय है।

—संसार का अन्त करने के लिए आत्मद्रव्य को पृथक् करने की चेष्टा करनी ही उचित है।

—संकल्प विकल्प की परम्परा ही तो हमें जगत् में भ्रमण करा रही है। जब तक इसका प्रभुत्व रहेगा, हमें इनकी प्रजा होकर ही निर्वाह करना होगा।

—विश्व की अशान्ति देख अशान्त न होना। यहाँ यही होता है। लवण सर्वाङ्ग क्षारमय होता है।

—जहाँ राग है वहीं रोग है। उन महापुरुषों का समागम करो जिनका राग-द्वेष कम हो गया है।

—निरन्तर राग-द्वेष की परिणति दूर करने में प्रयत्नशील रहो। लोभी-त्यागी से निर्लोभगृहस्थ अच्छा है।

—उदय काल में अज्ञानी के राग-बुद्धि होती है और ज्ञानी के विराग-बुद्धि होती है।

—ज्ञानी के इच्छा नहीं है सोई निष्परिग्रही है—उदय आए कूं अनासक्त भया भोगे हैं।

—ज्ञानियों के वचन

(सौजन्य : श्री शान्तीलाल जैन कागजी)

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो। पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते।

कागज प्राप्ति :—श्रीमती अंगूरी देवी जैन, धर्मपत्नी श्री शान्तिलाल जैन कागजी, नई दिल्ली-२ के सौजन्य से

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५ ००

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द।

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : स० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४

Basic Tenents of Jainijm : By Shri Dashrath Jain Advocate.

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol.

Volume I contains 1 to 1044 pages, volume II contains 1045 to 1918 pages size crown octavo.

Huge cost is involved in its publication. But in order to provide it to each library, its library edition is made available only in 600/- for one set of 2 volume. 600-00

सम्पादन परामर्शदाता : श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३

प्रिन्टेड
पत्रिका बुक-पैकिट